



ISSN- ०९७६-८०१७ & UGC Care listed (No. १११)

गुरुकुल-पत्रिका

(प्राच्यविद्याओं की त्रैमासिकी मूल्याङ्कित शोध-पत्रिका)

अङ्क ७३/४ एवं ७४/१ (संयुक्ताङ्क)

अप्रैल - सितम्बर, २०२२



सम्पादक

प्रो० (डॉ०) विनय कुमार विद्यालङ्कार

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

संकायाध्यक्ष, शिक्षा एवं प्रशिक्षण संकाय

दूरभाष - ७९०६७२५६८८, ९४१२०४२४३०

E-Mail : gurukulpatrika@gkv.ac.in

गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार - २४९४०४

संस्थापक
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
The Founder of
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya



स्वामी श्रद्धानन्द जी
Swami Shradhdhanand Ji
(1856-1926)

गुरुकुल-पत्रिका में शोध पत्रों के प्रकाशनार्थ नियम एवं निर्देश

गुरुकुल पत्रिका का प्रकाशन गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार द्वारा सन् १९४८ से निरन्तर हो रहा है। यह शोध पत्रिका वेद, संस्कृत, दर्शन, धर्म, संस्कृति, आयुर्वेद, सिद्धान्त ज्योतिष, प्राचीन भारतीय इतिहास आदि प्राच्य-विद्याओं में निहित ज्ञान-विज्ञान को अनावृत्त करने वाली है। इस पत्रिका में उपर्युक्त विषयों से सम्बन्धित शोध-पत्र ही संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषाओं में स्वीकार्य होंगे।

१. गुरुकुल पत्रिका में शोध लेख मूल्याङ्कन के पश्चात् ही प्रकाशित किए जाते हैं। अतः विद्वान् / विदुषी लेखक / लेखिकाओं से अपेक्षा की जाती है कि वे शोध-प्रविधि पर आधारित मानकानुरूप शोध-लेखों को ही इस शोध पत्रिका में प्रकाशनार्थ प्रेषित करें।
२. गुरुकुल पत्रिका में मौलिक शोध लेखों का ही प्रकाशन सम्भव है। अतः मौलिक शोध लेखों को ही प्रेषित करें और इस सम्बन्ध में विश्वविद्यालय की Site पर जाकर गुरुकुल पत्रिका के Download Section पर जाकर प्रमाणपत्र के प्रारूप को भरकर प्रस्तुत करना भी सुनिश्चित करें।
३. शोध पत्र में लेखक का निष्कर्ष मौलिक सुसंगत, प्रामाणिक एवं तथ्यों पर आधारित परम्परा से पोषित होना चाहिए, साथ ही उसमें अपने कथन अथवा निष्कर्ष की सम्पुष्टि करने के लिए न्यूनतम २० प्रमाण देना आवश्यक है।
४. इस शोधपत्रिका में अन्धविश्वास, मतवाद, पाखण्ड आदि को पोषित करने अथवा बढ़ावा देने वाले शोध-पत्रों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
५. शोध पत्र लेखकों से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे अपने शोध पत्र MS Word File में Unicode font में type कराएँ और पाद-टिप्पणियों (Footnote) के लिए Superscript का प्रयोग न करें, उसे ctrl+alt+F के माध्यम से डालें। इस प्रकार Footnote डालने में त्रुटि की सम्भावना नहीं होगी।
६. देवनागरी लिपि में टंकण करते समय यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि शीर्षक Unicode Font Size १६, लेखक के नाम का १५ एवं लेख का Font Size १४ तथा Footnote का Font Size १२ होना चाहिए।
७. यूनिकोड फॉण्ट में संख्या स्वाभाविक रूपेण जिस भी रूप में आ रही है कृपया उसी का प्रयोग करें। यथा- 1, 2, 3, 4, को १, २, ३, ४ आदि देवनागरी में न करें।
८. अंग्रेजी भाषा के शोध पत्र Times New Roman में Title १४, Name & Text १२ एवं Footnote ९ में ही होने चाहिए।
९. अपना शोध पत्र उपर्युक्त साइज में टाइप करके ही गुरुकुल पत्रिका की दी हुई Email- gurukulpatrika@gkv.ac.in पर ही प्रेषित करें।
१०. किसी भी शोध पत्र के Copyright का अधिकार गुरुकुलपत्रिका के पास सुरक्षित रहेगा।
११. आपके द्वारा प्रेषित शोध पत्र टाइप किए हुए १० पृष्ठ से अधिक किसी दशा में न हो।

सदस्यता शुल्क (subscription charges) -

वार्षिक- १००० रुपये, त्रिवर्षीय-२००० रुपये तथा पञ्चवर्षीय- ३००० रुपये।

विश्वविद्यालय के श्री स्वामी श्रद्धानन्द प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन-

<u>पुस्तक का नाम</u>	<u>पुस्तक का मूल्य</u>
अथर्ववेदभाष्यम् दो खण्ड	- 1200/-
यजुर्वेदभाष्यम् तीन खण्ड	- 1240/-
ऋग्वेदभाष्यम् दस खण्ड	- 5300/-
ऋषि रहस्य	- 300 /-
पञ्च महायज्ञ एवं पर्व प्रदीप	- 51/-
वैदिक सिद्धान्त परिचयावली	- 52/-
वैदिक सिद्धान्त परिचयावली (अंग्रेजी में)	- 52 /-
भातर वर्ष का इतिहास तीन खण्ड	- 1200 /-
वेदोद्यान के चुने हुए फूल	- 230 /-
मेरे पिता	- 180/-
क्लासिक राइटिंग ऑन वैदिक लिट्रेचर	- 800/-
शोध सारावली	- 220/-
दीक्षालोक	- 500/-
वैदिक स्वप्न-विज्ञान	- 300/-
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयम्	- 90/-
वेद विमर्श	- 300/-
गुरुकुल के आचार्यों की परम्परा	- 425/-

सूचना: उक्त समस्त साहित्य 50 प्रतिशत की छूट पर उपलब्ध है।

विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित शोध-पत्रिकाओं का विवरण निम्न प्रकार से है।

गुरुकुल पत्रिका	- वार्षिक शुल्क- 1000/-
वैदिक वाग् ज्योति	

**नोट: ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय)
के नाम से ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती हैं।**

पुस्तकें मंगाने का पता: पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय) , हरिद्वार-249404 (उत्तराखण्ड)

मुद्रक : किरण ऑफसेट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975

ISSN- 0976-2017 & UGC Care listed (No. 111)

गुरुकुल-पत्रिका

(प्राच्यविद्याओं की त्रैमासिकी मूल्याङ्कित शोध-पत्रिका)

अङ्क ७३/४ एवं ७४/१ (संयुक्ताङ्क)

अप्रैल - सितम्बर, २०२२



सम्पादक

प्रो० (डॉ०) विनय कुमार विद्यालङ्कार

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

संकायाध्यक्ष, शिक्षा एवं प्रशिक्षण संकाय

दूरभाष - ७९०६७२५६८८, ९४१२०४२४३०

E-Mail : gurukulpatrika@gkv.ac.in

गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार - २४९४०४

सम्पादक-मण्डल

संरक्षक (Patron)

१. डॉ० सत्यपाल सिंह, कुलाधिपति, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार, वर्तमान सांसद व पूर्व केन्द्रीय राज्य मन्त्री, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार
२. प्रो० (डॉ०) सोमदेव शतांशु, कुलपति, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

सम्पादक (Editor)

डॉ० विनय कुमार विद्यालङ्कार, प्रोफेसर संस्कृत विभाग; संकायाध्यक्ष, शिक्षा एवं प्रशिक्षण संकाय गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

सह-सम्पादक मण्डल (Co-editors)

१. डॉ० दिलीप कुमार कुशवाहा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार।
२. डॉ० मौहर सिंह मीणा, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार।
३. डॉ० दीनदयाल वेदालङ्कार, वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार।
४. डॉ० बबलू वेदालङ्कार, दर्शनशास्त्र विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार।
५. डॉ० वेदव्रत, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार।

परामर्शदातृ-मण्डल (Advisory board)

१. डॉ० महावीर अग्रवाल, पूर्व कुलपति, उ.सं.वि.वि. हरिद्वार, राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित एवं पूर्व प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार
२. डॉ० वेदपाल आचार्य, पूर्व प्रोफेसर, सम्पादक- प्राच्यविद्या अनुसन्धानम् एवं परोपकारी पत्रिका
३. डॉ० ब्रह्मदेव विद्यालङ्कार, संकायाध्यक्ष, प्राच्यविद्या संकाय, विभागाध्यक्ष एवं प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार
४. प्रो० वीरेन्द्र कुमार विद्यालङ्कार, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
५. प्रो० कमलेश छः चौकसी, निदेशक, भाषा संस्थान, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद
६. प्रो० ओमनाथ विमली, विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
७. प्रो० सुधीर कुमार, संकायाध्यक्ष, प्राच्यविद्या एवं संस्कृत संकाय, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली
८. प्रो० माधव प्रसाद उपाध्याय, आचार्य संस्कृत-विभाग, त्रिभुवन विश्वविद्यालय, काठमाण्डू (नेपाल)

प्रकाशक : कुलसचिव, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

व्यवसाय - प्रबन्धक : पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

वित्त-प्रबन्धक : वित्ताधिकारी, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

वैदिक राष्ट्रिय प्रार्थना

ओ३म् आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, आ राष्ट्रे राजन्यः शूर
इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो
वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ शुक्ल यजुर्वेद २२.२२

अर्थ- हे ईश्वर! हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण उत्पन्न हों। हमारे राष्ट्र में शूर, बाणवेधन में कुशल,
महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। यजमान की गायें दूध देने वाली हों, बैल भार ढोने में सक्षम हों, घोड़े शीघ्रगामी
हों। स्त्रियाँ सुशील और सर्वगुण सम्पन्न हों। रथवाले, जयशील, पराक्रमी और यजमान पुत्र हों। हमारे राष्ट्र
में आवश्यकतानुसार समय-समय पर मेघ वर्षा करें। फ़सलें और औषधियाँ फल-फूल से लदी होकर
परिपक्वता प्राप्त करें। हमारा योगक्षेम उत्तम रीति से होता रहे।

ब्रह्मन् ! स्वराष्ट्र में हों द्विज ब्रह्मतेजधारी ।

क्षत्रिय महारथी हों अरिदल विनाशकारी ॥

होवें दुधारू गौवें पशु अश्व आशुवाही।

आधार राष्ट्र की हों नारी सुभग सदा ही ॥

बलवान् सभ्य योद्धा यजमान पुत्र होवें ।

इच्छानुसार वर्षे पर्जन्य ताप धोवें ॥

फलफूल से लदी हों औषध अमोघ सारी ।

हो योगक्षेमकारी, स्वाधीनता हमारी ॥

सम्पादकीय

जब से मनुष्य सृष्टि प्रारम्भ हुई है अथवा मनुष्य समाज का इतिहास प्राप्त होता है तभी से एक प्रश्न जीवन्त रहता है कि मनुष्य जीवन की सार्थकता व सफलता का मानक क्या है? मनुष्य के लिए क्या करणीय है? क्या उचित है? क्या आवश्यक है? साथ ही क्या अकारणीय है? अनुचित है? व अनावश्यक है? अनेक बार तो यह भी सुना व पढ़ा जाता है कि जिसे जो अच्छा लगे, जो सत्य लगे, जो उचित लगे वही उसके लिए करणीय है, जबकि इस विचारधारा को सत्य मान लिया जाए तो फिर चोर के लिए चोरी करना उचित है? लुटेरे के लिए लूटना उचित है? हत्यारे के लिए हत्या करना भी उचित ही होगा? ऐसा वास्तव में धर्म हो सकता है? विचारशील समाज में उचित अनुचित करणीय-अकरणीय, आवश्यक-अनावश्यक निर्धारण होने की महती आवश्यकता प्रतीत होती है। इस विषय में समस्त विश्व के विचारक, मनीषी, चिन्तक अपना विचार प्रस्तुत करते रहे हैं, जिनके ग्रन्थ समय-समय पर मनुष्य को प्रेरणा देते रहे हैं। भारतीय मनीषा का विचार विश्व के लिए इसलिए प्रेरक रहा है, क्योंकि यहाँ मानव कृत रचनाओं के स्थान पर अपौरुषेय ग्रन्थों को महत्त्व दिया गया जिन्हें वेद कहा जाता है। वेद की प्राचीनता के विषय में सभी विवाद निर्णीत हो चुके हैं और साहित्य के इतिहास में वेद को सर्व प्राचीन ग्रन्थ की मान्यता प्राप्त हो चुकी है। वेदों की परम्परा में ही वैदिक साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, उपनिषद् साहित्य, दर्शनशास्त्र, स्मृतियों आदि को भी स्थान मिला है। वेदों एवं वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर दो प्रकार की विद्याओं का वर्णन उपलब्ध होता है, कहीं उसे विद्या-अविद्या कहा है, कहीं परा विद्या व अपरा विद्या कहा है, कहीं भौतिक व आत्मिक विकास का विज्ञान कहा है-

विद्यां चाविद्यां च यस्तदवेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ यजुर्वेद ४०/ ११

जगत् में विद्या-अविद्या दो प्रकार का ज्ञान है। दोनों ही ज्ञान की श्रेणी में आते हैं, जो व्यक्ति विद्या-अविद्या दोनों को यथोचित रूप में जानता है वह अविद्या के द्वारा संसार सागर को तैर कर पार हो जाता है और विद्या के द्वारा आत्मिक शान्ति अर्थात् आनन्द को प्राप्त होता है, उसी का जीवन सार्थक होता है, सफल होता है और मुक्ति मार्ग का अनुगामी भी होता है। वेद ने सुन्दर उपदेश देते हुए कहा है कि एक धारा संसार को सुखमय बनाने की है, उसी के सुख से जीवन को चलाने की है और दूसरी धारा चेतन आत्मा को शान्ति, आनन्द और निःश्रेयस् प्रदान करने की है। मुण्डकोपनिषद् में इन दोनों के लिए अपरा विद्या और परा विद्या का प्रयोग हुआ है-

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च॥ मु० उ० १/१/४

जिज्ञासु (शौनक)को ऋषि अंगिरा ने कहा कि दो विद्या जानने योग्य हैं, जाननी चाहिए ऐसा ब्रह्मज्ञानी वेद वक्ता कहते हैं- वे परा व अपरा विद्या हैं, ये दोनों विद्याएं क्या हैं? जिनसे विद्या की पूर्णता होती है और जीवन के मार्ग का निर्धारण होता है-

तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं

निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते॥ मु० उ० १/१/५

मुण्डकोपनिषद् के उपदेश में अंगिरा ऋषि ने अपरा विद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा वेदांगों -शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष को परिगणित किया है। इससे

स्पष्ट होता है कि संसार में जीने की समस्त विद्याएं- जिनसे प्राणी जगत् - मनुष्य जगत् सुखी, समृद्ध, स्वस्थ, संगठित, सौहार्दयुक्त वातावरण में रहते हुए सर्वांगीण विकास को प्राप्त कर सकता है, ऐसी भौतिक उन्नति की विद्या को अपरा विद्या के रूप में वेद-वेदांगों से प्राप्त कर सकता है। ऐसा नहीं है कि वेद केवल कर्मकाण्ड, अध्यात्म, पूजा-पाठ व पारलौकिक विद्या के स्रोत हैं, अपितु वेदों में भौतिक जगत् की समस्त विद्याएं जैसे वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान, औषधि विज्ञान, कला, शिल्प, अभियान्त्रिकी, राजधर्म (राजनीति) अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि विश्वकल्याण की विद्याएं भरी पड़ी हैं। हजारों वर्ष के अन्धकार के उपरान्त प्रकाश की किरण दिखाने वाला एक ऐसा ऋषि १९ वीं शताब्दी में इस धरा पर आया, जिसने धर्म और विज्ञान के बीच में बनी हुई खाई को दूर करते हुए कहा कि धर्म के बिना विज्ञान अन्धा है और विज्ञान के बिना धर्म लंगड़ा है, अर्थात् धर्म और विज्ञान एक दूसरे के शत्रु नहीं पूरक हैं और इन बातों को वेदों से प्रमाणित करते हुए उद्धोष किया कि वेद समस्त विद्याओं के ग्रन्थ हैं। इसीलिए इनको सार्वभौमिक सार्वकालिक और सार्वजनीन कहा जाता है। वेदों में अपरा विद्या के साथ-साथ परा विद्या भी है, जिससे अक्षर परमात्मा की प्राप्ति होती है, वेद व उपनिषद् जहाँ अविद्या या अपरा विद्या को आवश्यक मानते हैं वहीं जीवन का अन्तिम उद्देश्य प्राप्त करवाने वाली 'विद्या' या 'पराविद्या' को स्वीकारते हैं।

वर्तमान में दिशाहीन जीवन पद्धति में भटकता हुआ मानव केवल भौतिक उन्नति की अन्धी दौड़ में दिग्भ्रमित है, वह न तो व्यक्तिगत जीवन का उद्देश्य निश्चित कर पा रहा है, न परिवार जैसी उत्तम सुख कारक संस्था की रक्षा करने में सफल हो रहा है और ना ही राष्ट्र व विश्व को सुख शान्ति के मार्ग पर ले जाने में सफल हो रहा है। इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि उसे उचित मार्ग का ज्ञान नहीं हुआ, जिससे भौतिक व आत्मिक दोनों उद्देश्यों को समन्वित रूप से प्राप्त कर सके। वेदों में वर्णित अपरा विद्या या अविद्या यदि मार्ग हैं तो परा विद्या उसकी मंजिल है, अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है उसका समस्त समाधान भी उपनिषद् के ऋषि ने व्यक्त किया है-

यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।

नित्यं विभुं सर्वगतं सूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ मुण्डकोपनिषद् १/१/६

अर्थात् वह अक्षरब्रह्म देखा नहीं जा सकता, ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसका कोई वंश नहीं, वर्ण नहीं, उसके आंख, कान नहीं, हाथ पैर नहीं, वह नित्य है, विभु है, सब जगह पहुंचा हुआ है, वह सूक्ष्म है एवं वह सब भूतों अर्थात् जड़ जगत् व प्राणी जगत् का कारण है, मनीषी-धीर लोग 'परा-विद्या' से उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं, जिससे सन्तोष का जीवन जी पाते हैं, जिसमें भौतिक और अध्यात्म का समन्वय हो जाता है। इस प्रकार संसार के लोगों को उद्देश्य पूर्ण जीवन जीने के लिए उचित अनुचित का ज्ञान, करणीय-अकरणीय का ज्ञान, आवश्यक-अनावश्यक का ज्ञान इन्हीं दोनों विद्याओं से होता है, जिसे वेदों व वैदिक साहित्य की ज्ञान गंगा में अवगाहन करने से प्राप्त किया जा सकता है।

गुरुकुल पत्रिका का यह अङ्क आपके हाथों में है, इस पत्रिका का गौरवशाली इतिहास रहा है १९४८ ईस्वी से निरन्तर प्रकाशित यह शोध पत्रिका वर्तमान में यूजीसी केयर लिस्टेड भी है, इसमें परा और अपरा विद्या से युक्त शोधपत्रों का प्रकाशन करने का नियम है जिसे आप जैसे मनीषी विद्वान् अपने शोध पत्रों से सुशोभित करते हैं। साथ ही सुधीपाठक इससे अनेक विषयों को पढ़ने का सुअवसर प्राप्त करते हैं। हमारा प्रयास रहेगा कि वर्तमान में भी यह शोध पत्रिका उत्तम वैदिक सिद्धान्तों व आधुनिक विषयों के शोध से युक्त लेखों को प्रकाशित कर सके।

-विनय विद्यालङ्कार

अनुक्रमणिका

१. वेद एवं महर्षि दयानन्द की दृष्टि में योगदर्शनोक्त प्राणायाम का स्वरूप	प्रो० सोमदेव शतांशु	१-५
२. उपनिषदों का वैश्विक परिदृश्य : आत्मा के सन्दर्भ में	प्रो० सुधीरकुमार	६-११
३. संस्कृतव्याकरणे लोकव्यवहारः	प्रो० ब्रह्मदेव	१२-१७
४. आचार्य शंकर का सामाजिक चिन्तन	प्रो. ब्रजेश कुमार पाण्डेय, डॉ. विवेक कुमार शुक्ल	१८-२६
५. उत्तर भारतीय प्रमुख चामुण्डा प्रतिमाओं का कला में निरूपण : एक अध्ययन	प्रो० प्रभात कुमार, कल्पना देवी	२७-३५
६. कविवर दयानन्द का काव्य और काव्यशास्त्रीय ऊहा	डॉ. अभिमन्यु	३६-४३
७. ताद्वित भावकर्मार्थ प्रत्ययों का समालोचनात्मक अध्ययन	डॉ. कर्मवीर आर्य	४४-५३
८. लौकिक न्याय एवं व्याकरण शास्त्र	अवनीश कुमार	५४-६६
९. शृङ्गाररस की शास्त्रीय समीक्षा	प्रो. विनय कुमार, डॉ.मौहरसिंह	६७-७६
१०. 'विक्रमबेताल पञ्चविंशति' की द्वितीय कहानी का दार्शनिक विवेचन	डॉ. सरस्वती	७७-८३
११. भारतीयज्ञानपरम्परा	डॉ. सुशील कुमारी	८४-९२
१२. अष्टाध्यायी संरचना पद्धति का वैशिष्ट्य	प्रभात कुमार	९३-१०१
१३. विद्यालय शिक्षा में नैतिक मूल्यों की आवश्यकता	डॉ. संदीप कुमार उपाध्याय	१०२-१०९
१४. शब्दब्रह्म-सायुज्य-मोक्षमीमांसा	सचिन	११०-११४
१५. कालिदाससाहित्ये तपःस्वरूपम्	डॉ. विजयलक्ष्मीः	११५-१२१
१६. व्याकरणशास्त्रस्य दर्शनत्वम्	डॉ. रवीन्द्रकुमारः	१२२-१२७
१७. मन्त्राणाम् अर्थानुशीलने सम्प्रयोगे च ऋषिदेवताछन्दसाम् उपादेयत्वम्	डॉ० वेदव्रतः	१२८-१३३
१८. The Gita- the healing Holy Book and Chanderkant in Campus: Predicaments of Vice-Chancellor	Prof. Ambuj Sharma, Dr. Parnav Kumar Vaidik	१३४-१४०
१९. Impact of Maternal Employment on Self Concept of School Going Adolescents	Dr. Shyam Lata Juyal	१४१-१५८

२०. Unearthing Traditions: A Case Study of Promoting Folk Educational Values Through
Jagar Dr. Usha Pathak, Ashmita Badoni १५९-१७१
२१. A study of Vedic education system and relevance in present era
Dr. Vineeta Chaudhary १७२-१७९
२२. PROTAGONIZING THE ANTAGONISTS IN ANAND NEELAKANTAN'S ASURA:
TALE OF THE VANQUISHED AND JAGMOHAN BHANVER'S THE CURSE OF
BRAHMA Anamika Saha, Dr. Hemalatha K. १८०-१८७
२३. लेखक परिचय १८८-१८९

वेद एवं महर्षि दयानन्द की दृष्टि में योगदर्शनोक्त प्राणायाम का स्वरूप

डॉ. सोमदेव शतांशु^१

वैदिक वाङ्मय एवं योगशास्त्रों में प्राणायाम एवं प्राणोपासना का अत्यधिक महत्त्व है। प्राणायाम शब्द प्राणों का नियमन अथवा प्राणशक्ति का विस्तार करने के साधन का^२ वाचक है। प्राणायाम के सन्दर्भ में प्राण शब्द ब्रह्माण्डीय क्रियाशक्ति या ऊर्जा का स्थूलरूप; जो जीवन का आधार है, उसका अभिधायक है। वैदिक साहित्य में प्राण के बहुविध अर्थ हैं- प्रजापति^३, ब्रह्म^४, अर्क^५, प्रज्ञात्मा^६, ऋषि^७, प्राण, अपान आदि। बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने तीन हजार तीन, तीन सौ तीन, तैंतीस, छः, दो तथा एक देवों का निरूपण करते हुए सर्वमूलक एक देव के रूप में प्राण को ही प्रतिष्ठापित किया है- कतम एको देव इति। प्राण इति। स ब्रह्म तदित्याचक्षते।

इस प्रकार प्राण का विस्तृत स्वरूप वेदों में प्रतिपादित है। प्राणायाम के प्रसंग में जीवनाधायक तत्त्व प्राणवायु ही ग्राह्य है, जिसके शरीर पर स्थित रहने पर अन्य सभी देव स्थित रहते हैं तथा समस्त शारीरिक क्रियाकलाप सञ्चालित होते हैं।^८ प्राण और चित्त का सम्यक् सन्तुलन, जीवन को सहज, स्वस्थ, सरस एवं श्रेष्ठ बनाकर अमृतत्व प्राप्त कराने में सहयोगी होता है, अतः इसको अमृत भी कहा गया है। प्राण के प्रभाव को उच्चतम तथा सूक्ष्मतम स्तर तक विस्तारित करने की प्रक्रिया प्राणायाम के अन्तर्गत समाविष्ट है। इस प्राणविद्या की महत्ता को अनुभव करते हुए महर्षि दयानन्द जी ने संस्कार विधि में उपनयन संस्कार के अन्त में लिखा है- उक्त मन्त्रों को बोल, बालक को शिक्षा करे कि प्राण आदि की विद्या के लिए यत्नवान् हो।^९ इस वचन से जीवन के उत्थान में प्राणविद्या की महत्ता घोषित होती है।

योगदर्शन में अष्टांग योग के प्रसंग में प्राणायाम का वर्णन करते हुए आसन जय के उपरान्त श्वास प्रश्वास के गतिविच्छेद को प्राणायाम कहा है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।^{१०}

१ संस्कृत-विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय) हरिद्वार, दूरभाष- ९८३७६४७४२७

२ प्राणायामः प्राणस्य वायुविशेषस्य आयामो रोधः, प्राण आयम्यते अनेन इति वा (शब्दकल्पद्रुम)

३ प्राणो हि प्रजापतिः, शतपथ ब्राह्मण, ४/५/५/१३

४ प्राणो ब्रह्म इति... कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्, २/१

५ प्राणो वा अर्कः - शतपथ ब्राह्मण, १०/४/१/२३

६ प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा-शांखायन आरण्यकम् ५/२

७ (क) सप्त ऋषय प्रतिहिताः शरीरे, यजुर्वेद, ३४/५५

८ प्राणो वै सुषर्मा सुप्रतिष्ठानः- शतपथ ब्राह्मण- ४/४/१/१४

९ संस्कार विधि, पृ. ९२, प्रकाशक- सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, पञ्चम संस्करण

१० योगदर्शन, २/४९

उक्त प्राणायाम चार प्रकार का होता है- १. बाह्यवृत्ति, २. आभ्यन्तरवृत्ति, ३. स्तम्भवृत्ति, ४. बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी।^{११} प्रथम तीन प्राणायाम, देशपरिदृष्ट, कालपरिदृष्ट एवं संख्यापरिदृष्ट भेद से मृदु, मध्य तथा तीव्र भेद वाले होते हैं। उक्तानुसार प्राणायाम अभ्यस्त होने पर वह दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है।^{१२}

आजकल इन प्राणायामों के लिए रेचक, पूरक एवं कुम्भक शब्दों का प्रयोग किया जाता है, परन्तु प्राचीन काल में ये शब्द प्रयुक्त नहीं होते थे। महर्षि व्यास ने इनके लिए बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति एवं स्तम्भवृत्ति शब्दों का प्रयोग किया है।^{१३}

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी महर्षि व्यास का अनुसरण करते हुए प्राणायामों के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है-

“बालबुद्धिभिरदुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति। किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संरुध्य प्रथमो बाह्याख्यः प्राणायामः कर्तव्यः। तथोपासकैर्यो बाह्यादेशादन्तः प्रविशति तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः क्रियते। स आभ्यान्तरो द्वितीयः सेवनीयः। एवं बाह्याभ्यन्तराभ्यामनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्संरोधो यः क्रियते स स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यसनीयः।^{१४}

चौथे प्राणायाम को स्पष्ट करते हुए स्वामी जी लिखते हैं- और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे जावे उसको भीतर ही थोड़ा थोड़ा रोकता रहे, इसको बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं। चतुर्थ प्राणायाम को स्वामी ओमानन्द तीर्थ जी ने पातञ्जल योग प्रदीप में विस्तार से समझाया है^{१५} और इन चारों का अनुष्ठान इसलिए है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे।^{१६}

चारों वेदों में प्राण^{१७} तथा उसके पर्यायवाची मित्रावरुणौ^{१८} वायवः,^{१९} वातोदयः,^{२०} रुद्राः,^{२१} इन्द्रः,^{२२} अग्नीषोमौ^{२३} अङ्गिरसः,^{२४} अङ्गिरा^{२५} आदि शब्दों का प्रयोग विद्यमान है। अथर्ववेद के प्राणसूक्त ११/४ में

११ (क) बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। वही, २/५०

(ख) बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। वही, २/५१

१२ द्रष्टव्य, योगदर्शन व्यास भाष्य- २/५०

१३ वही

१४ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. १३३, आर्षसाहित्य प्रचार ट्रस्ट, षष्ठ संस्करण

१५ द्रष्टव्य पृ. ५१९

१६ वही, पृ. १३३-१३४

१७ ऋग्वेद पदानुक्रमकोष, पृ. ४४१६, साम पदानुक्रमकोष पृ. ६४, यजु. पदानुक्रमकोष पृ. ६४

१८ ऋग्वेद, १/२/८, ७/६/१

१९ यजुर्वेद, २९/२

२० यजु. २२/२६

२१ ऋग्वेद, ३/८/८

२२ ऋग्वेद, १/१४/१०

वेद एवं महर्षि दयानन्द की दृष्टि में योगदर्शनोक्त प्राणायाम का स्वरूप

प्राण के ब्रह्माण्डव्यापी स्वरूप एवं प्रभाव का वर्णन है। संहिताओं में सम्भवतः प्राणायाम शब्द का प्रयोग प्राप्त नहीं है, किन्तु प्राणायाम के स्वरूप को तथा लाभ को बताने वाले अनेक मन्त्र विद्यमान हैं—

नमस्ते अस्त्वायते नमोऽस्तु परायते।

नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥

नमस्ते प्राण प्राणते नमोऽस्त्वपानते।

पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः॥^{२६}

मन्त्रों के आयते पद से अन्तःवृत्ति, परायते पद से बाह्यवृत्ति तथा तिष्ठते पद से स्तम्भवृत्ति प्राणायाम संकेतित हो रहा है। आसीनाय पद चतुर्थ प्राणायाम का संकेतक माना जा सकता है। प्राण की पराचीन एवं प्रतीचीन गति भी प्राणायाम के अन्यरूपों के प्रत्यायक हो सकती हैं। परवर्ती साहित्य हठयोग प्रदीपिका आदि ग्रन्थों में भ्रामरी, शीतली आदि विविध प्राणायामों का उल्लेख मिलता है।

आचार्य सायण ने प्राण सूक्त के मन्त्रों की व्याख्या में लिखा है— आगमनादि समस्त क्रिया प्राण व्यापार निर्वृत्य है, अतः उस अवस्था वाले प्राण को नमन किया गया है।^{२७} शरीर से बाहर स्थित तथा देहमध्य में निहित सर्वविध कार्यकलाप करने वाले प्राणों का नमन प्रतिपादित है,^{२८} यह उसके विविध प्रभावों को संकेतित करता है।

प्राणायाम की बाह्यवृत्ति, अन्तःवृत्ति एवं स्तम्भवृत्ति को बृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति में योगदर्शन के अनुरूप ही परिभाषित किया गया है— रेचकपूर्वक वायु का बहिस्स्थापन या श्वास ग्रहण न करना बाह्यवृत्ति है, यह रेचक तथा कुम्भक दोनों हैं। उसी प्रकार आभ्यन्तरवृत्ति में पूरक तथा कुम्भक दोनों समाविष्ट होते हैं। योगशास्त्रों में पूरकान्त कुम्भक प्राणायाम को वैदिक प्राणायाम कहा गया है।^{२९}

प्राणायाम के प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि शरीर के स्थैर्य के साथ प्राण के गतिविच्छेद एवं निश्चलता के साथ चित्त का भी गतिविच्छेद एवं निश्चलता अपेक्षित है, तभी वह योगरूप समाधि का अङ्ग कहाने योग्य है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इस तथ्य को स्पष्ट किया है— **बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य।**^{३०}

२३ वही, १/९३/८

२४ वही, १०/६२/१

२५ वही, ३/३/१७

२६ अथर्ववेद ११/४/७-८

२७ अथर्ववेद सायणभाष्य, ११/४/७

२८ वही, ११/४/८

२९ पूराणादिरेचनान्तः प्राणायामस्तु वैदिकाः। पातञ्जलयोगदर्शन- श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, पृ. २६९ पर उद्धृत

३० ऋ. भा. भू. पृ. १३३

योगदर्शन का लक्ष्य समाधि या कैवल्य प्राप्ति है, इस दृष्टि से प्राणायामों के आध्यात्मिक लाभ ही वर्णित हैं। प्राण के प्रच्छर्दन एवं विधारण से चित्त की स्थिति शान्त होती है।^{३१} प्राणायाम से प्रकाश का आवरण नष्ट होता है तथा धारणा में मन की योग्यता होती है। इस प्रसंग में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-

एवं प्राणायामाभ्यासाद् यत्परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशे सति अविवेकस्यावरणावरणमज्ञानमस्ति तत्क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति।^{३२} आगे लिखते हैं - परमेश्वर के बीच मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्ष पर्यन्त उपासनायोग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता है।^{३३}

यहाँ यह विचारणीय है कि प्राणायाम से ज्ञान का आवरण कैसे क्षीण होता है? महर्षि व्यास ने स्पष्ट करते हुए कहा है- महामोहमय इन्द्रजाल द्वारा प्रकाशशील सत्त्व को आवृत कर यह कर्म उसे अकार्य में लगाता है। योगी का यह प्रकाशावरणभूत संसार हेतु कर्म प्राणायामाभ्यास से बलहीन हो जाता है।^{३४}

इसको और स्पष्ट करते हुए स्वामी हरिहरानन्द आरण्य लिखते हैं- प्राणायाम शरीरेन्द्रिय की निष्कर्मता है। उससे संस्कार द्वारा साधारण क्लिष्ट कर्म का संस्कार क्षीण होता है। मैं शरीर हूँ, इन्द्रियवान् हूँ इत्यादि अविद्यारूप अज्ञान और तत्प्रेरित कर्म एवं कर्मसंस्कार प्राणायाम द्वारा क्षीण होता रहता है।^{३५}

प्राणायामक्रिया शरीरेन्द्रिय से अहन्ता को विमुक्त करने की क्रिया है। मैं शरीरेन्द्रिय नहीं हूँ, इस प्रकार विद्या है, यह विद्या अज्ञानरूप आवरण को क्षीण करती है, यह निर्विवाद है।

योगदर्शन का सिद्धान्त सर्वथा वेद मन्त्रों के अनुरूप है। ऋग्वेद में प्राणों को आत्मा का संशोधक शोभावर्धक कहा गया है।^{३६} प्राणायाम से सम्प्रेरित परमात्मा प्रजाओं की रक्षा करता है तथा इन्द्रियों की सुरक्षा करते हुए प्रकट होता है।^{३७}

वेद का चिन्तन तथा प्राणायाम का अभ्यास करने वालों में परमेश्वर प्रकाशित होता है।^{३८} प्राणोपासना से परमात्मा प्रकट होकर पाप भावनाओं को नष्ट करते हैं।^{३९}

यजुर्वेद में कहा गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से प्राणायाम में निबद्ध मन समृद्ध एवं बलवान् होता है।^{४०}

३१ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। योगदर्शन १/३४

३२ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. १३४

३३ वही, पृ. १३५

३४ योगदर्शन व्यास भाष्य, १/५३

३५ योगदर्शन- स्वामी हरिहरानन्द आरण्य भाष्य, पृ. २८३

३६ तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्तेजनिम् चारुचित्रम्। ऋग्वेद ५/३/३

३७ वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपतिं बहुधा विराजति। सामवेद १४५३

३८ ऋग्वेद, ८/७४/४

३९ मरुद्भिरग्न आगहि। सामवेद, १६

वेद एवं महर्षि दयानन्द की दृष्टि में योगदर्शनोक्त प्राणायाम का स्वरूप

एतदतिरिक्त प्राणायाम के अभ्यास से शारीरिक बल की प्राप्ति,^{४१} वीर्यरक्षा,^{४२} नैरोग्य^{४३}, दीर्घायु आदि की प्राप्ति का वेदों में अनेकानेक वर्णन है। प्राणायाम मृत्यु को भी दूर करने वाला है-

प्रत्यौहतमश्विना मृत्युमस्मद् देवानग्ने भिषजा शचीभिः।^{४४}

प्रश्नोपनिषद् में प्राण एवं प्राणोपासना की महिमा विस्तार से वर्णित है। तीनों लोकों में सब कुछ प्राण के ही अधीन है। वह माता के समान प्राणसाधक पुत्रों की रक्षा करने वाला है तथा श्री एवं प्रज्ञा प्रदान करने वाला है।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।

मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां विधेहि न इति।^{४५}

इस प्रकार योगदर्शनोक्त प्राणायाम वेद सम्मत हैं। योगमार्ग में अग्रसर होने में शरीरेन्द्रिय चित्त आदि को शुद्ध करने में परम सहयोगी हैं तथा मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती का भी ऐसा ही मत है।

४० यजुर्वेद १२/६७

४१ ऋग्वेद, १/३८/११

४२ वही, ५/८५/१, ८/९६/१७

४३ अथर्ववेद, ११/४

४४ अथर्व. ७/५३/१

४५ प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न २

उपनिषदों का वैश्विक परिदृश्य : आत्मा के सन्दर्भ में

प्रो० सुधीरकुमार^१

सम्पूर्ण विश्व को संस्कृति का ज्ञान प्रदान करने का श्रेय वेद को प्राप्त है। वेद ही विश्व-शान्ति, विश्व-बन्धुत्व तथा विश्व-कल्याण के प्रथम उद्घोषक हैं। अतएव मनु का कथन सर्वविदित है कि “सर्वज्ञानमयो हि सः” अर्थात् वेद में ज्ञान-विज्ञान की सभी विधाओं का सूत्ररूप में विवेचन है।^२ सभी वेदों को क्रमशः संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् के रूप में विभक्त किया गया है। उपनिषद् को वेद के अन्तिम भाग होने के कारण वेदान्त की संज्ञा दी गई है। उपनिषद् शब्द उप तथा नि उपसर्गपूर्वक सद् धातु से क्विप प्रत्यय करने पर बनता है, जिसका सामान्य आशय है- तत्त्वज्ञान हेतु गुरु के समीप बैठना।

शंकराचार्य ने उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या माना है। इन्होंने सद् धातु (षट् लृ विशरणगत्यवसादनेषु) के तीन अर्थ प्रकार बताए हैं १. विशरण- नाश होना, जिसमें संसार की मूलभूत अविद्या का नाश होता है। २. गति- पाना या जानना, जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है या उसका ज्ञान होता है। ३. अवसादन- शिथिल होना, जिससे मनुष्य के दुःख या बन्धन शिथिल होते हैं। इस प्रकार शंकराचार्य ने अविद्या का नाश, ब्रह्मप्राप्ति और उसका ज्ञान, दुःख-निरोध, इन तीन अर्थों को लेकर उपनिषद् को ब्रह्मविद्या का द्योतक माना है।

उपनिषद् की संख्या :- वस्तुतः उपनिषदों की संख्या के विषय में मतभेद है। *मुक्तिकोपनिषद्* में उपनिषदों की संख्या १०८ बताई गई है, लेकिन शंकराचार्य ने १० उपनिषदों को ही प्रामाणिक तथा प्राचीन माना है, जिनके नाम निम्नोक्त हैं-

“ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरः। ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा।।”^३

शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इसके अतिरिक्त श्वेताश्वतर, कौषीतकि तथा मैत्रायणी उपनिषद् के भी उद्धरण दिए हैं। अतः इन तीनों उपनिषदों सहित प्राचीन उपनिषदों की संख्या १३ मानी जाती है। ह्यूम ने भी मुख्यतः इन तेरह उपनिषदों का आङ्ग्ल भाषानुवाद किया है।

उपनिषदों में आत्मा :- समष्टि रूप में जिसे ब्रह्म अथवा परमात्मा कहा जाता है, व्यष्टि रूप में उसे ही आत्मा की संज्ञा दी गई है। यह आत्मा परमात्मा का ही अंश होता है। “यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे” अर्थात् जो स्वरूप ब्रह्म का है, वही स्वरूप आत्मा का भी है। आत्मा के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन *कठोपनिषद्*, *प्रश्नोपनिषद्*, *मुण्डकोपनिषद्*, *माण्डूक्योपनिषद्*, *छान्दोग्योपनिषद्*, *बृहदारण्यकोपनिषद्*, *श्वेताश्वतरोपनिषद्*, *ऐतरेयोपनिषद्* आदि में किया गया है।

१ संकायाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययनसंस्थान, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, Email-

sarya46@gmail.com

२ मनुस्मृति २/७

३ मुण्डकोपनिषद् १/३०

कठोपनिषद् में आत्मा का स्वरूप :- कठोपनिषद् में आत्मा का विशद् वर्णनप्राप्तहोताहै, जो निम्नोक्त है- “न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नं कुतश्चिन्नं बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥”^४ अर्थात् यह नित्यज्ञान स्वरूप आत्मा न उत्पन्न होता है और न ही मरता है। यह कहीं से न तो उत्पन्न हुआ है और न कोई इसके द्वारा उत्पन्न हुआ है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के मृत हो जाने के पश्चात् भी यह नहीं मरता है।

आत्मा की अजरता तथा अमरता को निरूपित करते हुए पुनः कहा गया है कि- “हन्ता चेन्मन्यते हन्ति न हन्यते॥” अर्थात् यदि मारने वाला स्वयं को मारने में समर्थ समझता है तथा मरने वाला स्वयं को मृत समझता है तो वे दोनों ही आत्मा के स्वरूप के ज्ञान से वंचित हैं। जन्म एवं मृत्यु तो शरीर के धर्म हैं। अज्ञानता के आच्छादन से यह भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। आत्मा अविनाशी तथा अजन्मा है।^५

अतः आत्मा के स्वरूप को इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है कि- “अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमान्मात्मनः॥”^६ अर्थात् अणु से भी सूक्ष्म तथा महान् से भी महान् आत्मा प्राणी की हृदय रूपी गुहा में अवस्थित है। यह प्रत्येक जीव के अन्दर विद्यमान है। निष्काम, शोकरहित साधक आत्मा की महिमा को अन्तः इन्द्रियों अथवा परमात्मा की कृपा द्वारा देखता है।

कठोपनिषद् में आत्मा की प्रधानता को सुस्पष्ट करते हुए कहा गया है- “अशरीरः शरीरेन स्वस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥”^७ अर्थात् जीव का शरीर अनित्य के साथ-साथ अनश्वर भी है। जिस प्रकार अचेतन रथ को चलाने हेतु चेतन प्राणी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार पार्थिव और जड़ शरीर चेतन आत्मा के बिना अस्तित्वहीन बन जाता है। आत्मा एक शक्ति है तथा शक्ति का कोई रूप, रंग, आकारादि नहीं होता है, अपितु उसका मात्र अनुभव किया जा सकता है। शरीर अनेक हैं, उनके नाम, रूपादि भिन्न-भिन्न हैं परन्तु आत्मा एक, नित्य एवं विभु है।

आत्मतत्त्व का साक्षात्कार मनुष्य अपने हृदयरूपी गुहा में ही कर सकता है। रथ के रूपक द्वारा आत्मतत्त्व की प्राप्ति में शरीर के विभिन्न अंगों का महत्त्व इस प्रकार बताया गया है- “आत्मान..... भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥”^८ अर्थात् शरीर रथ है, जो हमें अपने कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है। शरीर रूपी रथ का स्वामी आत्मा है। बुद्धि सारथि है और मन लगाम है। अथर्ववेद में भी शरीर को रथ कहा गया है-

४ क०उ० १/२/१८

५ क०उ० १/२/१९

६ क०उ० १/२/२०

७ क०उ० १/२/२२

८ क०उ० १/३/३-४

“आरोह इमम् अमृतं सुखं रथम्”^{१९} इस संसार में मानव विषय भोग की ओर प्रवृत्त होता है अथवा मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है। इन दोनों ध्येयों तक पहुँचने का मुख्य साधन शरीर रूपी रथ ही है।

शरीर, मन तथा इन्द्रियों से युक्त आत्मा को बुद्धिमान् भोक्ता कहते हैं। वस्तुतः आत्मा तो शुद्ध तथा अविकारी है, परन्तु अज्ञानतावश जब उसका तादात्म्य शरीर, मन और बुद्धि से स्थापित कर लिया जाता है, तब वह कर्मों का भोक्ता के सदृश प्रतीत होने लगता है। यही मिथ्या तादात्म्य शुद्ध चैतन्य आत्मा को अज्ञानता से युक्त जीवात्मा बना देता है- “अज्ञानोपहितं चैतन्यं जीवः।”

आत्मतत्त्व की प्राप्ति हेतु अधोक्त मार्ग को वर्णित करते हुए कठोपनिषद् में कहा गया है कि- “उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥”^{२०} अर्थात् आत्मज्ञान के लिए सर्वदा जागरूक रहना तथा सत्संग में प्रवृत्त होना आवश्यक है। इसके लिए निम्न प्रकार के कष्टप्रद मार्ग निर्देशित है- उठो, जागो तथा श्रेष्ठ पुरुषों के समक्ष जाकर ज्ञान को प्राप्त करो। विद्वान् इस मार्ग को छूरे की तेज और दुस्तर धार के सदृश दुर्गम बताते हैं। आत्मा के स्वरूप को सुस्पष्ट करते हुए कहा गया है कि-

“अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥ एतद्वै तत्॥”^{२१}

अर्थात् भूत एवं भविष्य का शासक अँगूठे के परिमाण वाला पुरुष शरीर के मध्य स्थित है, जिसे जानने के पश्चात् मानव द्वेष नहीं करता है। निश्चित रूप से वह ब्रह्म ही आत्मा है। अङ्गुष्ठ परिमाण से युक्त पुरुष धुएँ से रहित ज्योति के सदृश है। भूत, भविष्य का स्वामी होते हुए भी वह निश्चित रूप से वर्तमान है, जो ब्रह्म है, वही आत्मा है। यद्यपि सर्वव्यापक होने के कारण वह समस्त संसार में पूर्णतः व्याप्त है लेकिन उसका ज्ञान हृदय कमल में ही होता है। अतः उसे अङ्गुष्ठमात्र नाम द्वारा अभिहित किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी इस सम्बन्ध में कहा गया है कि- “अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः।”^{२२}

आत्मा एक है तथा जो मानव इसे अनेकत्व भाव से देखता है, वह सर्वदा दुर्गति को प्राप्त होता है। यह अङ्गुष्ठमात्र है एवं शरीर में ही इसकी विद्यमानता होती है। इसे शुद्ध मन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। कर्मानुसार प्राणियों को जन्म की प्राप्ति होती है। इससे पूर्व विविध प्रकार के योनियों में गमन करता है। जिस प्रकार अग्नि एक होते हुए भी अनेक रूपों में भ्रमण करते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा भी एक होते हुए अनेक शरीर को धारण करता है। आत्मा ही सूर्य, चन्द्र, तारों आदि का प्रकाशक है। आत्मा के ज्योति द्वारा ही

१ अ०वे० ८/१/१६

१० क०उ० १/३/१४

११ क०उ० २/१/१२-१३

१२ श्वे०उ० ५/८

सभी तेजोमय है। आत्मा की विद्यमानता मानव शरीर में उपलब्ध होती है। इसे धैर्य द्वारा उसी प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, जिस प्रकार मूँज से सींक को निकाला जाता है।^{१३}

प्रश्नोपनिषद् में आत्मा का स्वरूप :- ब्रह्मविद्या अथवा आत्मविद्या के ज्ञान हेतु छह ऋषि महर्षि पिप्पलाद के पास जाकर अध्यात्म विषयक छह प्रश्नों की जिज्ञासा करते हैं, जिसके अन्तर्गत इस प्रश्न का भी समुल्लेख है- “प्राण की उत्पत्ति, उसका शरीर में आना और निकलना किस प्रकार होता है।” प्रस्तुत प्रश्न की जिज्ञासा के समाधान हेतु निम्नोक्त विवेचन द्वारा इस प्रकार पुष्टि की गई है- इस उपनिषद् में प्राण एवं रयि अर्थात् अग्नि एवं सोम, धनात्मक एवं ऋणात्मक शक्ति द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है। यह प्राणशक्ति समस्त संसार का मूलाधार है। सूर्य में प्राणशक्ति समुपलब्ध है, वही विश्व को जीवनी शक्ति प्रदान करता है। आत्मा को जानने के मार्ग के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है कि- “तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया-आत्मानम् अन्विष्यात्।” अर्थात् तपस्या, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या के माध्यम द्वारा ही आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।^{१४}

मुण्डकोपनिषद् में आत्मा का स्वरूप :- मुण्डकोपनिषद् में आत्मतत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रमुख साधन रूप में सत्य को लक्षित करते हुए कहा गया है कि- “सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥”^{१५} अर्थात् साधक के लिए आत्मज्ञान के लिए सहकारी सत्य आदि निवृत्ति प्रधान साधनों का विधान किया गया है। यहाँ आत्मा को नित्य सत्य, नित्य तप, नित्य यथार्थ तथा नित्य ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्ति के योग्य बताया गया है। सत्यभाषण आत्मप्राप्ति का सर्वप्रथम प्रधान साधन है। द्वितीय प्रधान साधन तप है। इसके अतिरिक्त यथार्थ आत्मदर्शन और ब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन परित्याग का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

क्षीण हुए क्रोधादि चित्त के दोषों से युक्त सन्यासीजन जिस आत्मा का सत्यता के द्वारा साक्षात्कार करते हैं, वह शुद्ध एवं प्रकाशस्वरूप आत्मा शरीर के हृदयरूपी गुहा में ही अङ्गुष्ठमात्र प्रकाश की अकम्पित लौ की भाँति अवस्थित है। योगीजन अपने ध्यान द्वारा उसका वहीं दर्शन करते हैं। अतः उन्हें अन्यत्र कहीं भी भ्रमण करने की आवश्यकता नहीं होती है।

अन्य स्थान पर सत्य की महत्ता को परिलक्षित करते हुए कहा गया है कि- “सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥”^{१६} अर्थात् सत्य की ही जीत होती है, मिथ्या की नहीं। सत्य द्वारा देवयान मार्ग विस्तृत हुआ है। देवयान का सामान्यार्थ है- आत्मप्राप्ति के प्रयासों से पूर्ण जीवन। ऐसे जीवन में सत्य का विशेष महत्त्व है। इस देवयान मार्ग पर ही ऋषिगण चलते हैं, जहाँ सत्य का परम निधान है।

१३ क०उ० २/२/९; २/२/१५; २/३/१७

१४ प्र०उ० १/८; २/६; १/४; १/१०

१५ मु०उ० ३/१/५

१६ मु०उ० ३/१/६

माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा का स्वरूप :- माण्डूक्योपनिषद् लघुकाय होने पर भी भाव-गम्भीर के कारण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें वर्णित है कि सम्पूर्ण विश्व वर्तमान, भूत एवं भविष्य सहित सर्वस्व 'ओम्' की ही व्याख्या है। ओम् के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं है। ओम् के प्रत्येक वर्ण अ उ म् की विभिन्न अवस्थाओं के परिणामस्वरूप ही सृष्टि के विभिन्न रूपों का सृजन हुआ है। यह ओम् ही आत्मा है तथा आत्मा चतुष्पात् है। चतुर्थ अवस्था तुरीय अवस्था है। यह तुरीयावस्था अवर्णनीय है। आत्मा का यह शुद्ध शान्त अद्वैत शिव रूप है।

छान्दोग्योपनिषद् में आत्मा का स्वरूप :- छान्दोग्योपनिषद् के अष्टम अध्याय में आत्मज्ञान की शिक्षा दी गई है तथा आत्मप्राप्ति हेतु कुछ व्यावहारिक उपायों का भी वर्णन किया गया है। आत्मज्ञान के सन्दर्भ में अधोक्त वर्णन प्राप्त होता है- "अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म....॥" अर्थात् हृदयकमल के अन्दर विद्यमान आकाश को दहर कहते हैं। इसे ब्रह्म का निवासस्थान माना जाता है। अतः दहर-विद्या का तात्पर्य 'आत्मविद्या' है।^{१७}

आत्मा की एकता एवं अनेकता के विषय को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि- "वाचारम्भरणं विकारो नामधेयम्। मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥"^{१८} अर्थात् केवल मिट्टी से सैकड़ों प्रकार के बर्तन बनाए जाते हैं, जिनके अलग-अलग नाम, रूपादि होते हैं। जिस प्रकार मिट्टी के ज्ञान होने से मिट्टी के सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार सभी पदार्थों के मूल आत्मा के ज्ञान से सभी पदार्थों का भी ज्ञान स्वतः होना सुनिश्चित है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा का स्वरूप :- बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि- "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। आत्मनि...विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्॥"^{१९} अर्थात् आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान करना चाहिए। आत्मज्ञान से ही सर्वज्ञता प्राप्त होती है। इसके अन्तर्गत याज्ञवल्क्य ऋषि ने मैत्रेयी को आत्मा सम्बन्धी उपदेश देते हुए कहा है कि आत्म- दर्शन, श्रवण, मनन एवं ध्यान करने मात्र से संसार के समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। अतः आत्मा द्रष्टव्य है।

आत्मज्ञान की बाधकता को अभिव्यक्त करते हुए बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि- "अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन।"^{२०} अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करने के अन्तर्गत धन को बाधक तत्त्व की श्रेणी में रखा जाता है न कि साधन की श्रेणी में। धन के माध्यम से अमरत्व की आशा करना एक भ्रममात्र है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा अर्थात् स्वयं की प्रसन्नता के लिए निम्न सभी कार्यादि किए जाते हैं- "आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।" अर्थात् पति-प्रेम, स्त्री-प्रेम, धन-प्रेम, पुत्र-प्रेम आदि सभी प्रकार

१७ छा०उ० ८/१/१

१८ छा०उ० ६/१/४

१९ बृ०उ० ४/५/६

२० बृ०उ० ४/५/३

के प्रेम आत्मा हेतु ही स्वभावतः होते हैं। अतः मूल तत्त्व आत्मा को ही जानना चाहिए। अन्यत्र स्पष्टतः वर्णित है कि- “दुन्दुभेर्ग्रहणेन... शब्दो गृहीतः॥” अर्थात् शब्दों को नहीं पकड़ सकते हैं, किन्तु दुन्दुभि को पकड़ने में शब्द स्वतः ही पकड़ में आ जाएगा। इसलिए मूल कारण आत्मा को पकड़ो।^{२१}

ब्रह्म के निवासस्थान को व्यक्त करते हुए बताया गया है कि- “आत्मनि पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे॥” अर्थात् आत्मा में ही परमात्मा का निवास है। इसी ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। इसी प्रकार आत्मा की एकता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि- “योऽयमात्मा - इदम् अमृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम्॥” अर्थात् यह पुरुषस्थ आत्मा अमर है, यही ब्रह्म है तथा यही सब कुछ है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए इस प्रकार विवेचित किया गया है कि- “कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः ... हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः॥” अर्थात् विश्व में अजर एवं अमर आत्मा ही ज्योति है। यही एकमात्र पथ-प्रदर्शक है। मनुष्य के हृदय में ज्योतिस्वरूप विद्यमान आत्मा ही विज्ञानमय है तथा प्रकाशक है। यह समस्त ब्रह्माण्ड आत्मा अथवा ब्रह्म में ओत-प्रोत है। ब्रह्म के प्रशासन में यह सर्व संसार काल, द्यावापृथिवी, सूर्य आदि कार्यरत हैं।^{२२}

श्वेताश्वतरोपनिषद् में आत्मा का स्वरूप :- श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत हंस, त्रैतवाद, माया, क्षर-अक्षर, सत्य और तप द्वारा आत्मदर्शन होने की बात कही गई है। तृतीय अध्याय में रुद्र विश्वरूप, जीव के स्वरूप तथा आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है। पञ्चम अध्याय के अन्तर्गत जीवात्मा के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है। आत्मज्ञान सम्बन्धी मार्ग को विवेचित करते हुए कहा गया है- “यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ॥” अर्थात् जिसकी देवों और गुरुओं में परम भक्ति (श्रद्धा) है, उसको ही आत्मतत्त्व का बोध होता है।^{२३}

ऐतरेयोपनिषद् में भी आत्मा को व्याख्यायित करते हुए पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है तथा कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म का वर्णन है।

निष्कर्ष :- उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उपनिषदों में आत्मा की विशेष महत्ता है। आत्मा को ही ब्रह्म स्वीकार किया गया है। कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद् में आत्मा के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है। आत्मा नित्य, शाश्वत, अजर, अमर है। आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु सत्य, तप आदि प्रधान साधन के रूप में स्वीकृत हैं।

२१ बृ०उ० ४/५/८

२२ बृ०उ० २/१/१३; २/५/३; ४/३/७; ३/८/११

२३ श्वे०उ० ६/२३

संस्कृतव्याकरणे लोकव्यवहारः

प्रो० ब्रह्मदेवः^१

संस्कृत-व्याकरणयोः सम्बन्धः

संस्कृतमेका एतादृशी भाषा यस्यां लौकिकं पारलौकिकञ्च सर्वाङ्गपूर्णं विस्तृतं गहनचिन्तनपरकमनिर्वचनीयं वाङ्मयं संराजते। भाषां विना मानवस्य न सुगतिः कथमपि सम्भवा विश्वस्मिन् जगति, यतोहि भाषयैव अस्य सर्वाणि कार्याणि सम्यक्तया सुसिद्ध्यन्ति। जगतः सर्वासामुन्नतीनां मूले इयमेव। भाषयैव पारस्परिकं नैजमाशयं प्रकाशयितुमपरस्य च आशयं ज्ञातुं प्रभवन्ति मानवाः। कथयितुं शक्नुमो यद् अनयैव सर्वे विचाराः प्रादुर्भवन्ति मानवमस्तिष्के, अपरेण सह वार्तालापप्रकरणे, अध्ययनाध्यापने वा अनया विना न काचिद् गतिः।^२ सर्वं दुर्गममेव स्यात्, यदि एतस्याः प्रवृत्तिः मानवसमाजे न स्यात् तर्हि संकल्पनादपि अतिनिकृष्टा, न जाने कीदृशी गहनान्धकारमयी स्थितिः मानवस्य सम्भाव्या भवेत्।^३

सत्यामपि भाषायां सुसंस्कृतया परिष्कृतया अनया भाव्यं भावातिरेकस्य सङ्क्रमणार्थम्। प्रयुज्यमानाः साधुशब्दा हि स्वान् अर्थान् याथार्थ्येन प्रकटयितुं समर्था भवन्ति, न असाधुशब्दाः। मधुरसाधुशब्दानां प्रयोगेण व्यवहारे माधुर्यं, कठोरताया अभावः, सर्वत्र सौमनस्य प्रसारः सर्वदा दरीदृश्यते एव शब्दप्रयोक्तृभिः। अथर्ववेदे ऋषिः कथयति- वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुसंदृशः।^४ कश्चिदपि मधुसमानः तदैव भवति यदा तस्य वाग् मधुमती भवति। अन्यथा वाण्या व्रणाः अतीव गम्भीरा भवन्ति शस्त्रास्त्रैरपि तीक्ष्णाः। अतः पूर्वं शब्दानां राशिः सन्निवेशो वास्माकं पार्श्वे भवेत्, तेषां प्रयोगश्च पश्चात् कुशलतया भवेत्, अतः शब्दे सति प्रयोगकौशलमपि हितकारि भवति। साधुशब्दप्रयोगे च व्याकरणज्ञानं प्रभावकारि भवति इति अनुभूयते। एतदेव कारणं यद् भारतीया समस्ता शास्त्रज्ञानपरम्परा समस्तज्ञानानां मूले व्याकरणस्य मुख्यत्वम् ऊरीकरोति। व्याकरणस्य उत्सर्गापवादस्यायेन संक्षेपतया लाघवेन च समस्तशब्दानां साधु शीघ्रतया च विज्ञानं भवति^५, तेन च शब्दज्ञानेन शीघ्रमेव समस्तशास्त्रेषु प्रवीणतां प्राप्तुं समर्था भवन्ति। व्याकरणज्ञानरहितः कश्चिन्न साधुशब्दान् प्रयोक्तुं क्षमो भवति इति वाल्मीकिरामायणे दूतहनुमन्प्रकरणेन ध्वन्यते, यथा- नूनं

१ संस्कृत-विभागः, गुरुकुल-काङ्गड़ी-समविश्वविद्यालयः, हरिद्वारम् दूरभाषः - ९४१२३०७१२३, ईमेल -

brahmdev@gkv.ac.in

२ वाक्यपदीयम् १.१२३, न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।

३ अस्मिन् विषये महाकविना दण्डिना लिखितम्, यथा द्र०- काव्यादर्शः १.४, इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

४ अथर्ववेद १.३४.३

५ पस्पशाह्निकं, व्याकरणमहाभाष्यम्, गौणप्रयोजनानामनन्तरम्, कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः? किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्। किं पुनस्तत्? उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः, कश्चिदपवादः।

संस्कृतव्याकरणे लोकव्यवहारः

व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्॥^६ संस्कारक्रमसम्पन्नम् अद्भुतामविलम्बिताम्। उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्॥^७ आभ्यां श्लोकाभ्यां नितरां संसूच्यते यद् व्याकरणशास्त्रस्य परमोपयोगिता शब्दसाधुत्वविषये प्रयोगे च। यदि संस्कृतभाषा स्व-आरम्भकालाद् अद्यावधिपर्यन्तं विकृतिं विना तथैव लोके प्रयुज्यते, राराजते तर्हि तस्य मूले व्याकरणमेव।

लोकव्यवहारसाधकं व्याकरणम्-

उक्तवर्णनेन यथा साधुशब्दानां प्रयोगार्थं व्याकरणस्य परमावश्यकता प्रकटीकृता तथैव व्याकरणं लोकव्यवहारसाधकमपि भवत्येव। सर्वाणि शास्त्राणि लोकमनुसृत्यैव प्रथन्ते, अतः साक्षाल्लोकाय अपि तेषां संरचना कथं न साधीयसी स्यात्। यथा काव्यानां प्रयोजने तस्य व्यवहारकारयितृशक्तित्वेनापि गणना क्रियते^८ तथैव एतदपि शास्त्रम्। निदर्शनार्थं यथा लोके अनेकाः संज्ञाः, नियमाः, विधानानि, अधिकाराः इत्यादयः लोकाचाराय प्रयुज्यन्ते तथैव व्याकरणशास्त्रेऽपि संज्ञादीनामबाधगत्या प्रयोग आचार्येण पाणिनिना विहितः, येन लोका लोकव्यवहारं शिक्षयेयुः। सूत्राणां स्वरूपनिदर्शने अग्रलिखितः श्लोकः सर्वदा पठ्यते- संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥ एतत् षड्विधत्वं साक्षादेव लोकव्यवहारपथप्रदर्शकत्वम् अस्य शास्त्रस्य निरूपयति। अत एव आचार्यः श्रीगोपालशास्त्री दर्शनकेशरी मनुते यद् व्याकरणं केवलं पदसिद्धि-संसाधकमेव न अपितु द्विजत्वसम्पादकं समाजशास्त्रादिप्रवर्तकमपि-समाजशास्त्रावगतिर्भवेदितस्तथेतिहासादि नयादि बुद्ध्यते। न केवलेयं पदसिद्धिसंहिता द्विजत्वसम्पादन-सञ्चिकाद्भुता॥^९ व्याकरणस्य लोकव्यवहारसाधकत्वं कथं विद्यते तदेव अत्र प्रतिपाद्यते।

संज्ञया (नामकरणेन) लोकव्यवहृतिः -

लोके स्थान-देश-वस्त्वादीनां नामकरणं क्रियते, येन व्यावहारिकी स्थितिः सुचारुरूपेण गतिमती भवेत्। तत्र देश-स्थानादयः संज्ञित्वेन अथवा संज्ञकत्वेन परिगृह्यन्ते तथा तेषां या संज्ञा भवति तदेव तस्य स्थानस्य वस्तुनः अभिधानं भवति। सर्वश्च तद्द्वारा लोकव्यवहारः प्रचलति। यथा- हस्ती, गजः, गौः, अश्वः, पुरुषः, स्त्री इत्यादयः शब्दाः जातिविशिष्टस्य प्राणिनः प्रबोधकाः। अश्वशब्देन अश्वः कीदृशः? कीदृशी तस्य उच्चता? कति पादाः? कीदृशो वर्णः - गौरः, श्यामलः, कर्बुरः इत्यादिप्रकारेण तस्य सर्वप्रकारको बोधः समुत्पद्यते। एवमेव आचार्येण पाणिनिना स्वव्याकरणशास्त्रे अनेकाः संज्ञाः परिकल्पिताः यासां साहाय्येन व्याकरणस्य सर्वो व्यवहारः प्रचलति। अण्-अच्-हल्-अल्-इक्-जश्-प्रभृतयः एतादृश्यः संज्ञाः सन्ति याः प्रत्याहारसूत्रैः संसृष्टाः। अच्संज्ञया समस्त-संज्ञीभूत-स्वरवर्णानां बोधो जायते एवमेव हल्संज्ञया समस्तव्यञ्जन-वर्णानामवबोधः। अला समस्तस्वरव्यञ्जनां ज्ञानम्। अन्याश्च पद-घु-घि-नदी-संहिता-संयोग-आदि-बहुसंख्यकाः संज्ञाः संकल्पिता आचार्येण स्वव्याकरणशास्त्रस्य लघुतायै। एतासां संज्ञानां लोकवत्

६ वाल्मीकिरामायणम् ४.३.२९

७ तदेव ४.३.३२

८ काव्यप्रकाशः १.२, काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे....

९ भूमिका, पृष्ठसंख्या-०९, पाणिनिविरचिता अष्टाध्यायी, सम्पादकः - श्रीगोपालदत्तपाण्डेयः, चौखम्बा-सुरभारती-प्रकाशनम्, वाराणसी, संस्करणम् २०१३ ईस्वीसंवत्

प्रयोगः व्याकरणप्रक्रिया-निर्वाहार्थं सम्पद्यते। इको यणचि^{१०} इत्यत्र त्रिपदात्मकेऽस्मिन् सूत्रे प्रत्येकं पदं विशिष्टप्रयोजनेन परिभाषासूत्रैः^{११} संगत्य सुद्ध्युपास्यः इत्यादिषु उदाहरणेषु कार्यव्यापारं करोति। लोकेऽपि कश्चिदेकः सर्वं साध्यं नैव साधयति, अनेके जनाः साहायका भवन्ति। अत्र कार्यकरणे लोका अपि सम्मिल्य सर्वदा सर्वथा श्रेष्ठं कार्यसम्पादनं कुर्युः इत्थं सम्प्रेर्य मानवम् उपकरोति व्याकरणम्। संज्ञया लोकव्यवहारः सम्यक् साधुतया च भवति इत्यपि प्रबोधयति व्याकरणम्।

एकसंज्ञाकरणम्-

कुत्रचिदेकैव संज्ञा यथा लोके उपयोगिनी भवति तथैव व्याकरणशास्त्रेऽपि। आकडरादेका संज्ञा^{१२} इति अधिकारसूत्रद्वारा इतः अग्रे कडाराः कर्मधारये^{१३} सूत्रपर्यन्तं या याः संज्ञा विहिता तासु एकस्य एकैव संज्ञा भवति, द्वे संज्ञे न। तत्रापि या परा अनवकाशा च सा करणीया भवति इति व्यवस्था। भिन्न-भिन्नस्थानेषु यासां प्रवृत्तिर्जाता ताः सावकाशाः कथ्यन्ते, तयोर्मध्ये कस्या प्रवृत्तिर्भवेत् इत्यत्र विप्रतिषेधे परं कार्यम्^{१४} इत्यनेन परसूत्रप्रतिपादिता संज्ञैव जायते। एका सावकाशा अपरा च अनवकाशा अनयोर्यदि युगपत् प्रवृत्तिः कुत्रचिज्जायते तदानीं अनवकाशसंज्ञाया एव प्रवृत्तिर्जायते अन्यथा तस्या करणस्य नैव किमपि औचित्यं भवति। अत एव स्वादिष्वसर्वनामस्थाने^{१५} इत्यनेन सर्वनामस्थानसंज्ञकप्रत्ययान्^{१६} विहाय चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादस्थ-सु-प्रत्ययादारभ्य पञ्चमाध्यायान्तस्य कप्रत्ययपर्यन्तं ये स्वादिप्रत्ययाः सन्ति तेषु परेषु पूर्वशब्दसमुदायस्य पदसंज्ञा जायते परं तत्रैव आचार्येण अन्यसूत्रमपि प्रत्यपादि- यचि भम्^{१७} इत्यनेन स्वादिप्रत्ययस्थेषु यकारादि-अजादि-प्रत्ययेषु परेषु असर्वनामस्थानेषु पूर्वस्य भसंज्ञाऽपि विहिता। एवं स्वादिकप्रत्ययान्तेषु यत्र हलादयः यकारादयः अजादयश्च येऽपि प्रत्यया भविष्यन्ति सर्वत्र पूर्वं पदसंज्ञायाः प्राप्तिर्विद्यते। भसंज्ञा अनवकाशा। अतः अनवकाशा भसंज्ञा यदा उक्तप्रकरणे भविष्यति तदानीं यकारादि-अजादिप्रत्ययेषु भसंज्ञा भविष्यति अन्यत्र हलादिप्रत्ययेषु परेषु पदसंज्ञा भवति एकसंज्ञाप्रकरणत्वात्। एवं स्पष्टीभवति यत् पुल्लिङ्गे स्त्रीलिङ्गे च सर्वनामस्थानप्रत्ययान् विहाय शस्-टा-डे-डसि-डस्-ओस्-एते सर्वे

१० पाणिनीया अष्टाध्यायी ६.१.७४

११ व्याकरणे सामान्यरूपेण सूत्राणि निगदितानि। तत्र नियमार्थं परिभाषासूत्राणि समर्थतामापादयन्ति। अत एव अनियमे नियमकारिणी परिभाषा भवति। यथा अत्रैव पा० १.१.४८, षष्ठी स्थानेयोगा इत्यनेन सम्बन्धविशेषहीना या षष्ठी भवति तया सह स्थाने शब्दस्य योगो जायते। यथा इकः इत्यत्र इकः स्थाने यण् जायते। पा० १.१.६५, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य इत्यनेन अचः पूर्वविद्यमानस्य व्यवधानरहितस्य इकः स्थाने एव यण् जायते। तृतीयं परिभाषासूत्रं विद्यते- पा० १.१.४९ स्थानेऽन्तरतमः अनेन स्थानकृता आन्तर्येण यकारादेश एव भवति, अन्या व्, र्, ल् एते यण् वर्णा न।

१२ तदेव १.४.१

१३ तदेव २.२.३८

१४ तदेव १.४.२

१५ तदेव १.४.१७, कप्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात्।

१६ तदेव १.१.४२, सुडनपुंसकस्य इति सूत्रेण सु-औ-जस्-अम्-औट्-इत्येताः पञ्च प्रत्ययाः नपुंसकलिङ्गं संत्यज्य सर्वनामस्थानसंज्ञका भवन्ति।

१७ तदेव १.१.१८

प्रत्ययाः अनुबन्धरहिता अजादयः स्वादिपरकाः सन्ति अत एतेषां परे सति पूर्वशब्दसमुदायस्य भसंज्ञा भवति अन्यत्र भ्याम्-भिस्-भ्यस्-नुटा सह आम्-सुप्-एते सर्वे हलादयोः, अतः एभ्यः पूर्वं पदसंज्ञा भवति। नपुंसके तु सु-प्रत्यये पदसंज्ञा, औ-अम् प्रत्ययोः परयोः भसंज्ञा, जश्शसोः सर्वनामस्थानत्वाद्^{१८} उभयोरेव अप्राप्तिः। एवमेव लोकेऽपि संज्ञाकरणम् अवलोक्यते, गृहे अन्यत्र अभिधानं भवति विद्यालयादिषु अन्यम्।

कर्तव्यकर्मणि निष्ठा-

व्याकरणशास्त्रे सूत्राणां कर्म प्रति कर्तव्यनिष्ठता अपि अनिर्वचनीया। यदपि विधानं कर्मकरणाय विहितं विद्यते तदनुरूपा तस्य प्रवृत्तिर्जायते एव। यथा- **प्र+एजते** अथवा **उप+ओषति** इत्यत्र उभयोरुदाहरणयोः अकारोत्तरयोः अच्स्वरूपयोः ए-ओ-वर्णयोः परे सति प्रथमं तावत् सामान्यतः पूर्वपरयोः स्थाने **आहुणः**^{१९} सूत्रेण एकादेशो गुणः प्राप्नोति, परं अस्य अन्यत्र अवकाशत्वात् **वृद्धिरेचि**^{२०} सूत्रम् आगत्य निवेदनं करोति एच्चत्याहारगतवर्णयोः परे पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूपकर्मकरणाय। यदा एतत् सूत्रं वृद्धिं कर्तुं प्रयतते एव तदानीम् अन्यस्य **एङि पररूपम्**^{२१} सूत्रस्य आविर्भावो जायते। एतदेडादौ धातौ परे पररूपकरणाय स्वकीयाम् उपस्थितिं प्रस्तौति। एवं वृद्धिं प्रबाध्य वृद्धेरपवादभूतं पररूपमत्र प्रवर्तते। अन्यत्र **उपैति उपैधते** उदाहरणयोः अस्यापि सूत्रस्य **एत्येधत्त्यूट्मु**^{२२} सूत्रं पूर्वपरयोः स्थाने अपवादरूपं वृद्धिरूपकार्यं सम्पादयति। अत्र चतुर्णां सूत्राणां कर्मसम्बन्धिनी प्रवृत्तिः क्रमशः भवति। सर्वाणि कार्याणि एकमेव सूत्रं लोभवशात् नैव कर्तुं प्रयतते, यथा **आहुणः** सूत्रं सर्वत्र अचि परे सति पूर्वपरयोः स्थाने एकगुणादेशं कर्तुं शक्नोति, परन्तु अन्येषां कृते अन्यत्रसावकाशत्वाद् अपवादसूत्रं प्रति औदार्यभावं प्रदर्श्य तमेव कार्यं कर्तुमवकाशं ददाति। एवम् अवलोकयामो यद् व्याकरणशास्त्रं मानवं निष्ठाभावेन कर्तव्यं कर्तुम् अन्योक्त्या कथयति प्रेरयति वा। यदि जागरूकतया अनासक्तभावेन कर्मकरणे मानवस्य प्रवृत्तिर्जायते तर्हि सर्वत्र सुखस्य शान्तेर्वा वर्षा नैरन्तर्येण जायेत एव। कीदृशः स्पृहणीयः स्तुत्य औदार्यभावः कार्यव्यापारे च कुशलताभावः अत्र सूत्रेषु आचार्येण पाणिनिना प्रदर्शितः अनुकर्तुं लोकव्यवहाराय। अतो नैव मानवेन लोभवशीभूय एतादृशं कर्म कर्तव्यं येन अन्येषु मानवेषु विक्षोभ आगच्छेत्, अराजकता प्रसृता भवेत् लुण्ठनं चौर्यं च करणे मानवाः सन्नद्धा भवेयुः। यदि एक एव कम्पनीं निर्माय अकूतां धनसम्पत्तिं स्वाधीनमेव कर्तुं प्रयतिष्यते तदानीं अन्ये विपद्ग्रस्ता लुण्ठनादि-उक्तकर्मणि एव व्यापृता भविष्यन्ति अन्यत्र अनवकाशत्वात्। लोके यथा कश्चित् क्षुधातुरः अन्यश्च तृप्तः तत्र तयोर्मध्ये अन्नदानं यदि करणीयं भवति तदानीं क्षुधातुरायैव दीयते, अन्यथा समाजस्य महती हानिः भवति। अतः अन्येषां कृतेऽपि अवकाशो देयः इत्येव लोकव्यवहारः एतादृशेषु सूत्रेषु प्रदर्शितः।

१८ तदेव १.१.४१, शि सर्वनामस्थानम्। क्लीबाद् जश्शसोः शिः भवति जश्शसोः शिः ७.१.२०।

१९ तदेव ६.१.८४, अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात्।

२० तदेव ६.१.८५, आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्।

२१ तदेव ६.१.९१, आहुपसर्गादिडादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात्।

२२ तदेव ६.१.८६, अवर्णादिजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशो भवति।

अधिकारक्षेत्रम्-

व्याकरणशास्त्रे अनेकानि अधिकारसूत्राणि तानि स्व-स्वक्षेत्रेष्वेव कार्याणि कुर्वन्ति। अधिकारक्षेत्रात् पूर्वं पश्चाद्वा न प्रयतन्ते कार्यकरणाय। यथा- कारके १.४.२३ सूत्रस्य अधिकारः १.४.५५ सूत्रपर्यन्तं गच्छति। प्रत्ययः ३.१.१ परश्च ३.१.२ इत्यनयोः पञ्चमाध्यायस्य समाप्तिपर्यन्तम् अधिकारोऽस्ति। धातोः ३.१.९१ सूत्रस्य अधिकारक्षेत्रं ३.४.११७ सूत्रपर्यन्तम्। अङ्गस्य ६.४.१ सूत्रस्य अधिकारक्षेत्रं सप्तमाध्यायस्य समाप्तिं यावद् विद्यते। इत्येवम् अनेकानि अधिकारसूत्राणि कार्यव्यापाराय आचार्येण अनेकत्र स्थानेषु अष्टाध्यायीग्रन्थे संस्थापितानि तानि च अधिकारसूत्राणि स्वकीयस्य न किमपि प्रयोजनं सिध्यति अपितु अपरेषामेव कार्यव्यापारं सम्पाद्य कृतकृत्यतां सम्पादयन्ति। एवं लोकव्यवहारेऽपि अधिकारिणः स्वाहंकारभावं परित्यज्य लोकोन्नतये स्वाधिकारस्य प्रयोगं कुर्युः तर्हि का स्थितिः राष्ट्रस्य स्यात्? स्वयमेव वितर्कः कार्यः। पूर्वत्राऽसिद्धम् ८.२.१ इति सूत्रमपि अधिकारसूत्रम्। अस्य अधिकारः अष्टमाध्यायस्य अ अ ८.४.६७ इति अन्तिमसूत्रपर्यन्तं गच्छति। एतत् सूत्रं सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्याः असिद्धतां निरूपयति, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रम् असिद्धवत् परिगण्यते। अत एव हर इह इत्यत्र उदाहरणे लोपः शाकल्यस्य ८.३.१९ सूत्रकृतं यकारलोपकार्यम् असिद्धत्वात् आहुणः ६.१.८४ सूत्रं मध्ये एव अवलोकयति, अतः गुणकार्यं न भवति। लोकेऽपि एतादृशाः व्यापारा अवलोकयन्ते व्यवहारे। बहवो जनाः कथयन्ति नैतत् कर्म अनेन कृतम्।

सदृशचयनम्-

संस्कृतव्याकरणे स्थानिनः स्थाने सदृशाणाम् आदेशानां व्यवस्था कर्तव्येति स्थानेऽन्तरतमः^{२३} परिभाषासूत्रेण निर्धारिता विद्यते। उदाहरणेषु स्थानी एको भवति तस्य स्थाने च अनेकानाम् आदेशानां प्राप्तिर्जायते। यथा- सुधी + उपास्य इत्यत्र सन्धिकार्ये ईकारस्य स्थाने यणभूतानां चतुर्णामादेशानां प्राप्तिर्भवति। तत्र क आदेशः करणीयो विद्यते इति आशङ्कयाम् उदितायां सर्वतोभावेन अन्तरङ्गताया व्यवस्था सुचिन्त्य उक्ता पाणिनिना आचार्येण। इयम् अन्तरतमता सदृशतमता अर्थ-स्थान-प्रयत्न(गुण)-मात्रादृष्ट्या चतुर्विधा^{२४} भवति। अत्रोदाहरणे स्थानदृष्ट्या सदृशतमताकारणाद् तालुस्थानीय-ईकारस्य स्थाने तालव्यो यकारो भवति। कुत्रचित् प्रयत्नदृष्ट्या स्थानिनः स्थाने आदेशा भवन्ति। यथा- उत्थानम् उदाहरणे उद् + स्थानम् इत्यत्र सकारस्य स्थाने पूर्वसवर्णादेशो भवति।^{२५} दकारस्य त्-थ्-द्-ध्-न् पञ्च वर्णाः सवर्णाया विद्यन्ते तर्हि सकारस्य स्थाने क आदेशः स्यात् दन्तस्थानीयास्तु सर्वे एव अतस्ते न भविष्यन्ति। अर्थकृत-प्रमाणकृतयोः आन्तर्ययोरत्र अभावः। अतः प्रयत्नकृत-अन्तरतमता अवलोकनीया। द्वौ आभ्यन्तरबाह्यप्रयत्नौ, तयोः सकारस्य ईषद्विवृतत्वात् पृथग् आभ्यन्तरप्रयत्नं तकारादीनां स्पृष्टत्वात् पृथग् एतस्मान्न समानता। अतः बाह्यप्रयत्ने अन्तरङ्गता दर्शनीया। तत्र सकारः विवार-श्वास-अघोष-महाप्राणवान् तादृशः एव गुणवान् थकारः, अत आदेशत्वेन अस्य प्रवृत्तिर्जायते। अर्थकृतान्तर्यं कस्यापि शब्दस्य स्थाने अन्यः शब्दः यदा आदिश्यते तत्र प्रायः भवति। यथा- उकारान्तस्य क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने अर्थदृष्ट्या तादृशः

२३ तदेव १.१.४९

२४ सूत्रव्याख्याग्रन्थेषु प्रायः सर्वत्र अन्तरङ्गतानां विवरणं विद्यते।

२५ पा० ८.४.६०, उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य।

संस्कृतव्याकरणे लोकव्यवहारः

तृजन्तः क्रोष्ट आदेशो भवति। प्रमाणकृत-सादृश्यं काल-मात्रादृष्ट्या निर्धार्यते। एकमात्रिकस्थानिस्थाने एकमात्रिक आदेशः स्यात् द्विमात्रिकस्थानिस्थाने द्विमात्रिकः। यथा- अमुष्मै, अमूभ्याम् उदाहरणयोः ह्रस्व-अकारस्य स्थाने ह्रस्वोकारस्य, दीर्घस्य स्थाने च दीर्घोकारस्य आदेशौ क्रमशः प्रमाणकृत-आन्तर्यत्वादेव भवतः।^{२६} एवं व्याकरणे यथा सादृश्येन चयनं क्रियते तथैव लोकेऽपि समस्तव्यापारेषु व्यवहारेषु चयनं विधातव्यं लोकैः। लोके विवाहादिकार्यक्रमेषु वरचयने वधूचयने वा उक्ता चतुर्विधा अन्तरङ्गतैव आचर्यते। विभिन्नप्रशासनिक-अध्यापन-शिक्षकेतर-पदेष्वपि चयनस्य प्रक्रियापि एतादृशी एव।

पारिभाषिकवाक्यैर्व्यवहारपरिज्ञानम्-

व्याकरणशास्त्रे सूत्रग्रन्थवत् पारिभाषिकग्रन्थो^{२७}ऽपि प्रामुख्यमावहति। तत्र अनेकाः परिभाषाः आगच्छन्ति याः लोकव्यवहारं शिक्षयन्ति। द्वित्राः परिभाषाः उपस्थाप्यन्तेऽत्र। यथा- **व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्** सर्वत्र व्याकरणे एव न अपितु लोकव्यवहारेऽपि विशेषा प्रतिपत्तिर्यावन्न भवेत् तावद् अविश्वासो न करणीयः, जनाः कस्यापि कृते किमपि कथयितुं पारयन्ति, अतः तस्मिन् विषये परीक्षा अवश्यं कर्तव्या अन्यथा विशेषा हानिः सम्भाव्या भवति। **यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते** इयं परिभाषा व्याकरणशास्त्रस्य आगमानां महत्त्वं कथयति, अर्थाद् आगमकार्यं यं भवति तादृशगुणयुतं तदपि भवति। एवं लोकेऽपि यादृशेन जनेन सह कश्चित् सामान्योऽपि यदि आयाति तदानीं तस्य पूजनं सत्कार्यं तथैव कर्तव्यम् इति निर्दिश्यते। **असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे** इत्यत्रापि लोकव्यवहारनैपुण्यं साक्षादेव। अन्तरङ्गकार्यमेव पूर्वं सम्पादनीयं भवति ततः बहिरङ्गाणि कार्याणि अवलोक्यन्ते। **एकदेश-विकृतमनन्यवद्भवति** एकदेशविकृत्या कश्चिदपि अन्यथात्वं न भजते। यथा- पचतु इत्यत्र इकारस्य स्थाने उकारादेशे सति तिङ् तिङ्त्वं न जहाति। तेन पदादिसंज्ञा जायन्ते एव। एवं लोकेऽपि खञ्जः काणः खल्वाटः कश्चित् कदाचिद् यदि भवति तदानीं तस्य नरत्वं न लुप्यते।

एवमुक्तेन विवरणेन वक्तुं शक्नुमो यद् व्याकरणशास्त्रं साधुशब्दान् प्रवर्तयन्नपि तद्द्वारा लोकव्यवहारमपि अध्येतृन् शिक्षयति। यथा वयं जागरूका भवेम। साधुशब्दानां प्रयोगेण च माधुर्यं वाचि यदा आगमिष्यति तर्हि तदनु रूपं मनसि आत्मनि च पवित्रताया अपि आविर्भावो भविता एव इत्यत्र नास्ति सन्देहस्य लवोऽपि।

२६ तदेव ८.२.८०, अदसोसेर्दादु दो मः, अदसोसान्तस्य दात् परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य- उः. दीर्घस्य- ऊः।

२७ नागेशभट्टस्य परिभाषेन्दुशेखरः महत्त्वपूर्णो ग्रन्थः। आचार्यप्रद्युम्नेन सम्पादितः पारिभाषिकः ग्रन्थः।

आचार्य शंकर का सामाजिक चिन्तन

प्रो. ब्रजेश कुमार पाण्डेय^१, डॉ. विवेक कुमार शुक्ल

भारतीय इतिहास में दार्शनिक एवं सामाजिक क्रान्ति के प्रणेताओं में आचार्य शंकर का नाम अन्यतम है। आचार्य शंकर “अद्वैत”^२ का संदेश लेकर देश में व्याप्त बौद्धिक एवं सामाजिक अनाचार को समाप्त करके सभी को एक सूत्र में पिरोने के लिये निकले थे। आचार्य ने ही पञ्चायतन का पूजन प्रारम्भ कर विभिन्न सम्प्रदायों को एक-दूसरे के आराध्य देवों के प्रति केवल सहिष्णुता का भाव ही नहीं भरा अपितु सभी देवताओं के प्रति अपने इष्टदेव के माध्यम से वही श्रद्धा एवं आदर का भाव व्यक्त करने को प्रेरित किया। इसी क्रम में चार धामों के समान ही उन्होंने समाज को धर्म-मार्ग पर नियन्त्रित एवं अनुशासित रखने के लिये भारत के चारों कोनों में चार मठ स्थापित किये जो सम्पूर्ण भारत को सांस्कृतिक व भौगोलिक एकता के सूत्र में बान्धते हैं।

उनका दार्शनिक चिन्तन एवं उनके समस्त विचार भारत की एकात्मता तथा अखण्डता को अनुप्राणित करते हैं। जिसमें ‘तत्त्वमसि’ ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ ‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ ‘अहं ब्रह्मास्मि’ जैसे महावाक्यों एवं प्रस्थानत्रयी की व्याख्या इस बात का प्रमाण है। इन्हीं सिद्धान्तों को समाज में स्थापित करने के लिये आपने संन्यास ग्रहण किया। वस्तुतः आचार्य ने कर्म संन्यास लिया था, जिसका अर्थ कर्म छोड़ना नहीं, अपितु कर्म करना है, देश और धर्म के हितार्थ कर्म करना जो मनुष्य को कर्मफल के बन्धन में नहीं बांधते हैं। आचार्य के समस्त सिद्धान्तों को सम्प्रति समाज जीवन में लाकर पुनरपि भारतवर्ष को वैभवशाली बनाया जा सकता है। प्रस्तुत शोध पत्र में आचार्य शंकर के इसी सामाजिक चिन्तन का विमर्श है।

सामान्यतः अद्वैत वेदान्त के प्रति ऐसी धारणा है कि यह जीव और ब्रह्म की दार्शनिक आवधारणा पर ही केन्द्रित है। किन्तु इस सन्दर्भ में समाज में यह भी अनुभूति का विषय रहा है कि कोई भी आचार्य या चिंतक जीवन के यथार्थ की उपेक्षा कर विद्वानों से किञ्चित भी प्रशंसा का पात्र नहीं बन पाया है। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य को सिद्ध करने में विशेष रूप से प्रवृत्त रहा है। यह व्यवस्था व्यावहारिक धरातल पर सम्पूर्ण समाज को एकरस करती है, यही आदर्श व्यवस्था है। किन्तु इस दिशा में कुछ विद्वानों का विचार यह भी हो सकता है कि अद्वैत वेदान्त दर्शन की न तो कोई समाज व्यवस्था है और न ही इस प्रकार की व्यवस्था में इस दर्शन की कोई रुचि है। कहने को तो वे यह भी कह सकते हैं कि ब्रह्मवेत्ताओं को समाज का ज्ञान नहीं होता है और वह असामाजिक होते हैं। उन्हें न तो समाज के प्रति कोई स्नेह है न ही सामाजिक व्यवस्थाओं से उनका कोई सरोकार है। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त व आचार्य शंकर के विषय में इस प्रकार कहना जल्प भाषण मात्र है। जो इस प्रकार की अभिधारणा रखते हैं, उन्होंने इस महनीय

^१ Professor, School of Sanskrit and Indic Studies, Jawaharlal Nehru University, ११००६७

^२ अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः। (शांकर भाष्य - १.१०)

अतुलनीय दर्शन को समझा ही नहीं है। इतना ही नहीं, उन्होंने इस विषय के परिप्रेक्ष्य में मिथ्या अवधारणाएं भी बना रखी हैं।

आचार्य शंकर इस प्रकार की अवधारणाओं का खण्डन करने के लिये ही तीन प्रकार की सत्ताओं की प्रतिष्ठापना करते हैं- १. 'प्रातिभासिक सत्ता २. व्यावहारिक सत्ता ३. पारमार्थिक सत्ता'^३। जब तक व्यक्ति मिथ्याज्ञान को सत्य समझता है, तब तक उसके लिये वही सत्य है। जैसे कि स्वप्न देखने वाला व्यक्ति स्वप्न को ही ठीक समझता है परन्तु निद्राभंग होने पर उसे स्वप्न का आभास होता है और सत्य की प्रतीति होती है। इसी प्रकार जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं हो जाता है, तब तक व्यावहारिक एवं सामाजिक जीवन ही सत्य प्रतीत होता है। आचार्य शंकर व्यावहारिक सत्ता में जीवन और जगत् दोनों को ही मिथ्या नहीं मानते हैं। इसका प्रमाण उनकी रचनाएं हैं, जिसमें विशेषकर स्तोत्र हैं। क्योंकि ज्ञान से पहले व्यक्ति को स्वयं के व्यावहारिक जीवन तथा स्वयं के आसपास के समाज जगत् के प्रति दायित्वपूर्ण जीवन-यापन करना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्र भी उसे इस व्यावहारिक जगत् को मिथ्या मानने की अनुमति कभी प्रदान नहीं करता है।

इस दर्शन को मात्र आध्यात्मिक मानने वालों का तर्क इस आधार पर होता है कि अद्वैत वेदान्त में मात्र ब्रह्म ही सत् है, जगत् तथा अन्य जीवों की सत्ता व एकात्मता असत् है। अतः असत् वस्तु में कोई सामाजिक व्यवस्था या कोई उद्देश्य अथवा प्रयोजन का अन्वेषण करना निरर्थक है। इस दर्शन का सामाजिक व्यवस्था से कोई लेना देना नहीं है इसलिये ही वह ऐसा मानते हैं। वस्तुतः इस अवधारणा को आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त को शास्त्रीय तर्कणाओं को विश्लेषित करते हुये बताया है। साथ ही इसे व्यावहारिक आधार भी प्रदान किया है। आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त दर्शन के समस्त सिद्धान्तों को मनुष्य जीवन के साथ सम्बद्ध कर तदनुकूल इन की उद्भावना की है। इन सभी बातों का व्यवहार करते समय भी हमें इस दिशा में सर्वदा सावधान रहना चाहिये। इतना ही नहीं आचार्य शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों की सामाजिक व्याख्या भी अन्यान्य आचार्यों ने की है, जिसमें पं. दीनदयाल उपाध्याय प्रमुख हैं। इस विषय का विवेचन भी इस शोध पत्र में यथावसर किया जायेगा।

आचार्य शंकर के सामाजिक चिन्तन के विषय में जब हम विचार करते हैं तो ध्यान में आता है कि वह अपने बाल्यकाल से ही सामाजिक कार्यों में रुचि रखते थे, जिसके शास्त्रों में अनेक प्रमाण हैं। उदाहरणार्थ अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् जब "आचार्य शंकर दिग्विजय यात्रा की ओर प्रवृत्त हुये, तो यात्रा से पूर्व उन्होंने शंखध्वनि की, जिससे चारों ओर का वातावरण गूँज उठा। कर्ण कुहरों में तेल डालकर बैठे हुये कर्महीनों के छिद्र खुल गये। वामियों, अवैदिकों, म्लेच्छों के हृदय दहल गये। प्रपञ्ची पर कटे हुये पक्षियों की भांति छटपटाने लगे। भेदभाव अपने भंवर में ही चक्कर खाने लगे। भीरुता भय खा गई, कायरता कूच कर गई, समन्वयता गगन मण्डल में छा गई। ऐसा लग रहा था मानो सरलता और शान्ति के साम्राज्य की मानो घोषणा हुयी है। ऐसे वातावरण में शूरता सभी के शिर पर सवार थी, वीरता बाहों में भर गई थी, दया हृदय में उमड़ गई थी। अभेद और अद्वैत आनन्दतिरेक से बाहर हो रहे थे"^४।

३ वेदान्तसार, मुसलगांवकर, गजानशास्त्री। भूमिका, पृ. १७,

४ जगद्गुरु शंकराचार्य, उपाध्याय, दीनदयाल, पृ. ६२,

इस सहिष्णुता की भूमि भारत पर उन्हें अपने जीवन का न तो डर था न ही मोह। क्योंकि वो सम्पूर्ण भारत में जनान्दोलन के लिये निकले थे, सामाजिक कार्यों के लिये निकले थे। इस आन्दोलन के समस्त साधन भी आचार्य शंकर के पास थे। ज्ञान की ढाल और वैराग्य का कवच उन्होंने धारण किया था। प्रस्थानत्रयी ही उनके अस्त्र-शस्त्र थे और शिष्य वर्ग ही उनकी सेना थी। यह सेना माँ गंगा की स्तुति करते हुये आगे बढ़ रही थी और जोर से उद्घोष कर रही थी-

**‘भगवती तव तीरे नीरमात्रशनोऽहं, विगतविषयतृष्णा कृष्णामाराधयामि।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपानसङ्गे, तरलतरतरङ्गे देवि गङ्गे प्रसीद’^५ ॥**

**‘आदावादिपितामहस्य नियमव्यापारपात्रेजलं,
पश्चात्पन्नगशायिनो भगवतः पादोदकं पावनम्।
भूयःसम्भुजटाविभूषणमणिर्जन्होर्महर्षेरियं ,
कन्या कल्मषनाशिनी भगवती भागीरथी पातु माम्’^६ ॥**

इस प्रकार आचार्य शंकर जहां-जहां से गुजरते, वहां का पूरा समाज उनके पीछे चल पड़ता। ऐसा करते हुये उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। ‘इस पूरी यात्रा में उन्होंने गंगा को अपना राजचिन्ह बनाया था। क्योंकि गंगा मलिन नाले को भी अपने में मिलाकर अपने जैसा पवित्र और पुण्यप्रद बना देती है’^७ सामाजिक समरसता का यह सर्वोत्तम उदाहरण है। यह योग्यता रखने के कारण ही माँ गङ्गा भारत की आत्मा का प्रतीक हैं। गंगा ही भारत की अभिव्यक्ति है। भारत के इतिहास की प्रतिमूर्ति है। भारतीय ज्ञान एवं परम्परा की जननी तथा संस्कृति का पोषण करने वाली है। इतना कुछ करने के पश्चात् आचार्य शंकर सम्पूर्ण भारत को एकात्मता का अनुभव कराना चाहते थे। पूरे भारत को अद्वैत का पाठ पढ़ाना चाहते थे, जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण भारत को सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप से अखण्ड करना था।

इस संकल्प का पुण्याहवाचन कर उन्होंने पूरे राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने एवं उसे सुसंगठित करने का सफल प्रयास किया। आज जिन्हें गौडपादाचार्य के प्रशिष्य और गोविन्दपादाचार्य के शिष्य होने का गौरव प्राप्त है, उन्हीं आचार्य शंकर का विश्व के दार्शनिकों में सर्वोच्च स्थान है, यह स्थान उनके सामाजिक तथा सांस्कृतिक चिन्तन के कारण ही प्राप्त है। आचार्य शंकर का दर्शन उनके प्रतिपाद्य ब्रह्म के समान ही पूर्ण है। उनका यह दर्शन पूर्णतः समाज के कल्याण का दर्शन है।

पंचायतन पूजन के सन्दर्भ में आचार्य शंकर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति पांच देवताओं - विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति और सूर्य की पूजा करता है। “अपनी श्रद्धा के अनुसार अपने इष्टदेव को बीच में तथा चारों ओर अन्य देवताओं को रखकर पूजन करने की उसे छूट है”। परन्तु इसके मूल में भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के एकीभाव की भावना ही रहती है। भगवत्पाद आद्य शंकराचार्य ने तत्कालीन परिस्थितियों में ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों के उपासकों के मध्य संघर्ष का निराकरण करने व समन्वय स्थापित करने हेतु ‘पंचायतन पूजा’ पद्धति की स्थापना की। उन्होंने किसी की श्रद्धा पर आघात नहीं किया अपितु उनको समाहित करते हुये

५ जगद्गुरु शंकराचार्य, उपाध्याय, दीनदयाल, पृ.५९,

६ जगद्गुरु शंकराचार्य, उपाध्याय, दीनदयाल, पृ.६०,

७ गाङ्गं वारि न दुष्यति, नित्यकर्म-पूजा प्रकाश, पृ.११४,

सनातन धर्म की परम्परा का विस्तार एवं एकीकरण किया तथा सामाजिक सौहार्द्र को दिशा प्रदान की। इस विषय में गीता में भी कहा गया है कि **सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥**^८ इसी क्रम में चार धामों के समान ही उन्होंने समाज को धर्म मार्ग पर नियन्त्रित एवं अनुशासित रखने के लिये भारत के चारों कोनों में चार मठ स्थापित किये, जो सम्पूर्ण भारत को सांस्कृतिक व भौगोलिक एकता के सूत्र में बांधते हैं। इसके साथ ही उनका दार्शनिक चिन्तन एवं उनके समस्त विचार भारत की एकात्मता तथा अखण्डता को अनुप्राणित करते हैं। जिसमें 'तत्त्वमसि'^९ सर्वं खल्विदं ब्रह्म'^{१०} प्रज्ञानं ब्रह्म,^{११} अहं ब्रह्मास्मि,^{१२} एवं प्रस्थानत्रयी पर किया गया भाष्य इस बात का प्रमाण है। इन्हीं सिद्धान्तों को समाज में स्थापित करने के लिये आपने संन्यास ग्रहण किया। इनका संन्यास संसार को छोड़कर वन में तपस्या करना मात्र नहीं था। अपितु इन्होंने कर्म संन्यास लिया था, जिसका अर्थ कर्म छोड़ना नहीं, अपितु कर्म करना है, देश और धर्म के लिये कर्म करना जो सत्य है तथा मनुष्य को कर्मफल - बन्धन में नहीं बांधते हैं। इस प्रकार का उदात्त कर्म एवं चिन्तन समाज जीवन के प्रति आचार्य शंकर का रहा है। इन्हीं के सामाजिक सिद्धान्तों के आधार पर आज का भारत प्रगति कर रहा है, जिसमें व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है, सभी में एक ही आत्मतत्त्व है। आचार्य के सामाजिक दर्शन को सम्प्रति समाज जीवन में लाकर पुनरपि भारतवर्ष को वैभवशाली बनाया जा सकता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों के द्वारा सम्पूर्ण संसार को सच्ची शान्ति व सुख प्रदानकर भारत को जगद्गुरु के वास्तविक पद पर आसीन किया जा सकता है।

आचार्य शंकर व्यक्ति के नित्य जीवन और सामाजिक व्यवस्था की कभी भी उपेक्षा नहीं करते थे, क्योंकि वह इसी व्यवस्था को धर्म का नाम देते हैं। अद्वैतसंस्थापक आचार्य ने संन्यासी होते हुये भी अपनी माता की अन्त्येष्टि क्रिया की। उनका ब्रह्मानुभव जो सर्वोच्च अन्तर्ज्ञान से सम्पृक्त है, वह पारम्परिक जड़ता को ध्वस्त करने का कार्य करता है। व्यवहार एवं परमार्थ का यह अद्भुत संयोग सम्पूर्ण भारतीय परम्परा को, उनकी समझ को अत्युच्च धरातल पर प्रतिष्ठित कर देता है।

इसी में वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुलधर्म, राजधर्म आदि समाहित होते हैं। इस प्रकार से ये सभी धर्म सामाजिक जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये आचार्य शंकर इसे 'प्रवृत्तिलक्षण' धर्म कहते हैं, तदतिरिक्त जो धर्म है, उसे 'निवृत्तिलक्षण' धर्म कहते हैं, जिसका साक्षात् सम्बन्ध निःश्रेयस से है- **'द्विविधो ह्येवेदोक्तो धर्मः, प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च'**^{१३}। धर्म की परिभाषा करते हुये आचार्य शंकर कहते हैं- "जो जगत् की स्थिति प्राणियों की उन्नति तथा मोक्ष और कल्याण का हेतु है, जो ब्राह्मणादि वर्णाश्रम

८ गीता. १२/४

९ छान्दोग्य उपनिषद् ६/८

१० छान्दोग्य उपनिषद् ३/१४/१

११ ऐतरेय उपनिषद् १/२

१२ बृहदारण्यक उपनिषद् १/४/१०

१३ श्रीमद्भगवद्गीता शांकर भाष्य सहित, हिन्दी व्या. गोयन्दका हरिकृष्णदास, पृ. १३

अवलम्बियों द्वारा अनुष्ठित है, या फिर वर्णाश्रम धर्मियों से जिसका अनुष्ठान किया जाता है, वह धर्म है” “जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षाद् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैः वर्णिभिः आश्रमिभिः च श्रेयोऽर्थिभिः अनुष्ठीयमानः”^{१४}। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और कुछ नहीं अपितु व्यावहारिक तथा सामाजिक जीवन यापन करने का विधान ही है।

धर्म के नियमों की अनुपालना से व्यक्ति और समाज का अभ्युदय तो होता ही है, उसकी सुरक्षा भी बनी रहती है। वर्ण तथा आश्रम की व्यवस्था और उसमें बताये गये नियमों का युगानुकूल एवं अवस्था विशेष के अनुरूप पालन ही धर्म है। इन नियमों के सम्यक पालन करने से परिणामस्वरूप अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। आचार्य शंकर धर्म को सामाजिक व्यवस्था को ठीक करने का माध्यम समझते हैं। यदि समाज धर्म के विपरीत आचरण करेगा तो सामाजिक विघटन की समस्या होगी। जिसके कारण व्यक्ति, परिवार, समाज सभी प्रकार की संस्थाएं विश्रंखलित हो जायेंगी। अतः आचार्य शंकर धर्म के आधार पर ही समाज का मार्ग प्रशस्त करते हैं। सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार स्तम्भ वर्ण और आश्रम धर्म हैं। आचार्य शंकर ने स्वयं इसका समर्थन किया है। इसी क्रम में सामाजिक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में आचार्य के कुछ सिद्धान्त द्रष्टव्य हैं -

वर्णव्यवस्था - इस व्यवस्था के सन्दर्भ में आचार्य शंकर का चिन्तन पुरुष सूक्त तथा गीता में प्राप्त सन्दर्भों के अनुरूप ही प्राप्त होता है- पुरुष सूक्त के मन्त्रों में सामाजिक संरचना के उद्घरण स्पष्ट प्राप्त होते हैं, जिन पर आचार्य शंकर ने स्वयं व्याख्या भी की है। वस्तुतः वैदिक कालीन समाज में अनेक समाजों की कल्पना नहीं थी, तत्कालीन समाज में एकात्मक तथा एक समाज की अवधारणा थी। ऐसा भी हो सकता है, उस समय पृथ्वी पर केवल सनातन हिन्दू समाज ही रहा हो और अन्य समाजों की उत्पत्ति बाद के कालखंड में हुई हो। वैदिक ऋषि विश्व के समस्त समाजों को एक इकाई के रूप में देखते रहे हैं। ऋषियों की दृष्टि में किसी प्रकार का विभेद नहीं प्राप्त होता है। किसी भी स्थिति या परिस्थिति में वैदिक ऋषि एक समाज की संकल्पना को ही मानते थे।

ऋषि-मुनि समाज को रचना के आधार पर ‘गुण-कर्म’^{१५} सहित चार वर्गों में विभक्त करते हैं। वैदिक समय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये समाज के चार अभिन्न अंग थे, यह वर्गीकरण गुण और कर्मों के आधार पर था। इन वर्गों के अभिधान से ही इनकी विशेषता का भान होता है। ब्रह्म ही परम सत् है, इस प्रकार का उत्तम विचार रखने वाला वर्ग ब्राह्मण है। इस वर्ग का लक्ष्य जीवन में सर्वांगीण पूर्णता प्राप्त हो यही रहता है। इनका मन सात्त्विक और सन्तुलित है तथा वचन, व्यवहार बहुत ही सुसंस्कृत है। ‘क्षत्रिय के लिए ‘राजन्य’ इस पद का प्रयोग किया गया है’^{१६}। यह वर्ग समाज की तापों से रक्षा तथा संरक्षण देने वाला रहा है। यह वर्ग सत्पुरुषों की सेवा सम्मान के साथ दुष्टों के नाश के लिये सर्वदा तत्पर रहता है। न्याय और धर्म

१४ श्रीमद्भगवद्गीता शां.भा... शांकर भाष्य सहित, हिन्दी व्या. गोयन्दका हरिकृष्णदास, पृ.१३

१५ गीता, ४/१३ (चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः)

१६ मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,पृ.७२,

की रक्षा के लिये स्वयं का बलिदान करने के लिये भी सर्वदा तैयार रहता है। 'जिस प्रकार गीता में एक उद्धरण समाज रक्षा सम्बन्धी प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह वर्ग कार्य करता था' ^{१७}।

वैश्य-जन वस्तु अन्न आदि के उत्पादन और वितरण में रुचि रखते हैं। सम्पूर्ण समाज की आवश्यकताओं के साथ उनका भरण-पोषण करना भी इस वर्ग का उत्तरदायित्व है। इस प्रकार सभी प्रकार की समृद्धि से समाज को समृद्ध रखना इस वर्ग का कार्य है। समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो सभी की चिन्ता करते हैं, परन्तु स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य करना पसंद नहीं करते हैं। उनका विश्वास सबकी सेवा करने में होता है। 'इस वर्ग की संज्ञा 'शूद्र' इस पद से विभूषित की गई है'^{१८}। इस प्रकार के लोग सम्पूर्ण समाज की सेवा को ही अपना लक्ष्य मानते हैं।

यह वर्गीकरण चारों वर्गों के गुण और स्वभाव के आधार पर किया गया है तथापि कालान्तर के समाज में ऐसा प्रतीत होते देखा जाता रहा है कि ब्राह्मण वर्ण उच्च है और शूद्र वर्ण निम्न है। वस्तुतः याथातथ्य यह है कि उस एक ही निर्लेप निर्विकार परम पुरुष के ही सभी अंग हैं इसलिए इस प्रकार की श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ की किसी प्रकार की भावना का स्थान इस दार्शनिक व्यवस्था में शेष नहीं है।

तत्त्वतः सभी वर्ग एक ही हैं और समाज का घटक होने के कारण इन सभी का महत्व भी एक समान है, सभी में एक ही तत्त्व है। इन सभी में यदि परस्पर सामञ्जस्य और समझ का अभाव हो तो समाज का स्वस्थ स्वरूप कभी भी उभरकर सामने नहीं आ सकता है। जिस प्रकार शरीर के सभी अंग बिना किसी वैमनस्य के परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार इस समाज के सभी वर्गों को परस्पर पूरक बनकर कार्य करना चाहिए। सम्पूर्ण समाज की एक सूत्रता सर्वदा अक्षुण्ण रहनी चाहिए, जिस प्रकार शरीर का कोई अंग शरीर से पृथक् होकर शरीर का उपकार या सहयोग नहीं कर सकता है, उसी प्रकार कोई भी वर्ग समाजरूपी शरीर से पृथक् होकर न तो समाज का हित कर सकता है न ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इस वेदान्ताधारित एकात्म समाज को सामाजिक रूप से एकात्मता के आधार पर ही चलना चाहिए यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है, यही मन्त्र आचार्य शंकर ने समाज को प्रदान किया है।

आचार्य शंकर वर्ण व्यवस्था के कारण उपजी जाति व्यवस्था को बिल्कुल भी स्वीकार नहीं करते हैं, वह स्वयं कहते हैं-

“न मे मृत्युशंका न मे जातिभेदः, पिता नैव मे नैव माता न जन्मः।

न बन्धुर्नमित्रं गुरुः नैव शिष्यः, चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्”^{१९} ॥

इतना ही नहीं आचार्य शंकर ने तो स्वयं चाण्डाल की स्तुति भी की थी। इससे यह स्पष्ट है उनके अनुसार किसी व्यक्ति, वर्ण तथा जाति में भेद नहीं है -

१७ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। गीता ४/८

१८ मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ.७९,

१९ शंकराचार्य, निर्वाण षटकम्, मंत्र संख्या. ५

“यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्, न सुवृत्तं न दुवृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः।

गूढवर्माश्रितो विद्वान अज्ञातचरितं चरेत्, अश्ववत् जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्”^{२०} ॥

आचार्य शंकर ने अस्पृश्यता के विषय में कहा है कि- “यथा देहो अहं, पुरुषोऽहं, ब्राह्मणोऽहं, शूद्रोऽहमस्मीति, दृढा निश्चयस्तथा नाहं ब्राह्मणः, न शूद्रः, न पुरुषः, किंतु असंगः, सच्चिदानन्दरूपः प्रकाशरूपः सर्वान्तर्यामी”^{२१}। आचार्य शंकर वर्णव्यवस्था तथा लोकसंग्रह को उसी रूप में अधिकांशतः स्वीकार करते हैं, जिस रूप में गीता में स्वीकार किया गया है।

आश्रम व्यवस्था - सामाजिक व्यवस्था के रूप में उपनिषदों में आश्रम व्यवस्था की ओर भी संकेत किया गया है। सत्यकाम श्वेतकेतु आदि अनेक ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये गुरु के पास विद्या अध्ययन करते थे। उपमन्यु, पुलुष, मल्लिषि, शर्कराक्ष और उनके जो भी पुत्र हैं, वह सब गृहस्थ हैं। इनके धन सम्पदा से पूर्ण बड़े बड़े परिवार हैं। याज्ञवल्क्य ऋषि गृहस्थाश्रम का परित्याग कर परिव्राजक हो जाते हैं। परिव्राजक की विशेषता यह है कि यह संन्यास तथा गृहस्थ दोनों आश्रमों में आता है। उपनिषदों में मनुष्यों का वर्गीकरण वर्णाश्रम के अतिरिक्त प्रकारों से भी प्राप्त होता है, इसका आधार उनकी प्रवृत्ति है, यह प्रवृत्ति का आधार है। इसमें देव मनुष्य, साधारण मनुष्य और असुर तीन वर्ग बने हुये हैं। देव वह हैं, जिन्हें अपने शुभ कर्मों के आधार पर प्रचुर भोग सामग्री प्राप्त है और वह उसका आनन्द ले रहे हैं। मनुष्य वह वर्ग है, जो अपना सम्पूर्ण समय धन के संरक्षण और संवर्धन में लगाते हैं। असुर वह है, जो दूसरों को पीड़ा पहुंचाकर भोग सामग्री को अनैतिक रूप से प्राप्त करता है, ‘ऐसे लोग स्वयं सुखी नहीं होते हैं परन्तु सुखी दिखाने का प्रयास करते हैं’^{२२}। इस प्रकार से उपनिषदों में वर्णित सामाजिक दर्शन को समझा जा सकता है।

साधना आदि की दृष्टि से भी ये सामाजिक विषय बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, इनका विमर्श आचार्य ने उपनिषदों के आधार पर किया है। वस्तुतः उपनिषद् भी तत्कालीन सामाजिक अवस्था और उसके नियमों के बारे में ही बताते हैं, इस अद्वैत वेदान्तदर्शन का मूल अधिष्ठान इस उपनिषद् दर्शन पर ही आधारित है। अतः उपनिषदों को भी सामाजिक दर्शन का ही सार रूप समझना चाहिये। उपनिषदों में बतायी हुयी राज्य, समाज व्यवस्था देखने पर यह पता चलता है कि वह अद्वैत वेदान्त दर्शन के ही अनुकूल है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार परम सत् ब्रह्म ही है, और सम्पूर्ण जगत् का नानात्व उसी से उत्पन्न होकर उसी से जुड़ा है। ‘जीव और जगत् की पूर्णता भी ब्रह्म साक्षात्कार में ही है’^{२३}। अद्वैत ब्रह्म की उनकी यह दृष्टि महान् समन्वयक दार्शनिक के साथ-साथ ईश्वराराधन में समर्पित उत्कृष्ट अनुरागी भक्त के रूप में पर्यवसित होती है। वे भलीभांति समझते थे कि निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा व्यावहारिक रूप से उन सामान्य जनों के लिये गूढ़ एवं

२० ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, ३.४.५०

२१ तत्त्वबोध, पृ. २८

२२ त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमृषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति। बृहदारण्यक उपनिषद् ५.२.१,

२३ मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। बृहदा. ४.४.११,

दुर्बोध है, जो मुक्ति या बन्धनरहित होने के लिये ईश्वर को सहज रूप में ढूँढ़ते हैं। इसलिये समस्त श्रेष्ठ भक्तिस्तोत्रों का प्रणेता शङ्कराचार्य जी को ही माना जाता है। निर्गुणोपासक का सर्वश्रेष्ठ सगुणोपासक होना सहज स्वाभाविक सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति है।

पुरुषार्थ - इस दिशा में यह भी कहा जा सकता है कि चतुर्विध पुरुषार्थ एवं अन्य सामाजिक व्यवस्था से जुड़े सिद्धान्त जिनका व्याख्यान आचार्य ने विस्तारपूर्वक नहीं किया है, इसका कारण उन्होंने पिष्टपेषण से बचने का कारण है। ऐसा इसलिये क्योंकि **आचार्य शंकर की दृष्टि में मनु प्रामाणिक आचार्य हैं और अपनी कृतियों में वह मनु का उदाहरण भी देते हैं।** इसलिये अन्य समाज व्यवस्था के सिद्धान्तों को उन्होंने विस्तारपूर्वक व्याख्यायित नहीं किया है, अपितु संकेत मात्र ही किया है। क्योंकि यह कार्य मनु ने पूर्व में ही सम्पादित कर दिया था अतः उन्होंने इस दिशा में केवल समाज दर्शन के सिद्धान्तों का ही उल्लेख किया है। अतः इस प्रकार से अन्य सामाजिक विषयों को भी आचार्य शंकर के सन्दर्भ में समझना चाहिये।

निष्कर्ष - यह अद्वैत वेदान्त दर्शन तो मानव की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है। यह 'अहं से वयं' तक की पूर्ण यात्रा का समुच्चय है। अद्वैत वेदान्त में आचार्य शंकर ने मानवीय मूल्यों की विवेचना की है। अद्वैत वेदान्त दर्शन मानवजाति को वह मूल्य प्रदान करता है जिसमें सम्पूर्ण मानव समाज एकत्व एवं समत्व का बोध प्राप्त कर सकता है।

स्वयं आचार्य शंकर भगवद्भक्त, कमण्डलु तथा दण्ड आदि लेकर राष्ट्र पुनर्निर्माण तथा समाज के कल्याण हेतु प्रवास पर निकले थे। इसी कार्य हेतु आचार्य शंकर सम्पूर्ण भारत का आजीवन भ्रमण करते रहे। इस दिशा में उन्होंने अपनी माता से प्राप्त धन के द्वारा बदरिकाश्रम में बदरीनाथ का १३,००० फिट की ऊँचाई पर विशाल मन्दिर का निर्माण भी करवाया था। आज भी हिमालय की उपत्यका पर यह मन्दिर खड़ा है। इसी मन्दिर के नीचे के साथ आचार्य ने हिन्दू राष्ट्र की नींव भी रखी थी, जिसका विशाल प्रासाद हम सभी के सम्मुख आज खड़ा है। आज भी देश के कोने-कोने से इस मन्दिर में दर्शनार्थ श्रद्धालु आते हैं। संन्यासी आचार्य शंकर भ्रमण करते-करते राष्ट्र-समाज तथा शास्त्रों का भी अध्ययन पूर्ण कर चुके थे। वह इस राष्ट्र के प्रति माता के समान स्नेह रखते थे। **आचार्य शंकर ने भगवती भागीरथी के तट पर जहाँ एक दो नहीं दस-दस अश्वमेध करके चतुरंग भारत के एकछत्र साम्राज्य की घोषणा की गयी हो, वहाँ पर भारत की सांस्कृतिक एकता का गम्भीर विचार करने में सफल हुये थे।**

सांस्कृतिक एकता इसलिये क्योंकि आचार्य शंकर का मानना है "सांस्कृतिक एकता के होते हुये सामाजिक, राजनैतिक व अन्य विभिन्नतायें कभी भी राष्ट्र का गला नहीं घोंट सकती हैं"^{२४}। माता जाह्नवी के दशाश्वमेध घाट पर बैठकर एकराष्ट्र की पुनर्प्राप्ति तथा सम्पूर्ण समाज के कल्याण का संकल्प उन्होंने लिया था। इसीलिये आचार्य शंकर ने मां गंगा को भारत का प्रतीक माना है, राष्ट्र को पुरुष की संज्ञा देते हुये आचार्य शंकर ने कहा कि "शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य, आदित्योपासक आदि सबके सब एक ही शक्ति

२४ उपाध्याय, दीनदयाल, जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य, पृ.५१

के उपासक हैं, उसी सहस्रानन, सहस्रबाहु, सहस्रपाद, सहस्राक्ष राष्ट्रपुरुष की भिन्न-भिन्न स्वरूप में पूजा करते हैं'^{२५}।

आचार्य का सम्पूर्ण जीवन सामाजिक कल्याण, मानवीय मूल्यों की स्थापना में ही व्यतीत हुआ। “इस सनातन हिन्दू राष्ट्र एवं वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना हेतु प्रादुर्भूत हुये आचार्य शंकर का ३२ वर्ष की अल्पायु में पञ्चतत्व में विलय हो गया”^{२६}।

इसको आज के समय में व्यावहारिक रूप से देखने पर ज्ञात होता है कि यह दर्शन सम्पूर्ण लोक के लिये अत्यन्त उपयोगी और व्यावहारिक है। आचार्य का यह दर्शन एक ओर आत्मा-परमात्मा पुरुषार्थ तथा मोक्ष की बात करता है तो दूसरी ओर भौतिक समृद्धि का मार्ग भी दिखाता है। अतः यह दर्शन अध्यात्म के साथ भौतिकता का विरोधी नहीं अपितु सहयोगी ही है। आचार्य व्यावहारिक जगत् में भौतिकता को जीवन का बीज तथा अध्यात्म को जीवन का शिखर मानते हैं। निष्कर्षतः मनुष्य के सर्वाङ्गीण उत्कर्ष के लिये ये दोनों ही आवश्यक हैं।

आचार्य शंकर के इस प्रकार के कर्म और चिन्तन से राष्ट्रीयता की प्रबल लहर उठी और इस लहर ने अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का समूल नाश कर डाला। इस अनादिकालिक समाज की सभी रुढ़ियों का नाश करके इस हिन्दू समाज को अक्षुण्ण बनाये रखने में आचार्य का अप्रतिम योगदान रहा है। आचार्य शंकर का यह योगदान भारत ही नहीं अपितु विश्व के लिये अविस्मरणीय है।

२५ उपाध्याय, दीनदयाल, जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य, पृ.८९,

२६ दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले, स एव शंकराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः ।

अष्टवर्षे चतुर्वेदान् द्वादशे सर्वशास्त्रकृत, षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ॥ धर्मकीर्ति और शंकराचार्य, B.B.R.A.S,

Vol. XVIII, PP.८८-९६

उत्तर भारतीय प्रमुख चामुण्डा प्रतिमाओं का कला में निरूपण : एक अध्ययन

प्रो० प्रभात कुमार,^१ कल्पना देवी^२

भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में मातृशक्ति का पूजन प्राचीन काल से होता आ रहा है। भारत में इसके अस्तित्व की झलक सैन्धव सभ्यता से देखी जा सकती है। मातृदेवी की अनेक आकृतियाँ इस सभ्यता के विभिन्न स्थलों पर दर्शन हैं। इस आधार पर अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि यहां के लोग मातृशक्ति की पूजा करते हैं। इसके अतिरिक्त गोल पत्थर मिले हैं, जो योनि अर्थात् मातृसत्ता के प्रतीक हैं। शक्ति का पूजन त्रि-समुदायों शैव, वैष्णव तथा शाक्त में विशेष रूप से होता आ रहा है। इसके अतिरिक्त तन्त्र सम्प्रदाय में भी देवी उपासना का विशेष स्थान रहा है। देवी उपासना से सम्बन्धित पौराणिक आख्यान ग्रन्थों में मिलते हैं। जिनमें देवी को विभिन्न नामों से जाना जाता है- दुर्गा, काली, कात्यायानी तथा मातृकाओं के रूप में इनका पूजन विशेष रूप से किया जाता है। देवियों का पूजन प्रारम्भिक काल से ही रौद्र तथा सौम्य दोनों रूपों में प्रचलन में रहा है। देवी के रौद्र रूपों में चामुण्डा का प्रमुख स्थान है। प्रस्तुत शोध पत्र में देवी के रौद्र स्वरूप चामुण्डा को माध्यम बनाकर प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार उत्तर भारत की प्रमुख चामुण्डा प्रतिमाओं का अध्ययन करना है, जिसके आधार पर इन प्रतिमाओं की पौराणिक तथा प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर सार्थकता को प्रकट करना है।

परिचय-

चामुण्डा का मातृकाओं में प्रमुख स्थान है, जिनकी संख्या सप्त, अष्ट या षोडश है। इसके अतिरिक्त चौंसठ योगिनियों में भी इसका प्रमुख स्थान है। चामुण्डा का सम्बन्ध शिव से है। शिव के समान संहारक रूप के कारण इसे योगेश्वरी की संज्ञा दी गई है।^३ यह रूप देवी ने सृष्टि की रक्षा के लिए दैत्यों के विरोध हेतु धारण किया। चामुण्डा का वर्णन पौराणिक ग्रन्थों में मिलता है, जिनमें मार्कण्डेय पुराण, मत्स्य पुराण, अग्नि, लिंग, वामन, ब्रह्मवैवर्त पुराण, कालिका उपपुराण आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में भी इसके स्वरूप का वर्णन किया गया है, जिसमें प्रमुख ग्रन्थ विष्णुधर्मोत्तर पुराण, बृहत्संहिता, अपराजितपृच्छा, रूपमण्डन, शिल्प-रत्न, देवतामूर्तिप्रकरण, मानसार तथा श्रीतत्त्वनिधि प्रमुख हैं। इसे रुद्रचर्चिका^४, रुद्रचामुण्डा^५, महालक्ष्मी^६, सिद्धचामुण्डा^७, सिद्धयोगेश्वरी^८, रूपविद्या^९, क्षमा^{१०} तथा दन्तुरा^{११} प्रमुख हैं। काली^{१२}, कृष्णा^{१३}, चण्डिका^{१४}, रक्तचामुण्डा^{१५}, रक्तदन्ती^{१६}, योगेश्वरी^{१७} आदि नामों से जाना जाता है।

१ प्रोफेसर, प्रा भा. इति. सं एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड

२ शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड
devikalpna09@gmail.com

३ शर्मा, आचार्य श्रीराम मत्स्य पुराण (द्वितीय खण्ड), बरेली संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब १९७, पृ० ४६५

४ द्विवेदी, आचार्य शिवप्रसाद, अग्निपुराणम (हिन्दी व्याख्या सहित) दिल्ली चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, २०१४ पृ० १२४, ३१-३७

५ वही

कथानक-

चामुण्डा के प्रादुर्भाव से सम्बन्धित कथानक देवीमहात्म्य, वायु पुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, मत्स्य पुराण, शिव पुराण, देवीभागवत तथा वराह पुराण आदि में मिलते हैं। वामन पुराण^{१८} के अनुसार, शिव ने पार्वती को काली कह पुकारा; इस बात से रुष्ट होकर देवी ने हिमालय में तपस्या करके ब्रह्मा जी से सुशील स्वरूप प्रदान करने का आशीष प्राप्त किया। स्वर्ण स्वरूप प्राप्त कर अपने कृष्णवर्ण का त्याग कर पार्वती वापिस अपने निवास चली गईं। यहीं कौशिकी व कात्यायनी के नाम से जगत् प्रसिद्ध हुईं। इन्द्र ने कौशिकी से विन्ध्य पर्वत पर वास करके देवों की रक्षा करने की प्रार्थना की, जिससे वह विन्ध्यवासिनी कहलाई। अतः यही देवी चण्ड तथा मुण्ड नामक दैत्यों के संहार के लिए चामुण्डा कहलाई। देवी भागवत पुराण^{१९} में देवी कौशिकी की उत्पत्ति शुम्भ तथा निशुम्भ के बढ़ते अत्याचारों के अंत के लिए हुई। यही देवी उग्र रूप धारण कर चण्ड-मुण्ड नामक दैत्यों का संहार करके चामुण्डा के नाम से प्रसिद्ध हुई, परन्तु इसकी उत्पत्ति का अत्यन्त सुन्दर वर्णन मार्कण्डेय पुराण में वर्णित है। मार्कण्डेय पुराण^{२०} के देवीमहात्म्य खण्ड में वर्णित है कि देवों तथा असुरों के संग्राम में पीड़ित देवगण हिमालय पर्वत पर देवी से सहायता लेने के लिए गए। उन्होंने देवी की स्तुति की। उनकी प्रार्थना को सुनकर देवी ने उनसे आने का कारण पूछा। इतना पूछते ही देवी के शरीर से एक अन्य देवी उत्पन्न हुई जिसे शिवा, अम्बिका या कोश से उत्पन्न होने के कारण कौशिकी की उपमा दी गई। कौशिकी की देह से पृथक् हो जाने पर पार्वती ने श्यामवर्ण धारण कर लिया; यही अम्बिका, कालिका के नाम से हिमालय में वास करने लगी। देवी के सौन्दर्य की अतुलनीय व्याख्या असुर

६ वही

७ वही

८ वही

९ वही

१० वही

११ वही

१२ अवस्थी, भगवानदास श्री मार्कण्डेय पुराण, ज्ञानलोक प्रकाशन, १९४२, पृ० ७१

काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपाशिनी। विचित्रखट्वाङ्गधारा नरमालरविभूषणा । मार्कण्डेय महापुराण ६/७१

१३ श्रीवास्तव, बलराम (अनुवादक) रूपमण्डन वाराणसी: मोतीलाल बनारसीदास, १९८९, पृ० २६४

१४ वही

१५ वही

१६ वही

१७ पूर्वोक्त, ४३/अग्निपुराण

१८ आचार्य, श्रीराम शर्मा वामनपुराण (भाग २), विनयाकोत्पतिवर्णन बरेली संस्कृत संस्थान, पृ० २०

१९ श्रीमद्देवीभागवत पुराण विद्याभास्कर पं. सरयू प्रसाद शास्त्री द्विजेन्द्र गार्ग्य मुनि रूपेश ठाकुर प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी: २०१४ पृ०

६५१

२० अवस्थी, भगवानदास श्री मार्कण्डेय पुराण प्रयाग ज्ञानलोक प्रकाशन १९४२ पृ० १७६

महाराज ने शुम्भ तथा निशुम्भ के समक्ष की। असुर राजाओं ने अपने दूत चण्ड तथा मुण्ड को देवी को अपने समक्ष प्रस्तुत करने के लिए भेजा। दूतों ने देवी को अपने असुर राजा के विषय में बताया। देवी ने उन्हें उत्तर देते कहा कि मेरा पाणिग्रह वह व्यक्ति ही कर सकेगा जो मुझे रणक्षेत्र में पराजित करेगा। देवी की यह बात जब दूतों ने असुर महाराज के समक्ष प्रस्तुत की तो क्रोधवश असुरराज ने युद्ध हेतु चण्ड तथा मुण्ड नामक दूतों को देवी के समक्ष भेजा। दूतों को देख देवी ने क्रोधवश उग्रस्वरूप धारण कर लिया। क्रोधित देवी के शरीर से भयावाही कालवदना, नरमुण्डमाला पहने देवी कालिका उत्पन्न हुई। इसके हाथ में खट्वांग तथा कंकालस्वरूपा, व्याघ्रचर्मधारिणी, मुख खुला जिह्वा लपलपाती हुई, नेत्र क्रोध से लाल तमतमाती हुई थी। वह अपने वाहन सिंह पर विराज होकर असुर चण्ड की तरफ बढ़ी तथा केशों से पकड़कर उसके शीश को धड़ से अपनी तलवार से काट दिया। चण्ड का वध होते देख मुण्ड देवी की तरफ क्रोधवश बढ़ा। देवी ने अपनी तलवार के एक वार से उसे मृत्यु की गोद में सुला दिया। दैत्य सेना का संहार कर तथा चण्ड-मुण्ड के सिर काटकर वह देवी के पास गई। कालिका के इस कृत्य से प्रसन्न होकर देवी ने इसे 'चामुण्डा' नाम से जगत् प्रसिद्ध होने का आशीर्वाद दिया।

इस प्रकार देवी महात्म्य में देवी का संहारक रूप प्रस्तुत होता है। देवी के स्वरूप का वर्णन मार्कण्डेय पुराण में इस प्रकार से किया गया है-

काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपाशिनी॥

विचित्रखट्वाङ्गधारा नरमालरविभूषणा।

द्वीपिचर्मपरीधना शुष्कमांसातिभैरवा॥

अतिविस्तारवदना जिह्वाललनभीषणा।

विमग्रा रक्तनयना नादापूरितदिङ्मुखा॥

चामुण्डा प्रतिमा शास्त्रीय लक्षण-

पौराणिक एवं प्रतिमा शास्त्रीय ग्रन्थों यथा मत्स्य पुराण, मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, रूपमण्डन, अपराजितपृच्छा, देवतामूर्तिप्रकरण आदि में इसके स्वरूप का वर्णन इस प्रकार गया है, मुख विकराल भयावह तथा कृष्णवर्ण, मस्तक एवं केश सज्जा-ज्वालाकेश, ऊर्ध्वकेशी तथा जटामुकुट शिव के समान है, जिसमें कभी-कभी नरमुण्ड भी शोभित होता है। नेत्रों को प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों में चामुण्डा को दो तथा तीन नेत्रों के रूप में दर्शाया गया है। इसके नेत्र कोटर में धंसे हुए होते हैं। देवी माहात्म्य में रक्त के समान लाल नेत्रों का वर्णन किया गया है। चामुण्डा के परिधान में उत्तरीय तथा अधोवस्त्र प्रमुख हैं। इनमें गजचर्म तथा व्याघ्रचर्म के प्रमुख हैं। देवी का वर्ण मुख्यतः श्यामवर्ण है। चामुण्डा का मुख विकराल, दीर्घ जिह्वा, रौद्र दंता, कृश उदर तथा मांसल संरचना से रहित शरीर अर्थात् अस्थिसारा। इसकी दो, चार, आठ, दस, बारह, सोलह तथा बीस भुजाओं से युक्त होने का वर्णन भी किया गया है। इसके आयुधों में त्रिशूल, खड्ग, चक्र, ढाल, पाश, अंकुश, धनुष, बाण, मूसल, शक्ति, वज्र, खटवांग, कटार, खेटक, कुठार, गदा, मुद्गर। इसके वाहनों में शव या प्रेत

उल्लू, काक, गदर्भ तथा सिंह प्रमुख हैं। मत्स्य पुराण^{२१} में इसके चतुर्भुजी स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। इसके दाएं हाथों में नरमुण्ड तथा शक्ति के होने का विधान है तथा बाएं हाथ में रक्त मांस से युक्त कपाल तथा खड्ग होने का विधान वर्णित है। इस पुराण में इसे योगेश्वरी कहा गया है। मार्कण्डेय पुराण^{२२} देवी के रौद्र रूप का वर्णन करते हुए इसे करालवदना, रौद्रमुखी, विकराल नेत्रा, दीर्घ जिह्वा, व्याघ्रचर्मधारिणी तथा नरमुण्डों से अलंकृत होने के साथ-साथ खड्ग, पाश तथा अंकुश से युक्त होने का वर्णन किया गया है। अपराजितपृच्छा^{२३} में वर्णित चामुण्डा की प्रतिमा के दो रूपों का वर्णन किया गया है जो भुजाओं के आधार पर षोडशभुजी तथा चतुर्भुजी है। रूपमण्डन^{२४} में इसे क्रूररूपिणी, कृशोदरी, लाल दीर्घ नेत्रों वाली तथा मांस रहित शरीर वाली, विकराल मुख वाली है। यह व्याघ्रचर्मधारिणी तथा भुजंगों के आभूषणों से युक्त शववाहिनी है। यह त्रिशूल, खेटक, खड्ग, धनुष, पाश, अंकुश, वाण, कुठार, दर्पण, घण्टा, शंख, वस्त्र, गदा, वज्र, दण्ड और मुदगर धारिणी है। चण्ड मुण्ड विधातिनी चामुण्डा की सोलह भुजाएं हैं। इसमें ही चामुण्डा के द्विभुजी रूप का भी वर्णन मिलता है। परन्तु इसके आयुधों का वर्णन नहीं किया गया।

उत्तर भारतीय कला में अंकन-

२१ पूर्वोक्त, मत्स्य पुराण

तीक्ष्णखड्गधरां तद्वद् वक्ष्ये योगेश्वरीमिमाम्। दीर्घजिह्वामूर्ध्वकेशरीमस्थिखण्डैश्च मण्डिताम्॥

दंष्ट्राकरालवदनां कुर्याच्चैव कृशोरीम्। कपालमालिनीं देवीं मुण्डमालाविभूषिताम्॥

कपालं वामहस्ते तु मांसशोणितपूरितम्। मस्तिष्काक्तं च गणानां शक्तिकां दक्षिणे करे॥

गृध्रस्था वायस्था वा निर्मासा विनतोदरी। करालवदना तद्वत् कर्तव्या सा त्रिलोचना॥

चामुण्डा बद्धघण्टा वा द्वीपिचर्मधरा शुभा। पृ० २६१, ३३-३६

२२ पूर्वोक्त, मार्कण्डेय पुराण

काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपाशिनी। विचित्रखट्वांगधारा नरमालरविभूषणा ।

द्वीपिचर्मपरीधना शुष्कमांसातिभैरवा। अतिविस्तारवदना जिह्वाललनभीषणा ।

२३ जुगनू' डा० श्रीकृष्ण, शर्मा, प्रो० भंवरः २०११, अपराजितपृच्छा, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली। पृ० १३४९

निर्मासा क्रूररूपा च उग्रनासा कृशोदरी । कपिला चोर्ध्वकेशी च नीलांगी रक्तलोचना।

स्फुरन्नयदंष्ट्रा च विकृता नखरानना। त्रिशूलखड्गखेटाश्च धनुर्बाणश्च पाशकः।

अङ्कुशश्चैव घण्टा च तथा दर्पणवज्रकौ। दण्डः कुठारशङ्खौ च चक्रं गदा च मुदग्र।

सृक्किणी कपालमालालङ्कृतिं बिभ्रती तथा। शवारुढा तु चामुण्डा जङ्घे घण्टावलम्बिके॥

व्याघ्रचर्मपरीधना भुजङ्गाभरणान्विता। सुनूपुरा घननादा दैत्यकाल इवापरः॥

२४ श्रीवास्तव, बलराम (अनुवादक), रूपमण्डन वाराणसी: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, १९८९, ३९-४२/२६४

चण्डिका क्रूररूपा च पिङ्गकेशा कृशोदरी। रक्ताक्षी भयनेत्रा (भीमनेत्रा) च निर्मासा विकृतानना॥

चण्डिका क्रूररूपा च पिङ्गकेशा कृशोदरी। व्याघ्रचर्मपरीधाना भुजङ्गभरणान्विता॥

कपालमालिनी कृष्णा शवारुढा भयावहा। त्रिशूलखेटकधनुःपाशाङ्कशौ शरः॥

कुठारो दर्पणं घण्टा शङ्ख-वस्त्र-गदा-पविः। दण्डमुद्गर इत्येतैर्यथास्थानायुधैर्युता॥

वाहुषोडशसंयुक्ता चण्ड मुण्ड विधातिनी।

रौद्र रूपीणि चामुण्डा का कला में अंकन प्रतिमाओं के माध्यम से किया गया है। कला में यह अंकन प्रतिमाशास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर किया गया है। प्रतिमाशास्त्रीय ग्रंथों में चामुण्डा के स्वरूप का विवेचन करते हुए इसे भीमा^{२५} भीमरूपिणी, भयावाही, निर्मासा, कृष्णा, क्षीण देहा, कहा गया है। इसके स्तन प्रायः शुष्क लटके हुए होते, इसलिए इसे लम्बस्तना तथा लम्बोदरी कहा गया है। मूर्तिकला के क्षेत्र में इसकी प्रतिमाएं गुप्तकाल से मिलने लगती हैं, परंतु गुप्तोत्तर काल में इसका स्वरूप विकसित अवस्था में मिलने लगता है। सर्वप्रथम द्विभुजी, चतुर्भुजी तथा फिर कला के क्षेत्र में विकास होने के साथ-साथ यह अष्ट, दश तथा षोडश भुजा के रूप में विकसित होते-होते। इसके शारीरिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। मांसल संरचना के अतिरिक्त यह सामान्य स्त्री रूप में कला में निर्मित की जाने लगी। १२ वीं शताब्दी तक आते-आते इसका सौम्य स्वरूप भी भारतीय कला के रूप में देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय कला का प्रभाव भी इन मूर्तियों में देखने को मिलता है। प्रस्तुत पत्र में मुख्य रूप से उत्तर भारत की प्रमुख चामुण्डा प्रतिमाओं का विवेचन शामिल है। इन प्रतिमाओं में प्रमुख रूप से उत्तराखण्ड (चमोली), राजस्थान (आहाड़), (नागदा), गुजरात (बड़बल), बिहार (पटना) तथा दिल्ली की प्रमुख हैं।

उत्तराखण्ड पर्वतीय क्षेत्र में शक्ति पूजन का विशेष महत्त्व है। इस क्षेत्र में रौद्र रूपिणी चामुण्डा की प्रतिमाएं अत्यंत दुर्लभ रूप से प्राप्त होती हैं। प्रस्तुत पत्र में चमोली (कर्णप्रयाग) नामक क्षेत्र से प्राप्त प्रतिमा का वर्णन किया गया है। यह वर्तमान समय में लखनऊ संग्रहालय^{२६} में संरक्षित है। प्राप्त प्रतिमा आसन मुद्रा में है। इस चतुर्भुजी प्रतिमा का अधो दक्षिण पार्श्व हस्त इसके जानु पर है। इसी दिशा में ऊर्ध्व पार्श्व में कपाल को समदृश्य पकड़ा गया है। इसके ऊर्ध्व वामहस्त की भुजा मुड़ी हुई है, जिसमें है, जिसमें त्रिशूल को दबाया गया है। इसी भुजा के हाथ की कनिष्ठा को दांतों से दबाए जाने का अंकन स्पष्ट दृश्य है। अधोवाम हस्त भी जानु पर अवस्थित है। यह त्रिनेत्री, लम्बकर्णा है, जिसके कानों में अस्थिभूषण है। क्रोध स्वरूप को प्रदर्शित करते ज्वालानेत्र। केशों को जटामुकुट से बांधा गया है, जिस पर तीन नरमुण्डों का अंकन है। गले अस्थि से बना हार सुशोभित है। यह निर्मासा तथा शुष्क स्तनों से युक्त अस्थिसारा है। यह प्रेत पर आसीन है। प्रेत का मुख दृश्य है, जिसके कर्ण लम्बे हैं तथा उसके हाथ में कंगन है। चामुण्डा का यह त्रिनेत्री, गर्ताक्षी, रौद्ररूप अग्निपुराण^{२७} से साम्य रखता है। शैलीगत दृष्टि से यह १० वीं शताब्दी की प्रतीत होती है, इसकी शारीरिक संरचना में अस्थियों का अंकन तथा शिराओं को रेखाओं के द्वारा दर्शाया गया है। इसके अलंकरणों पर स्थानीय प्रभाव समदृश्य है।

२५ शाह, प्रिया वाला (अनुवादक) विष्णुधर्मोत्तर पुराण खण्ड-३) अहमदाबाद: दी न्यू आर्डर बुक, १९९०, पृ० २१४ (७३-३०)

२६ जोशी, एन० पी० ब्राह्मनिकल स्कल्पचर्स इन स्टेट म्यूजियम लखनऊ पार्ट-२, वाल्यूम-२ लखनऊ: द स्टेट म्यूजियम, १९८९, पृ०

१२६

२७ पूर्वोक्त, अग्निपुराण

चामुण्डा कोटराक्षी स्यान्निरमासा तु त्रिलोचना। निर्मासा अस्थिसारा वा ऊर्ध्वकेशरकृशोदरी।

द्विपीचर्मधरा कन्नी दक्षिणे स्याच्छवारुद्धास्थिभूषणा। (२१/५०/अग्निपुराण)

आसन्न प्रतिमाओं की भांति नृत्य प्रतिमाएं भी उत्तर भारत में प्रमुख रूप से पाई जाती हैं। इनमें राजस्थान क्षेत्र में मिलने वाली प्रतिमा प्रमुख है। नृत्य स्वरूप की प्रस्तुत प्रतिमा उदयपुर के गंगोद्भव कुण्ड से प्राप्त हुई है। वर्तमान समय में आहाड पुरातत्त्व संग्रहालय की है। यह कंकाल स्वरूपा तथा आयुधों से युक्त है। इसके अधो दक्षिण पार्श्व में कर्तरी तथा इसी दिशा में ऊर्ध्व दक्षिण हस्त में त्रिशूल को पकड़े हुए दर्शाया गया है। इसके ऊर्ध्व वाम भुजा मुड़ी हुई, जिसमें खट्वांग को दबाया गया है। इसी भुजा के हाथ की कनिष्ठा को मुख में दबाए हुए दर्शाया गया है। इसके केश बंधे हुए हैं, कानों में कुण्डल धारण किए हुए हैं। इसने गले में सर्पहार धारण किया हुआ है। यह व्याघ्रचर्म का परिधान धारण किए हुए है। इसके पैरों के पीछे प्रेत का अंकन है, जो विश्राम मुद्रा में एक हाथ सिर के पास रखे लेटा है। यह रूप अग्निपुराण तथा अपराजितपृच्छा^{२८} से मेल खाता है। अपराजितपृच्छा में वर्णित चामुण्डा की प्रतिमा के दो रूपों का वर्णन किया गया है, जो भुजाओं के आधार पर षोडशभुजी तथा चतुर्भुजी है।

नागदा

राजस्थान की प्रमुख प्रतिमाओं में षडभुजी देवी चामुण्डा की प्रस्तुत प्रतिमा राजस्थान के नागदा क्षेत्र से सम्बन्धित है। यह अर्धपर्यंक आसन पर आसीन है। इसका दक्षिण अग्र हस्त वरद मुद्रा में है, मध्य हस्त में कर्तरी तथा ऊर्ध्व हाथ त्रिशूल से युक्त है। इसके ऊर्ध्व वाम हस्त में खट्वांग, मध्य हस्त की कनिष्ठा को मुंह में दबाए जाने का अंकन है। इसी प्रकार अधोवाम हस्त में खण्डित कपाल का अंकन है। इसका मुख रौद्र, ज्वालानेत्र तथा केशबंध में कपाल का अंकन स्पष्ट दृश्य है। यह लम्बस्तना, शुष्क देहा तथा संकुचित उदर से युक्त कंकाल स्वरूपा है। यह नरमुण्डों की माला तथा सर्प आभूषणों से सुशोभित है। इसके पैरों के पास प्रेत का अंकन है, जिसका एक हाथ इसके सिर को विश्राम अवस्था प्रदान कर रहा है तथा दूसरा हाथ जमीन से सटाए हुए है। यह स्वरूप अग्नि पुराण^{२९} की रुद्र चर्चिका से साम्य रखता है। अग्निपुराण में रुद्रचर्चिका छः भुजाओं से युक्त होने का विधान है, जिसके दो ऊर्ध्व हाथों में गजचर्म, कपाल, शूल, कटार तथा पाश से युक्त है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रतिमा से पूर्णतः साम्य नहीं है। परंतु इसके कुछ लक्षण अग्निपुराण में वर्णित रुद्रचर्चिका से साम्य रखते हैं।

पटना

उल्लूक वाहिनी चामुण्डा की प्रस्तुत प्रतिमा ७५×२१ सेमी सरायकेला की है। यह वर्तमान समय में पटना संग्रहालय में १२वीं शताब्दी की है। चतुर्भुजी चामुण्डा के इस रूप में गोद में लिए शिशु का अंकन है। इस प्रकार यह मातृका रूप को प्रदर्शित करती है। इसके निम्न दाएं हाथ में कटार, ऊपरी हाथ में नर की आकृति है तथा ऊपरी हाथ में नरमुण्ड तथा निम्न हाथ से बालक को गोद में पकड़ा है। इसके साथ ही हाथ में सर्प का भी अंकन है। इसका मुख खुला, आंखें धधकती हुई हैं। इसके ऊर्ध्वकेश ज्वाला की भांति ऊपर

२८ पूर्वोक्त, अपराजितपृच्छा, पृ० १३४९

२९ पूर्वोक्त, अग्निपुराण पृ० १२४

निगद्यते ह्यथो चण्डी हेमभासा सुरूपिणी।

त्रिनेत्रा यौवनस्था च पीतपीनपयोधरा।।

उठे हुए हैं। स्तन लटकते हुए तथा पेट अन्दर की ओर धंसा हुआ है, इस प्रकार यह मांसल संरचना से रहित है। पूर्वाकारागम में उल्लू के वाहन का अंकन मिलता है। यह रूप मत्स्य पुराण^{३०} से सम्बन्धित है।

दिल्ली म्यूजियम

प्रस्तुत पालकालीन प्रतिमा राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में संगृहीत है। यह दशभुजी प्रतिमा वृक्ष के नीचे दृश्य में अंकित है। इस वृक्ष की शाखाओं पर पंछी तथा नरमुण्ड लटके हुए दर्शनीय हैं। यह त्रिनेत्री, रौद्रमुखी, ज्वालाकेश से युक्त, मुख खुला हुआ तथा निर्मांसा संरचना से युक्त है। यह शुष्कलम्बस्तना गले में हार धारण किये, मुण्डमाला तथा सर्पाभूषणों से युक्त है। इसके हस्त तथा पांवों में कंगन धारण किये हैं। इसके निर्मांसा शरीर में अस्थियां तथा शिराएं दर्शनीय हैं। इसने दोनों ऊर्ध्व करों से मस्तिष्क के पीछे गजचर्म को उठाया है। शेष दाएं कटार, खड्ग तथा दो अन्य हस्त खण्डित अवस्था में हैं, जिससे आयुधों का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसी हाथ की मुडी हुई भुजा में खट्वांग को दबाये जाने का खण्डित अंकन है। अन्य हस्तों में खेटक, नरमुण्ड एवं एक अन्य खण्डित अवस्था में है। इसके पादपीठ के नीचे शव का अंकन है। इसके निम्न भाग में शमशान के दृश्य का चित्रित है जिसमें नरमुण्डों तथा हस्तों से युक्त कुण्ड का अंकन है। इसके दाएं तथा बाएं किनारों पर शव का भक्षण करते हुए गृद्ध तथा श्वान का चित्रण है। चामुण्डा का यह स्वरूप आगमों तथा अग्निपुराण की सिद्धचामुण्डा^{३१} से साम्य रखता है। सिद्धचामुण्डा दशभुजाओं से युक्त त्रिनेत्रों वाली, खड्ग, डमरु, घण्टा, खेटक तथा त्रिशूल है। इस प्रकार पूर्ण रूप से यह सिद्धचामुण्डा से साम्य नहीं है।

दिल्ली म्यूजियम

प्रस्तुत प्रतिमा सौम्यमुख युक्त दशभुजी है। १२ वीं शताब्दी की यह प्रतिमा राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में संगृहीत है। इस द्विभंग मुद्रा में खड़ी चामुण्डा का वाहन प्रेत है। सामने के पार्श्व दानों हाथों से कपाल को पकड़े हुए है। बाएं कर की उँगली कपाल में डुबोए हुए है। दाएं करों में त्रिशूल, डमरु तथा खड्ग है। इसी प्रकार बाएं करों में खेटक, कमण्डल और खट्वांग है। शेष एक दायां तथा बायां हाथ खण्डित अवस्था में है। इसके कानों में कर्णफूल, गले में कंठहार तथा हिक्क सूत्र, हाथों में कंगन तथा भुजाओं में केयूर है। कमर में उरुधाम तथा मुकुटधाम पहनने के अतिरिक्त वनमाला पहने है। पैरों में पाद झलक तथा पाद कंटक पहना है। इसके दाएं पार्श्व में खड़ा हुआ पुरुष त्रिशूलधारी है तथा बाएं पार्श्व में खड़ा अनुचर

३० पूर्वोक्त, मत्स्य पुराण, पृ० ४६५

३१ पूर्वोक्त, अग्निपुराण,

नृवाजिमहिषेभाश्च खादनी च करे स्थिताम् ।

दशबाहुस्त्रिनेत्रा च शस्त्रासिडमरुत्रिकम् ॥

बिभ्रती दक्षिणे हस्ते वामे घण्टां च खेटकम् ।

खटवाङ्गं च त्रिशूलं च सिद्धचामुण्डा ॥ ३४/५०/ अग्निपुराण

प्रेत के मुख में छेनी डालकर हथौड़े से प्रहार कर रहा है। इसका वर्णन प्रतिमा शास्त्रीय ग्रन्थों^{३२} से साम्य रखता है। इसे सुवर्णकायी, सुरूपिणी, त्रिनेत्री, तरुणा, पीतवर्णा, पीन पयोधरा तथा सुग्रीवा है-

निगद्यते ह्यथो चण्डी हेमभासा सुरूपिणी।

त्रिनेत्रा यौवनस्था च पीतपीनपयोधरा।।

गुजरात (बडबल)

प्रस्तुत स्थानक चामुण्डा प्रतिमा गुजरात के बडबल नामक स्थान से प्राप्त है। चतुर्भुजी स्थानक द्विभंग मुद्रा में उकेरित प्रस्तुत चामुण्डा प्रतिमा वर्तमान समय में बडौदा विश्वविद्यालय के संग्रहालय में है। ९वीं शताब्दी की इस प्रतिमा के अग्र दक्षिण कर में अधःकर्तरी एवं ऊर्ध्व कर में कपाल है। वाम पार्श्व की भुजा मुड़ी हुई है, जिसमें खट्वांग दृश्य आयुध को दबाया गया है। इसी भुजा के हस्त की सबसे छोटी ऊंगली को दांतों में दबाया है। भुजाओं में कंगन का भी अंकन किया गया है। शेष वाम निम्न हस्त खण्डित अवस्था में है। देवी का स्वरूप उग्र, गताक्षी, त्रिनेत्रा, लम्बकर्णा जिसमें अस्थि आभूषण सुशोभित है। देवी के केश नरमुण्ड जटामुकुट से बंधे हैं। गले में सर्पमाला पहने हुए शुष्कपयोधर तथा संकुचित उदर से युक्त शारीरिक संरचना है। इसमें खण्डित अवस्था में मुण्डमाला पहने हैं। इसके कमर से अधोवस्त्र को सर्प की सहायता से बांधा गया है। प्रतिमा का निम्न भाग खण्डित अवस्था में है। इस प्रकार इसके वाहन के बारे में सही रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार इसके स्वरूप का समरूप अग्निपुराण में वर्णित चामुण्डा के विषयक साम्य रखता है। यद्यपि मूर्तिकार कला के क्षेत्र में पूर्णतया नियमों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं होता था। इसी आधार पर इसके स्वरूप की विशेषताएं अग्निपुराण में वर्णित विशेषताओं से साम्य रखती है। इस प्रकार इसका वर्णन अग्निपुराण^{३३} में वर्णित रूप से सुमेलित है। यद्यपि प्रस्तुत प्रतिमा खण्डित अवस्था में है। परन्तु इसके लक्षण जैसे त्रिनेत्री, चतुर्भुजा, ज्वालानेत्र तथा व्याघ्रचर्म परिधान का अंकन इसका साम्यकरण अग्निपुराण में वर्णित चामुण्डा लक्षणों से करता है।

निष्कर्ष-

प्रस्तुत प्रतिमाओं के विवरण तथा उनके स्वरूपों में पौराणिक ग्रन्थों तथा प्रतिमाशास्त्रीय लक्षणों का अध्ययन करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि यह प्रतिमाएं प्रतिमाशास्त्रीय नियमों के आधार पर बनाई गई है। परन्तु यद्यपि यह विचार किया जाए कि सम्पूर्ण नियमों का पालन किया गया तो यह पूर्णत सत्य नहीं है। यह विभिन्न कालों के कलाकारों पर निर्भर करता था। शिल्पकारों ने प्रतिमाशास्त्रीय

३२ जैन, पं० भगवानदास (हिन्दी अनुवादक), हूजा, रीमा (आंग्ल अनुवाद), देवतामूर्तिप्रकरणम् (हिन्दी, अंग्रेजी अनुवाद, जयपुर

प्राकृत भारती अकादमी, १९९९, पृ० २६६

३३ पूर्वोक्त, अग्निपुराण

चमुण्डा कोटराक्षी स्यान्निर्मासा तु त्रिलोचना।।

निर्मासा अस्थिसारा व उर्ध्वकेशरकृशोदरी।

द्विपीचर्मधरा कन्नी दक्षिणे स्याच्छवारूढास्थिभूषणा। (२१/५०/अग्निपुराण)

नियमों का अनुसरण किया, परन्तु क्षेत्रीयता का प्रभाव इस कलात्मक शैली से नकारा नहीं जा सकता। इनके आभूषणों तथा शारीरिक संरचना पर कलात्मक कालक्रम के प्रभाव को देखा जा सकता है। उदाहरणतया चामुण्डा की प्रतिमाएं गुप्तकाल में बननी प्रारम्भ हुईं। इसके पश्चात् प्रतिहार तथा परमार काल में कला का अत्यन्त विकास हुआ। इस प्रकार इनकी विभिन्नताओं को कालक्रम के अनुसार देखा जा सकता है। गुप्तकाल तक आते-आते पौराणिक तथा प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों का संकलन हो चुका था। इस प्रकार शिल्पकारों ने इन ग्रन्थों को आधार बनाकर प्रतिमाओं को उकेरा। यही विभिन्नता चामुण्डा प्रतिमाओं में देखी जा सकती है। प्रतिहार काल में चामुण्डा की निर्मित प्रतिमाएं शारीरिक सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं। इसके प्रारम्भ में अधिकतर कंकाल स्वरूप में इनका निर्माण किया जाता है। इस प्रकार यह अन्तर काल तथा स्थान के आधार पर है। प्रस्तुत शोधपत्र में उत्तर भारतीय प्रतिमाओं का अध्ययन प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर किया गया है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन प्रतिमाओं के निर्माण में प्रतिमाशास्त्रीय नियमों को निर्गत किया गया है। परन्तु इनके निर्माण में कुछेक अन्तर हैं। अतः मूर्तिकार ने कला में पौराणिक तथा प्रतिमाशास्त्रीय नियमों का पुट तो दिया है परन्तु यह पूर्णतया साम्य नहीं रखता।



क्रमशः साभार-

१. साभार AIS, gurugram
२. आहाड़ पुरातत्व संग्रहालय
३. साभार AIS, gurugram
४. साभार AIS, gurugram
५. साभार दिल्ली संग्रहालय
६. साभार AIS, gurugram

कविवर दयानन्द का काव्य और काव्यशास्त्रीय ऊहा

डॉ. अभिमन्यु^१

भारतीय इतिहास में जन्म लेने वाले महापुरुषों में ऋषि दयानन्द का व्यक्तित्व सबसे विलक्षण है। उनकी उपस्थिति ने धर्म, समाज, साहित्य, संस्कृति और राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में नवीन क्रान्ति का सञ्चार किया। मूलतः धर्मप्रचारक और विशुद्ध आध्यात्मिक पुरुष होने पर भी उन्होंने अपनी व्यापक दृष्टि से प्राणिमात्र के समक्ष समागत समस्याओं और प्रश्नों का व्यवहारिक समाधान प्रस्तुत किया। भारतीयों में व्याप्त हीन भावना, रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिक संकीर्णता और पराजय के भावों को दूर कर उनके आत्मगौरव तथा स्वाभिमान को झकझोरा जो कालान्तर में राष्ट्रीय अस्मिता को मुखर कर सका।

संसार के सभी धार्मिक तथा सांस्कृतिक-सामाजिक आन्दोलनों के प्रचार-प्रसार में साहित्य की प्रमुख भूमिका रही है और ऐसे आन्दोलनों से जुड़े साहित्यकारों की रचनाओं पर भी उनके विचारों का प्रभाव पड़ा है। ऋषि दयानन्द का व्यावहारिक तथा शास्त्रीय विषयों पर संस्कृत और हिन्दी में लिखे गये ग्रन्थों की संख्या २५ पच्चीस है तथा अपने निरीक्षण में तैयार कराये ग्रन्थों की संख्या ३५ पैंतीस है। स्वामीजी द्वारा लिखित पुस्तकों में सत्यार्थ प्रकाश (सन् १८७५ ई०) संस्कारविधि (सन् १८७६ ई०) और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (सन् १८७७ ई०) - ये तीन पुस्तकें आर्यजगत् में प्रस्थानत्रयी के समान आदरणीय हैं।

स्वामीजी के जीवन में आये विभिन्न मोड़ पर यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें तो उनके समग्र लेखन की पृष्ठभूमि के सूत्र स्पष्ट हो जायेंगे।

काव्यं यशसेऽर्थकृते^२.... आदि के द्वारा प्रतिपादित काव्यप्रयोजनों के अतिरिक्त काव्य धर्मार्थकाममोक्षेषु^३.... भी है। काव्य वह है जो वेदप्रतिपादित सिद्धान्तों, धर्म और मोक्षमार्ग का प्रतिपादक हो, किन्तु तत्कालीन कवियों और काव्यग्रन्थों की प्रवृत्ति इसके विपरीत है। तत्कालीन और वर्तमान में भी काव्य ग्रन्थ सर्वांश में धर्म और मोक्ष के प्रतिपादक नहीं है। अधिकांश में श्रृङ्गार, कामोत्पादक, स्त्रियों का सर्वांगवर्णन, विरह वर्णन, मद्यपान, सुरतरहस्य आदि तथ्यों का ही उल्लेख है। इसलिये आदित्य ब्रह्मचारी ऋषि दयानन्द की प्रवृत्ति न तो काव्य ग्रन्थ निर्माण में हुई और न ही एतादृश ग्रन्थों को अपने पाठ्यक्रम में अध्ययन के लिये उल्लेख किया। पं. अखिलानन्द शर्मा लिखते हैं - महाराजा भोज के समय से इधर कालिदास आदि कवियों के बनाये हुए ग्रन्थों के अभ्यास से दश लक्षण-लक्षित धर्म गिरता ही चला गया। मेरी अनुमति में तो

१ एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी - २२१००५

abhimanyu.du@gmail.com

२ काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, २

३ काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद, २

सिवाय आदि कवि महात्मा बाल्मीकि की कल्पना के किसी कवि ने आज तक कोई काव्य मनुष्यों को धर्ममार्ग में चलने के लिये नहीं बनाया।^४

विषय-वासनाओं से पूर्ण वैराग्य उनकी जन्मजात प्रवृत्ति थी, जो उनके चरित्र को आजीवन निष्कलङ्क बनाती है। विषय-वासना से पराङ्मुखता का संस्कार विरले ही लोगो में होता है। 'कारणवैराग्य' भी कुछ ही लोगों को होता है किन्तु जन्मतः वैराग्य (ज्ञान-वैराग्य) का संस्कार लाखों लोगों में एकाध का होता है। आचार्य शंकर के बाद मूलशंकर(दयानन्द सरस्वती) इसके अप्रतिम उदाहरण हैं।

आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द ने स्वयं एक कवि-हृदय पाया था। यदि वे अपनी धर्म-संशोधन, समाज-सुधार एवं राष्ट्रोद्धार जैसी सार्वजनिक प्रवृत्तियों से किंचित् अवकाश निकाल पाते तो सम्भवतः संस्कृत काव्य रचना के लिए भी अपनी प्रतिभा का अधिक उपयोग करते। तथापि उन्होंने अपने ग्रन्थों की प्रस्तावना के रूप में अनेक सुन्दर संस्कृत पद्य लिखे हैं जिनसे उनकी काव्यरचनाचातुरी का परिचय मिलता है। अपने विश्वविख्यात ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने वसन्ततिलका छन्द में एक सुन्दर नीतियुक्त पद्य की रचना की, जो आज भी सहृदय जनों का प्रेरणा वाक्य बन गया है :-

विद्या विलासमनसो धृतशीलशिक्षाः, सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।

संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥

इस पद्य में इसके रचयिता कवि की लोकहितकारी तथा मंगलविधायिनी जीवन दृष्टि प्रतिबिम्बित हुई है कि- जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शील स्वभाव युक्त, सत्यभाषणादि नियमपालन युक्त और अभिमान अपवित्रता से रहित, अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेद विहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं। इस अमर ग्रन्थ की भूमिका में कविवर दयानन्द ने ५ श्लोक भिन्न-भिन्न छन्दों में लिखे हैं, जिनमें क्रमशः एक-एक शिखरिणी, अनुष्टुप्, वंशस्थ, तोटक और अन्तिम शार्दूलविक्रीडित छन्द इसप्रकार है-

धर्मात्मा विजयी सशास्त्रशरणो विज्ञानविद्यावरः

अधर्मेणैवहतो विकारसहितोऽधर्मस्सुदुःखप्रदः।

येनासौ विधिवाक्यमानमननात्पाखण्डखण्डः कृतः

सत्यं यो विदधाति शास्त्रविहितन्धन्योऽस्तुतादृग्घि सः ॥१॥

इसी प्रकार 'दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः'^५, (आर्याभिविनयः में कुल ८ श्लोक) से आरम्भ होनेवाला शिखरिणी छन्द तथा विमलं सुखदं सततं सुहितं^६ (तोटक छन्द) एवं विशेष भागी हि

^४ दयानन्ददिविजयम्, भूमिका, पृ. ११

^५ दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया ।

इयं ख्यातिर्यस्य प्रलसितगुणावेदशरणास्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इतिबोधव्यमनघा ॥ आर्याभिविनय, ३ ॥

वृणोति यो हितं^६ (वंशस्थ छन्द), ये दो इसी ग्रन्थ के मंगलाचरण के छन्द भी विशेष रूप से ऋषि दयानन्द की काव्यशक्ति के निर्देशक हैं। संस्कार विधि (में कुल ११ श्लोक) के आरम्भ में लिखे गए परिचयात्मक पद्य (नवें को छोड़कर) शेष अनुष्टुप् छन्द में लिखे गए हैं जब कि नवाँ शिखरिणी छन्द का उदाहरण है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की प्रस्तावना में (प्रारम्भ में कुल ८ श्लोक और ग्रन्थान्त में २ श्लोक) 'ब्रह्मानन्दमनादि विश्वकृदजं'^७ शार्दूल विक्रीडित है जब कि ग्रन्थ के अन्त का 'वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका'^९ स्रग्धरावृत्त में लिखा गया है। ऋग्वेदभाष्य का आरम्भ स्वामीजी निम्नलिखित मन्दाक्रान्ता छन्द से करते हैं -

विद्यानन्दं समवति चतुर्वेद संस्तावना या सम्पूर्वेशं निगमनिलयं सम्प्रणम्याथ कुर्वे।

वेदत्रयंके विधुयुत सरे मार्ग शुक्लेऽङ्ग भौमे ऋग्वेदस्याखिल गुणगुणिज्ञानदातुर्हि भाष्यम् ॥

यजुर्वेदभाष्य (कुल २ श्लोक) का प्रास्ताविक पद्य अधोलिखित है -

यो जीवेषु दधाति सर्वसुकृतज्ञानं गुणैरीश्वरम्, तं नत्वा क्रियते परोपकृतये सद्यः सुबोधाय च।

ऋग्वेदस्य विधाय वै गुणगुणिज्ञान प्रदातुर्वरं भाष्यं काममयो क्रियामय यजुर्वेदस्य भाष्यं मया ॥ १॥

तथा यहीं पर शिखरिणी छन्दयुक्त कूटपरक पद्य की भी छटा रमणीय है-

चतुस्त्र्यङ्करङ्करवनि सहितैर्विक्रमसरे शुभेपौषेमासेसितदलभविश्वोन्मिततिथौ।

गुरोवरि प्रातःप्रतिपदमतीष्टं सु विदुषां, प्रमाणैर्निबद्धंशतपथनिरुक्तादिभिरपि ॥ २॥

इतना ही नहीं अपने लघुग्रन्थ गोकरुणानिधि (प्रारम्भ में २ और ग्रन्थान्त में २ श्लोक) में भी उन्होंने अपने काव्य-कौशल का परिचय 'तनोतु सर्वेश्वर उत्तमं बलं'^{१०} और 'येगोसुखंसम्यगुशन्ति'^{११} (वंशस्थ छन्द) तथा श्लेषालंकार युक्त निम्न दृष्टिकूट लिख कर दिया है -

६ विमलं सुखदं सततं सुहितं जगति प्रततं तदुवेदगतम् ।

मनसि प्रकटं यदियस्य सुखी स नरोऽस्ति सदेश्वरभागाधिकः ॥वही, ७

७ विशेषभागीह वृणोति योहितं नरः परात्मानमतीवमानतः ।

अशेषदुःखातु विमुच्यविद्यया स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः ॥ वही, ८

८ ब्रह्मानन्तमनादिविश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतम्,

विद्या यस्य सनातनीनिगमभृद्द्वैधर्म्यविध्वंसिनी ।

वेदाख्याविमलाहिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा,

तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, १

९ वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः,

संक्षेपाद्भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता ।

सम्पूर्णाकार्यश्रेयं भवति सुरुचियन्मन्त्रभाष्यं मयातः,

पश्चादीशानभक्त्या सुमत्तिसहितया तन्यते सुप्रमाणम् ॥वही, ग्रन्थान्त, १

१० तनोतु सर्वेश्वर उत्तमम्बलं गवादिरक्षं विविधं दयेरितः ।

धेनुः परा दयापूर्वा यस्यानन्दाद् विराजते। आख्यायां निर्मितस्तेन ग्रन्थो गोकरुणानिधिः ॥

यजुर्वेद भाष्य की प्रस्तावना में तो स्वामी दयानन्द ने चार हिन्दी दोहे भी लिखे हैं, जो उनके इस ग्रन्थ लेखन में भाष्यकार के प्रयोजन को दर्शाते हैं। ये दोहे निम्न हैं -

जो निर्गुण गुणपुंज से देत सुकृत विज्ञान। प्रणतपाल जगदीश्वरहि करिप्रणाम तिहिध्यान ॥ १॥

ज्ञानदायि ऋग्वेद का भाष्याभीष्ट विधाय। पर उपकार विचारि करि शीघ्र सुबोध निधाय ॥ २॥

शतपथ ब्राह्मण आदि पुनि निघण्टु निरुक्त निहारि। यजुर्वेद जो क्रियापर वर्नो ताहि विचारि ॥ ३॥

एक सहस्र नवशत अधिक विक्रमसर चौतीस। पौष शुक्ल तेरसि तिथि दिन अधीश वागीश ॥^{११}

वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम् के प्रारम्भ में शिखरिणी छन्द की छटा कितनी रमणीय है-

दयापूर्वोपेतं परमपरमाख्यातुमनघाः, गिरायानं जानन्त्यमतिमतविध्वंसविधिना।

स वेदान्तश्रान्तानभिनवमतभ्रान्तमनसः, समुद्धर्तुं श्रौतं प्रकटयति सिद्धान्तमनिशम् ॥

उपर्युक्त विवेचन से कवि दयानन्द के काव्य रचना-कौशल का परिचय मिलता है।

काव्यशास्त्रीय ज्ञान- स्वामीजी रीतिकालीन अथवा संस्कृत कवियों के समान आचार्य नहीं थे, पर वे इनके तत्त्वों से परिचित अवश्य थे, अतः प्रसंग प्राप्त होने पर उन्होंने इस विषय की संक्षिप्त चर्चा अवश्य की है। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में लक्षणा को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, ".....जहाँ-जहाँ असम्भव होता है वहाँ-वहाँ लक्षणा होती है, जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मंचान पुकारते हैं, इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मंचान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं।"^{१२} शब्द शक्ति के साथ-साथ उन्होंने अलंकारों की विवेचना की है। उपमालङ्कार की - वाचकलुप्ता, धर्मलुप्ता, धर्मवाचकलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता, उपमानलुप्ता, वाचकोपमानलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता और धर्मोपमानवाचकलुप्ता ये आठ भेद बताने के बाद कहते हैं कि पूर्णोपमालंकार इन आठ से पृथक् है, जिसमें ये सब बने रहते हैं तदनन्तर उन्होंने साधारण धर्म, उपमान, उपमेय आदि की परिभाषा दी है। इसके पश्चात् रूपक के भेदों की उन्होंने चर्चा की है - "इसके आगे दूसरे रूपकालंकार के छः भेद हैं। अधिकाभेद रूपक १, न्यूनाभेद रूपक २, अनुभवाभेद रूपक ३, अधिकताद्रूप्य रूपक^{१३}, न्यूनताद्रूप्य रूपक ५ और अनुभयताद्रूप्य रूपक।"^{१३} इसी प्रसंग में उन्होंने श्लेषादि कुछ अन्य अलंकारों का भी विवेचन किया है। काव्यशास्त्र के दोषों से भी वे भलीभाँति परिचित हैं। किसी की आलोचना करते समय यदि कहीं भाषा में दोष आया है तो वह उनकी दृष्टि से बच नहीं पाया है। एक प्रसंग में वे लिखते हैं "क्योंकि ताप और

अशेषविघ्नानि निहत्य नःप्रभूःसहायकारी विदधातु गोहितम् ॥ गोकरुणानिधि, १

११ ये गोसुखं सम्यगुशान्ति धीराःधर्मजं सौख्यमथाददन्ते ।

क्रूरा नराः पापरता नयन्ति प्रज्ञाविहीनाः पशुहिंसकास्तत् ॥ वही, २

१२ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, शताब्दी संस्करण, द्वितीय भाग, पृष्ठ २७८ ।

१३ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, शताब्दी संस्करण, पृष्ठ ७१५-७१६ ।

क्लेश दोनों के एकार्थ होने से दोनों का कहना पुनरुक्त दोष है।^{१४} एक अन्य स्थल पर उन्होंने सहजानन्द के काव्य में छन्दोभंगदोष दिखाया है, “इस श्लोक में छन्दोभंग दोष होने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को छन्दोज्ञान विषय में कुछ भी समझ नहीं थी।”^{१५} भाषा शुद्धि का उन्हें इतना ध्यान था कि स्वल्प भी वर्तनी की अशुद्धि उन्हें खटक जाती थी। ‘विस्तर’ शब्द के संबंध में वे लिखते हैं, “विस्तर शब्द व्याकरण नियम से अशुद्ध है। विस्तर की जगह विस्तार शब्द लिखना चाहिये। कथन, श्रवण आदि अर्थों में ही विस्तर शब्द प्रयोग होता है।”^{१६} इसी प्रकार शुद्धाद्वैत शब्द को भी उन्होंने अशुद्ध बताया है “..... शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण। जो शुद्ध है वही अद्वैत, यह कर्मधारय समास कार्य कारण के एक स्वरूप एकात्मक गुण वाले न होने में असंगत है। षष्ठीतत्पुरुष समास भी ठीक नहीं। क्योंकि वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं उनकी एकता क्योंकि हो सकती है ? और यदि वस्तुतः दो नहीं है तो कार्यकारण रूप कहना व्यर्थ है।”^{१७} एक कार्य जो उनका समकालीन अथवा पूर्ववर्ती कोई नहीं कर पाया, वह है वेदमंत्रों का गानोपयोगी स्वर निर्देश। “स्वामी दयानन्द ने ही प्रथम बार वेदमंत्रों के गान-स्वरों का निर्देश किया है।”^{१८}

प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा आशुकवित्व उनमें कूट-कूट कर भरा था। सत्यार्थप्रकाश का निम्न दोहा इसका उदाहरण है - “गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेलें दाव। भवसागर में डूबते, बैठ पथर की नाव।”^{१९} आचार्य केशवदासजी संस्कृत के ही कवि थे, पर उन्होंने हिन्दी का आंचल बड़े अनमनेपन से पकड़ा था, स्वामीजी ने हिन्दी के क्षेत्र में आकर किसी हीन भावना का अनुभव नहीं किया। गोस्वामी तुलसीदास ने भी हिन्दी का महाकाव्य रामचरितमानस लिखकर भी प्रत्येक काण्ड के प्रारम्भ में कुछ संस्कृत के पद दिये हैं। स्वामीजी ने भी अपने कई ग्रन्थों के प्रारम्भ अथवा उपसंहार में इस शैली का आश्रय लिया है। ग्रन्थ रचनाकाल की सूचना देनेवाले इन संस्कृत छन्दों में उन्होंने कूट शैली का आश्रय लिया है। वेदविरुद्धमत खण्डन के अन्त में निम्न श्लोक मिलता है -

“शशिरामांकचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दले। अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागतः ॥ ”

“इस श्लोक में रचनाकाल शब्द शशि (१) राम (३) अंक (९) तथा चन्द्र (१) है। ‘अंकानां वामतो गतिः’ के न्याय से यह संवत् १९३१ होता है। शेष मास, पक्ष, तिथि तथा दिन का नाम स्पष्ट ही है।”^{२०} इस पद्धति का अनुसरण उन्होंने आर्याभिविनय, आर्योद्देश्यरत्नमाला, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, गोकर्णानिधि आदि में किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत के कुछ स्वतंत्र पद्य भी बनाये हैं जिनमें वसन्ततिलका, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, अनुष्टुप्, मन्दाक्रान्ता तथा वंशस्थ

१४ वेदविरुद्धमत खण्डनम्, श. सं., पृष्ठ ७९९

१५ स्वामिनारायणमत खण्डनम्, शताब्दी संस्करण, पृष्ठ ८३९

१६ स्वामिनारायणमतखण्डनम्, श० स०, द्वितीय भाग, पृष्ठ ८४२ ।

१७ वेदविरुद्धमत खण्डनम्, श० स०, भाग दो, पृष्ठ ८१० ।

१८ ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन, पृष्ठ ५५ ।

१९ सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २०८ ।

२० ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन, पृष्ठ ६७ ।

आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। एक स्थान पर उन्होंने चित्रकाव्य का भी प्रयोग किया है, पर यह शुद्ध संस्कृत का विषय है।

उनके आशुकवित्त्व अथवा प्रत्युत्पन्नमतित्त्व का एक उदाहरण निम्न छन्द के रूप में देखा जा सकता है। पाराशरी के श्लोक 'अष्टवर्षा भवेत् गौरी नववर्षा च रोहिणी। दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला, का उत्तर 'ब्रह्मोवाच' करके वे देते हैं "एकक्षणा भवेत् गौरी द्विक्षणेयन्तु रोहिणी। त्रिक्षणा सा भवेत् कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला।"^{२१} भाषा इतनी सरल है कि हिन्दी के सामान्य जानकार भी इसे सरलता से समझ सकते हैं। यदि हिन्दी वालों को प्रसाद और हरिऔध की भाषा समझ में आ सकती है तो कोई कारण नहीं है कि उन्हें वे अंश समझने में कठिनाई हो। उनके आशुकवित्त्व का परिचय उनकी जीवनी के कई स्थलों पर मिलता है। एक मैथिली पंडित ने स्वामीजी से पुराणों के काव्य-सौन्दर्य की चर्चा की। स्वामीजी ने हंसकर उत्तर दिया - "पण्डितजी ! तनिक लिखने का कष्ट करें। मैं अभी कल्पित कथाओं के बीसियों श्लोक लिखवाये देता हूँ। स्वामीजी ने उसे अभी दस ही श्लोक लिखवाये हैं कि वह उन श्लोकों के वचन-माधुर्य और पद-विन्यास के लालित्य पर ऐसा लट्टू हुआ।"^{२२} इन उद्धरणों से इतना तो ज्ञात होता ही है कि उनमें कवित्व की प्रतिभा का अभाव नहीं था। उन्होंने किसी खण्डकाव्य अथवा महाकाव्य का निर्माण भले ही न किया हो पर उनका काव्यत्व उनकी रचनाओं में बिखरा पड़ा है।

स्वामी दयानन्द ने संस्कृत गद्य में तो कुछ पत्र लिखे ही थे उनका एक पद्यात्मक पत्र भी उपलब्ध होता है जिसे उन्होंने अपने पट्ट शिष्य पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा को लिखा था जो उस समय ऑक्सफोर्ड में थे। २१ श्लोकों का यह काव्यमय पत्र आश्विन कृष्ण ६ संवत् १९३७ (२५ सितम्बर १८८०) को लिखा गया था। उसका प्रथम श्लोक पत्र-प्राप्त-कर्ता पं० श्यामजी ने प्रशस्त गुणों का इस प्रकार उल्लेख करता है-

स्वस्ति श्री श्रौतमार्गप्रकृतपरिचयस्वान्तसिद्धान्तधर्मा

नाना तर्कप्रयासैर्विविधगुणभरश्रान्ति विश्रान्ति शर्मा।

देशे देशे प्रवादोत्पथजनमथितोत्कर्षसद्धर्ष कर्मा

भूयो भूयस्समीयाद्बुध कृति जनितं सत्फलं कृष्णवर्मा ॥

अर्थात् सुन्दर वैदिक मार्ग से परिचित, अपने सिद्धान्तों के अनुकूल धर्मरूढ़, नाना तर्क प्रयासों से बहुविध गुणों से परिपूर्ण, सर्वविध सुख शान्ति से युक्त, सर्वत्र नाना मत-मतान्तरों के कारण कुमार्ग गामी जनों का मथन कर उन्नति एवं सुखकारी कर्मों के अनुष्ठाता (श्यामजी) कृष्ण वर्मा बार-बार विद्वानों के शुभ कर्मों के उत्तम फल को प्राप्त करें। इस श्लोक में अनुप्रास की छटा द्रष्टव्य है।

पत्र के अन्त में एक कूट श्लोक के द्वारा पत्र लेखन की तिथि निर्दिष्ट की गई है -

नग गुण नवचन्द्रे विक्रमादित्य वर्षे

२१ सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास

२२ यदुवंश सहाय, महर्षि दयानन्द, पृष्ठ १८७ ।

रस तिथि शनिवारेचाश्विने कृष्ण पक्षे।

बुधजन सुखदात्रे कृष्ण वर्माभिधाय

प्रथित विबुध वाण्या प्रेषितं पत्रमेतत् ॥

अर्थात् विक्रमाब्द १९३७ आश्विन कृष्ण पक्ष षष्ठी को देववाणी संस्कृत में यह पत्र विद्वानों को सुख देने वाले (श्यामजी) कृष्ण वर्मा को भेजा गया।

काशी के विद्वानों से शास्त्रार्थ करने के लिए स्वामीजी को पं० ताराचरण शर्मा की ओर से एक विज्ञापन प्रकाशित करा कर भेजा गया। इसके उत्तर में स्वामीजी ने एक संस्कृत विज्ञापन २६ दिसम्बर १८७८ को छपाया। विज्ञापन के अन्त में स्वामीजी द्वारा रचित एक सुन्दर नीति युक्त श्लोक लिखा गया था, जो इस प्रकार है -

विद्वांसः सुविचारशीलसहिता धर्मोपकारे रता,

दुष्टं कर्म विहाय सत्यसरणा नौकेव पाराय ते।

क्रूराः कामसिताः किमत्र समला स्वार्था अहो भावना,

विघ्ना कस्य नरस्य नैव विततान् कुर्व्यु सदा दूषिताः ॥

अर्थात् सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की सृष्टि में दो प्रकार के मनुष्य हैं। एक उत्तम, दूसरे निकृष्ट। उत्तम वे हैं जो विचार युक्त, सुशील, धर्म और उपकार करने में सन्तुष्ट, दुष्ट कर्मों से दूर, सत्य के प्रेमी, नौका के समान अविद्यादि दोषों और कष्टों से लोगों को पार उतारने वाले विद्वान् हैं। वे अपनी शान्ति, परोपकार और गम्भीरता आदि को कभी नहीं छोड़ते और जो क्रूर, कामी, अविद्यादि, मलयुक्त, स्वार्थी, दूषित मनुष्य हैं वे श्रेष्ठ मनुष्यों को सदा बड़े-बड़े विघ्न क्या नहीं करते हैं ? यह बड़ा आश्चर्य है कि आप्त लोग असभ्य लोगों पर कृपा करके सदा उनका उपकार ही किया करते हैं। परन्तु वे (दुष्टजन) अपने दोषों से उपकार को भी अनुपकार मान लेते हैं। इसलिए हम सर्वशक्तिमान् परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि अपनी कृपा से उन मनुष्यों को सब बुरे कामों से हटा कर सत्यमार्ग में सदा प्रवृत्त करें।

विज्ञापन के लेखन की तिथि की सूचना इस कूट रचना के द्वारा दी गई है-

ऋतुरामांकचन्द्रेब्दे मार्गाशीर्षसितेदले। चतुर्दश्यां शनीवारे पत्रमेतदलेखिषम् ॥

मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी, शनिवार को यह पत्र लिखा गया।

शृङ्गार प्रधान काव्यों एवं नाटकों से वितृष्णा-

स्वामी दयानन्द संन्यासी थे। तप, त्याग, संयम, नियम, ब्रह्मचर्य पालन तथा वर्णाश्रम धर्म में स्वीकृत मर्यादाओं में उनकी पूरी आस्था थी। उनके लिए गृहस्थोचित दाम्पत्य जीवन का प्रमुख लक्ष्य अच्छी सन्तान को उत्पन्न कर उसे चरित्रवान्, गुणवान् तथा देशभक्त बनाना था। वे जानते थे कि संस्कृत में जो बहुसंख्यक काव्य, नाटक आदि विधाओं के ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति अधिक हुई है। अधिकांश

में तो नर-नारी का यह श्रृंगार वर्णन मर्यादा को लांघ कर अश्लील हो गया है। ऐसे चरित्र-नाशक तथा मनुष्य की उद्दाम विलास वासना को उत्तेजित करने वाले साहित्य को पाठविधि में स्थान देने के वे विरोधी थे। स्वामीजी के जीवनकाल में आर्यसमाज फर्रुखाबाद ने 'भारत सुदशा प्रवर्तक' नामक एक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ कर दिया था। इस पत्र में जो लेख छपते थे वे वैदिक सिद्धान्तों के अनुकूल होते थे। तथापि यदा कदा इसमें लघु नाटक भी छपने लगे। ये नाटक भी उपदेशप्रद ही होते थे^{२३}, तथापि स्वामीजी को आर्य पत्र में नाटक का विषय छपना अनुचित लगा। उन्होंने लाला कालीचरण को उदयपुर से १६ अक्टूबर १८८२ को जो पत्र लिखा उसमें नाटक छापने का निषेध किया - "विदित हो कि तुम आर्यसमाज के पत्र में नाटक का विषय मत छापो। यह अनुचित बात है।"^{२४} उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह को एक उपदेशात्मक पत्र में भी उन्होंने नायिका भेद आदि के अश्लील साहित्य को पढ़ने का निषेध किया था।^{२५}

स्वामीजी में विद्यमान इस काव्य रचना कौशल का पता तो उपर्युक्त संदर्भों तथा विभिन्न ग्रंथों में लिखे गये आद्यन्त श्लोकों से चलता ही है। यदि उन्हें इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने की इच्छा होती तो किसी उत्कृष्ट संस्कृत काव्य की रचना करना उनके लिए कठिन नहीं था।

२३ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके समसामयिक अनेक नाटक लेखकों ने ऐसे नाटक लिखे थे, जो समाज सुधार, धर्म सुधार तथा राष्ट्रोत्थान की भावना से अनुप्राणित थे।

२४ ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ ६२१।

२५ वही, भाग २, पृष्ठ ७५४।

ताद्धित भावकर्मार्थ प्रत्ययों का समालोचनात्मक अध्ययन

डॉ. कर्मवीर आर्य^१

परार्थाभिधान को वृत्ति कहते हैं और पाँचों वृत्तियों में तद्धित एक प्रमुख वृत्ति के रूप में परिगणित है। तद्धितवृत्ति प्राचीन समाज, संस्कृति को जानने में बहुत उपयोगी है। सुबन्तों से भाव और कर्म अर्थ में होने वाले प्रत्ययों को भावकर्मार्थ प्रत्ययों के रूप में सिद्धान्तकौमुदीकार ने श्रेणीबद्ध किया है। प्रस्तुत शोधलेख में भावकर्मार्थ प्रत्ययों पर विचार किया गया है। त्रिमुनिव्याकरण में तीनों आचार्यों पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि का उत्तरोत्तर प्रामाण्य प्रथित है। नागेशादि नव्यवैयाकरणों ने बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से त्रिमुनिव्याकरण पर लेखनी चलाई है। ताद्धित भावकर्मार्थ प्रकरणान्तर्गत वति, त्व, तल्, इमनिच्, ष्यञ्, यत् एवं अण् प्रमुख प्रत्यय हैं-

तृतीयासमर्थ प्रातिपदिक से 'तुल्यम्' अर्थ होने पर वति प्रत्यय होता है, यदि जो प्रथमासमर्थ है वह क्रिया हो तो।^२ यथा - ब्राह्मणेन तुल्यम् वर्तते = ब्राह्मणवत् वर्तते।

भाष्य में आक्षेप किया गया है कि इस विधि में जो यह कहा है कि 'यदि जो तृतीयासमर्थ हो वह क्रिया हो तो' यह अयुक्त = असमीचीन है क्योंकि क्रिया में तृतीयासमर्थता नहीं होती। शब्द दो प्रकार के होते हैं।^३ १. सिद्ध शब्द (सुबन्त) २. साध्य शब्द (क्रिया)। सिद्ध शब्दों की तृतीयासमर्थता संभव है, क्योंकि तृतीया सत्ववाची शब्दों से की जाती है। क्रिया के साध्यरूप होने के कारण वह असत्ववाची है। इसलिए असंभव होने के कारण तृतीयासमर्थ एवं क्रिया में विशेषणविशेष्यभाव नहीं हो सकता।

भाष्यकार कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं क्योंकि क्रिया में भी तृतीयासमर्थ के विशेष्य बनने की योग्यता है। उपमानवाची एवं उपमेयवाची दोनों ही प्रकार के शब्द वस्तुतः गुणसमुदाय = गुणों का समुदाय के वाची होते हैं।^४ इस संदर्भ में यह श्लोक द्रष्टव्य है -

तपः श्रुतं च योनिश्च एतद्ब्राह्मणकारकम्। तपः श्रुताभ्यां यो हीनः जातिब्राह्मण एव सः॥ अर्थात् तप, श्रुत, योनि (जाति) ये तीन ब्राह्मणों के कारक = गुण हैं। जो तप और श्रुत से हीन है वह केवल जाति से ब्राह्मण माना जाता है, अर्थात् वह परिपूर्ण ब्राह्मण नहीं है। यहाँ हम देखते कि वास्तव में ब्राह्मण तप, श्रुत, योनि नामक गुणों का समुदाय है। जब वह तप, श्रुत नामक गुणों से हीन होता है, तब भी केवल जाति होने के वह ब्राह्मण कहलाता ही है और ब्राह्मण के केवल ये तीन गुण ही नहीं हैं, अपितु गौरत्व, शुच्याचार,

१ प्रोफेसर संस्कृत विभाग, हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद

२ तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः अष्टाध्यायी ५.१.११५

३ वैयाकरणभूषणसार - १/३

४ सर्व एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते- ब्राह्मण, क्षत्रियो, वैश्यः, शूद्रः। महाभाष्य ५.१.११५

पिङ्गलत्व, कपिलकेशत्वादि बहुत से गुण माने गए हैं। अतः ब्राह्मण का अर्थ हुआ- तपः श्रुतादि, कपिलकेशत्वादि गुणों का समुदाय। ब्राह्मण यहाँ उपलक्षण के रूप में है, अन्यथा तो सभी उपमानोपमेयवाची शब्द बहुत सारे गुणों का ही समुदाय होते हैं। समुदायवाची शब्द अवयव के अर्थ में भी व्यवहृत होते देखे जाते हैं। जैसे- तैल का प्रयोग न केवल समष्टि (समुदाय) रूप में ही होता है, अपितु व्यष्टि (अवयव) अर्थ में भी होता है। अतः 'ब्राह्मणवत् अधीते क्षत्रियः' उदाहरण में ब्राह्मण शब्द समुदायवाची तप आदि गुणों से युक्त न होकर अवयववाची अध्ययनादि क्रिया से युक्त है।

इस प्रसङ्ग में पदमञ्जरीकार एवं नागेशभट्ट का कहना है कि " शब्द के द्वारा जाति और द्रव्य का कथन होता है जबकि क्रिया में नहीं, अतः यहाँ दोनों में अत्यन्तभेद है, " ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ ब्राह्मण शब्द के अन्दर जो ब्राह्मण की सहचरित = साथ रहने वाली, अध्ययनादि क्रिया हैं, उस अवयवार्थ के वाचक के रूप में ब्राह्मण शब्द से वृत्ति = प्रत्यय, होगी।^५ यहाँ ब्राह्मण शब्द का तात्पर्य है - ब्राह्मणान्तर्गताध्ययनादि क्रिया। अतः अध्ययन (अवयवार्थ) में ब्राह्मण शब्द के होने के कारण क्रिया = विशेष्य के साथ उसकी सङ्गति हो जाती है। ब्राह्मणेन तुल्यं वर्तते = ब्राह्मणवत् क्षत्रियः का वाक्यार्थ इस प्रकार होगा- ब्राह्मणेन = ब्राह्मणान्तर्गत रहने वाली क्रिया के, तुल्यम् = समान वर्तते = क्रिया है जिसकी, वह। प्रदीपकार कहते हैं कि यहाँ पर जो क्रिया (अध्ययनादि) उपमेय = (क्षत्रिय) में है उस अध्ययन क्रिया के अर्थ में ही यहाँ ब्राह्मण शब्द है और उसी से प्रत्यय होगा। यदि कोई कहे कि भिन्न कर्त्ताओं (ब्राह्मण, क्षत्रिय) में रहने वाले अध्ययन के कारण यदि दोनों की तुल्यता मानी जाये, तब भी एक साधारण धर्म की अपेक्षा बनी रहती है, तो वह साधारण धर्म यहाँ सौष्टवादि गुण हैं।^६ इस प्रकार तृतीयासमर्थ (विशेषण) क्रिया (विशेष्य) के साथ संगत हो जाता है।

किन्तु ऐसा मानने पर एक अन्य दोष उपस्थित होगा, और वह यह कि यदि क्रिया तृतीयासमर्थ से विशेषित होगी तो प्रत्ययार्थ अविशेषित रह जायेगा। क्रिया किसी एक का ही विशेष्य बन सकती है या तो प्रकृत्यर्थ (तृतीयासमर्थ) की या प्रत्ययार्थ की। जैसे- देवदत्तेन तुल्यम् = देवदत्तवत् वर्तते यज्ञदत्तः में न केवल देवदत्त ही क्रियारूप में इष्ट है, अपितु देवदत्त का = प्रत्ययार्थ भी। अन्यथा 'पुत्रेण तुल्यः स्थूल' में पुत्र से गुणतुल्यता में वृत्ति की प्राप्ति होगी। क्योंकि यहाँ पुत्र व स्थूल में गुणसाम्य है, न कि इष्ट क्रियासाम्य। यहाँ यदि वृत्ति प्रत्यय हो जाये तो प्रत्ययार्थ क्रिया नहीं द्रव्य स्थूल होगा और यदि क्रिया प्रत्ययार्थ से विशेषित होगी तो प्रकृत्यर्थ तृतीयासमर्थ अविशेषित रह जायेगा। तब अक्रियावाची तृतीयासमर्थ से क्रिया की तुल्यता होने पर प्रत्यय प्राप्त होगा। जैसे- स्थूलेन तुल्यः पुत्रः स्थूलेन तुल्यः याति। यहाँ इसका अर्थ है- स्थूल के

५ ननु ब्राह्मण शब्देन जातिद्रव्यं बोधयेत्, न ताभ्यां क्रियास्तुल्यत्वम्, अत्यन्तभेदात् । स्यादेतत् ब्राह्मणसहचरितायामध्ययनादिकायां क्रियायां ब्राह्मणशब्दस्य वृत्तिः, ब्राह्मणेन तुल्यं वर्तते । पदमञ्जरी

ननु जातिविशिष्टद्रव्यं ब्राह्मणशब्दार्थो, न च तेन क्रियायास्तुल्यत्वम्, अत्यन्तभेदादिति चेत्, न, ब्राह्मणादिशब्दानां तत्कर्त्तृकाध्ययनादिषु निरूढलाक्षणिकत्वेनादोषात्। बृहच्छब्देन्दुशेखर भावकर्मार्थप्रकरणम्।

६ ननु भिन्नकर्त्तृकयोरध्ययनयोस्तुल्यत्वे आश्रीयमाणेऽन्यः साधारणो धर्मोऽपेक्षणीयः । तथाऽत्रापि सौष्टवादयः प्रत्येष्यन्ते। प्रदीप

समान जो पुत्र है, वह स्थूल के समान जा रहा है। प्रकृत वाक्य में भी **ब्राह्मणवदधीते क्षत्रियः** के समान सभी स्थितियाँ हैं एक को छोड़कर। वहाँ ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों ही अध्ययनादि क्रिया से विशेषित हैं, जबकि यहाँ याति का संबन्ध केवल प्रथम **स्थूलेन तुल्यः** से है किन्तु द्वितीय **स्थूलेन तुल्यः** से भी प्रत्यय प्राप्त होने लगेगा। यहाँ यदि अनिष्ट प्रत्यय हो तब प्रत्ययार्थ तो याति से विशिष्ट हो जायेगा, किन्तु स्थूलवत् (अनिष्ट) याति से संबद्ध नहीं होगा, क्योंकि गमन केवल स्थूल का पुत्र कर रहा है। जहाँ प्रथम उदाहरण में ब्राह्मण का अर्थ अध्ययनादि क्रिया है और क्षत्रिय भी अध्ययन करता है। वहीं द्वितीय उदाहरण में स्थूलवत् (अनिष्ट) का अर्थ (अवयवार्थ) यातादि क्रिया नहीं है, क्योंकि वह गमन नहीं करता। यहाँ तुल्यता स्थूल (द्रव्य) के रूप में है, गमन क्रिया के रूप में नहीं। यहाँ अर्थ है- जैसे- 'स्थूल' 'स्थूल' है, वैसे ही स्थूल के समान, पुत्र जाता है। यहाँ दोनों स्थूल अवश्य हैं, किन्तु गमन क्रिया नहीं कर रहे। प्रथम 'स्थूलेन तुल्यः' का संबन्ध क्रिया से है दूसरे का नहीं। अतः मानना चाहिए कि क्रिया के प्रत्ययार्थ से विशेषित होने पर यह दोष होगा।

इस पर दूसरे पक्ष का कहना है कि यह कोई दोष नहीं, क्योंकि सूत्र का अर्थ है- **'यत्तत् तुल्यं क्रिया चेत् सा भवति**। तुल्य का अर्थ है- समान। तो जब प्रकृत्यर्थ (तृतीयासमर्थ) भी क्रिया हो, और प्रत्ययार्थ भी तभी तुल्यता संभव है। इस प्रकार तुल्य पद के कारण प्रकृत्यर्थ भी क्रिया से विशिष्ट हो, यह स्वतः गम्यमान हो जायेगा। किन्तु यह तर्क प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ दोनों में घटता है, अतः भाष्यकार कहते हैं कि - **यद्यपि प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ दोनों में से किसी एक के भी क्रिया से विशेषित मानने पर 'तुल्यम्' के कारण परस्परापेक्षित्व सिद्ध हो जायेगा, तथापि, यहाँ प्रत्ययार्थ विशेषण मानना चाहिए।**^७ क्योंकि आचार्य ने सूत्र में वतिः (प्रथमान्त) के साथ ही क्रिया (प्रथमान्त) का समानाधिकरण पढा है। साथ ही, वतिः प्रत्ययार्थ को क्रिया मानने का एक अन्य प्रयोजन यह स्थापित करना भी है कि **वतिप्रत्ययान्त का कोई लिङ्ग और वचन नहीं होता है।** अर्थात् रूप नहीं चलता है। चूँकि हमने वति प्रत्ययार्थ को क्रिया से विशेषित किया तो वतिः के क्रिया होने के कारण लिङ्ग, वचन आदि नहीं करने पड़ते।^८ यदि वतिः को क्रिया से विशेषित न किया गया होता तो वतिः का पाठ अव्ययों में करना पड़ता।

स्वामी दयानन्द क्रियाग्रहणका प्रयोजन गुणद्रव्य सादृश्य में प्रत्ययविधान को बाधित करने के लिये मानते हैं^९ सिद्धान्तकौमुदी में गुण की तुल्यता में प्रत्ययविधान को रोकने के लिये सूत्रस्थ क्रियाग्रहण के औचित्य को प्रतिपादित किया गया है।^{१०}

सप्तमीसमर्थ एवं षष्ठीसमर्थ से इव अर्थ में वतिः प्रत्यय होता है।^{११} जैसे- मथुरायामिव मथुरावत् सुधने प्राकाराः। देवदत्तस्येव = देवदत्तवत् यज्ञदत्तस्य गावः।

७ प्रत्ययार्थविशेषणमेव ज्यायः । एवं चैव हि कृत्वाऽऽचार्येण सूत्रं पठितम्। वतिना समानाधिकरणम् कृतम्। महा. ५.१.११५

८ अपि च वर्तरव्ययेषु पाठो न कर्तव्यो भवति । क्रियायामयं भवन् लिङ्गसंख्याभ्यां न योक्ष्यते। महा. ५.१.११५

९ स्वामी दयानन्दकृत स्त्रैणस्ताद्धितम् (भावाधिकारः)

१० क्रिया चेत् किम्? गुणतुल्ये मा भूत्, पुत्रेण तुल्यः स्थूलः। सिद्धान्तकौमुदी (तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः)

११ तत्र तस्येव अ. ५-१-११६

यहाँ आक्षेप किया गया है कि इस विधि को पृथक् से कहने की क्या आवश्यकता है? क्यों न पूर्व विधि 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वति' से इष्ट कार्य की सिद्धि की जाये। पूर्व में तृतीयासमर्थ से तुल्यार्थ के होने पर वतिः प्रत्यय कहा है और तुल्यार्थ में होने वाली जो तृतीया^{१२} है, उसके द्वारा ही इव के योग में होने वाले सभी विभक्त्यर्थ व्याप्त हो जायेंगे। इव के योग में सभी विभक्तियाँ होती हैं और उन सभी विभक्तियों से प्राप्त अर्थ 'तेन तुल्यम्' से भी प्राप्त हो जायेगा। जैसे- **ब्राह्मण इव (प्रथमान्त) अधीते** के स्थान पर **ब्राह्मणेन तुल्यम् अधीते, ब्राह्मणमिव पश्यति** के स्थान पर **ब्राह्मणेन तुल्यम् पश्यति** इसी प्रकार षष्ठ्यन्त ब्राह्मणस्येव क्षत्रियस्य स्वम् के स्थान पर ब्राह्मणेन तुल्यं क्षत्रियस्य स्वम् आदि। इस प्रकार यह सिद्ध होने पर कि इव के योग में होने वाले सभी विभक्त्यर्थ तृतीयासमर्थ से युक्त तुल्य शब्द से भी सिद्ध हो जाते हैं। क्यों न तेन तुल्यम्.... विधि का ही आश्रय लिया जाये, और वहाँ क्रियाग्रहण न किया जाये।

भाष्यकार कहते हैं कि पूर्वविधि से यहाँ इष्ट वतिः की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ क्रिया की अपेक्षा से वतिः है और यहाँ द्रव्य (गुण) की इच्छा से और यदि पूर्व विधि में क्रियाग्रहण न किया गया तो 'गवा तुल्यो गवयः' आदि उदाहरणों में भी वति की अतिप्रसक्ति होगी। अतः पूर्व विधि में क्रियाग्रहण अनिवार्य है। चूँकि पूर्वविधि में क्रिया ग्रहण होने के कारण, गुण एवं द्रव्यों की तुल्यता होने पर प्रत्यय प्राप्त नहीं हो रहा था, अतः यह विधि की गयी है। और दूसरी बात यह कि इव के योग में तृतीयाविभक्ति नहीं होती है। तुल्यार्थक शब्दों से तृतीया का विधान अवश्य है किन्तु इव शब्द से प्रतिपदविधान द्वारा कोई भी विभक्ति नहीं की गयी है। और चूँकि इस विधि में क्रिया अनपेक्षित है, अतः यह शेषार्थ संबन्धभाव हुआ और शेषत्व में षष्ठी होगी। यद्यपि यह सत्य है कि इव के योग में सप्तमी का भी प्रतिपदविधान नहीं है, तथापि इस विधि में 'तत्र'ग्रहण से यह ज्ञापक निकलता है कि इव के योग में शेष अर्थ में सप्तमी भी होती है।^{१३} जिसके कारण 'देवेष्विव नाम', 'ब्राह्मणेष्विव नाम' प्रयोग उपपन्न हो जाता है। अतः क्रियाभिन्न तुल्यत्व में भी वति करने के लिए इस विधि का पृथक् से वचन आवश्यक है।

द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से अर्हम् (प्राप्ति योग्य है) अर्थ में वति प्रत्यय होता है।^{१४} जैसे- **राजानम् अर्हति परिपालनम् = राजवत्।**

इस विधि के पृथक् वचन का प्रयोजन यह है कि 'तेन तुल्यम्' विधि में तृतीयासमर्थ से तब प्रत्यय होता है कि जब अन्य के द्वारा की जाने वाली क्रिया कोई अन्य करे,^{१५} जैसे कोई ब्राह्मण राजाओं की तरह हाथी पर सवार होकर जाये तो कहा जाता है कि **ब्राह्मणो राजवत् गच्छति।** (ब्राह्मण राजा के समान जा रहा है) यहाँ इस वाक्य में दो कर्ता शब्द हैं। १. ब्राह्मण २. राजा। इसी प्रकार तत्संबन्धित क्रिया भी दो हैं। १. ब्राह्मण की क्रिया २. राजा की क्रिया। जब राजा के द्वारा की जाने वाली क्रिया कोई दूसरा (ब्राह्मण) करता है

१२ तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् । अ. २.३.७२

१३ तज्ज्ञापयत्याचार्यः भवति इव शब्देन योगे सप्तमीति । महा. ५.१.११६

१४ तदर्हम् अ. ५-१-११७

१५ तृतीयासमर्थान्तत्र यदान्येन कर्तव्यां क्रियामन्यः करोति तदा प्रत्यय उत्पाद्यते । महा. ५.१.११७

तब तेन तुल्यम् विधि से प्रत्यय होगा। किन्तु जब स्वयं के द्वारा की जाने वाली क्रिया को स्वयं ही किया जाये, तब इस विधि से प्रत्यय होगा।^{१६} जैसे कोई किसी ब्राह्मण से कहे कि आप ब्राह्मणवत् = ब्राह्मण के समान, लग रहे हो। इस वाक्य में वह स्वयं भी ब्राह्मण है और क्रिया भी स्वयं की ही कर रहा है। तात्पर्य यह है कि जब कोई ब्राह्मण व्यक्ति ब्राह्मण के अनुरूप आदर्श स्थिति में व्यवहार करता है, तब ब्राह्मण के ही निश्चित प्रकर्ष को बताने के लिए प्रकृत वति इष्ट है। यहाँ तुल्यता समानाधिकरण में है, जबकि वहाँ व्यधिकरण में थी। ब्राह्मणवद्भवान् वर्तते से वास्तव में हम यह कहना चाहते हैं कि ब्राह्मण को एतद्भूत = इस तरह के व्यवहार वाला होना चाहिए। अर्थात् अब लग रहे हो ब्राह्मण।

साधन = कारकविशिष्ट धात्वर्थ में वर्तमान उपसर्ग से स्वार्थ में वति होता है, वेदविषय में।^{१७} यथा- यद्भूतो निवतो यासि वप्सद्।^{१८}

महाभाष्य में सूत्र के 'धात्वर्थे' पद पर आक्षेप किया गया है कि यहाँ अर्थग्रहण व्यर्थ है, क्योंकि धातु के शब्द होने के कारण और शब्द में कार्य के असंभव होने से स्वतः ही धात्वर्थ गम्यमान हो जाता। कार्यान्वयन शब्द में नहीं अर्थ में होता है। जैसे- गौ शब्द में नहीं, कार्य गो व्यक्ति में होता है, अतः धातु से धात्वर्थ स्वयंसिद्ध ही है।

भाष्यकार कहते हैं कि यहाँ अर्थग्रहण धात्वर्थ क्रिया की अपेक्षा से नहीं है, अपितु उत्तरपद के लोप के ज्ञान के लिए है। वस्तुतः सूत्र में जो धात्वर्थ है, वह उत्तरपद लुप्त शब्द है। अर्थात् धातुकृतोऽर्थः = धात्वर्थः। धातु के द्वारा किया हुआ जो अर्थ होता है, वह साधन होता है, क्रिया नहीं। इस अर्थग्रहण का प्रयोजन यह है कि अब उपसर्ग से जो वति प्रत्यय होगा, वह साधन अर्थ में होगा, धात्वर्थ क्रिया में नहीं। साधन होने के कारण वत्यन्तरूप में इष्ट लिङ्ग व संख्या (वचन) का विधान भी हो सकेगा। साधन सदैव द्रव्य व सिद्ध होता है, और लिङ्ग व वचन द्रव्य में ही संभव हैं। यदि केवल 'धातौ' पद होता तो धात्वर्थ क्रिया में उपसर्ग से वतिः होता और क्रिया के साध्य होने के कारण लिङ्ग व वचन न हो पाते। फलतः उद्धतः यह लिङ्ग व वचनयुक्त शब्द न बन पाता। न्यासकार कहते हैं कि यद्यपि वति अव्ययसंज्ञक है, अतः विभक्ति का लुक् प्राप्त होता है, तथापि अव्ययसंज्ञा के अनित्य होने के कारण यहाँ विभक्ति का लुक् नहीं होता है।^{१९}

भाष्य में एक पक्ष द्वारा स्त्री और पुंस् शब्द से वति प्रत्यय के उपसंख्यान का सुझाव दिया गया है।^{२०} स्त्री और पुंस् शब्द को वति प्रत्यय की प्राप्ति में बाधा यह है कि इन दोनों शब्दों को भवनार्थ^{२१} से पूर्व तक

१६ इह पुनर्द्वितीयासमर्थादात्मार्यायां क्रियायामर्हतिकर्तरि निश्चितबलाधाने प्रत्यय उत्पाद्यते ब्राह्मणवद्भवान् वर्तते । एतद्भूतं

ब्राह्मणमर्हतीति । महा. ५-१-११७

१७ उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे अ. ५.१.११८

१८ ऋग्वेद १०.१४२.४

१९ ननु च वनेरव्ययसंज्ञकत्वात् विभक्तेर्लुक् प्राप्नोति, स कस्मान्न भवति? अव्ययसंज्ञाया अनित्यत्वात्। न्यास ५.१.११८

२० स्त्रीपुसाभ्यां वत्युपसंख्यानम्, महा. ५.१.११८

के सभी अर्थों में क्रमशः नञ् व स्नञ् प्रत्यय का विधान किया गया है।^{२२} यह तुल्यार्थक विधि भी भवनार्थ से पूर्व है, अतः सामान्य रूप से विहित वति की अपेक्षा नञ्, स्नञ् के विशेषविहित प्रतिपदविहित होने के कारण वे वतिः के अपवाद माने जायेंगे। अतः उस अपवाद के बाधन के लिए उपसंख्यान करना चाहिए। जिससे इष्ट वतिः हो सके।

भाष्यकार कहते हैं कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि आचार्य की प्रवृत्ति बताती है कि वत्यर्थ = तुल्यार्थ में नञ् और स्नञ् नहीं होते हैं, केवल वतिः होता है, क्योंकि वे सूत्र में वतिप्रत्ययान्त = पुंवत् का पाठ करते हैं। योगापेक्ष नियम से, अपठित स्त्री शब्द से भी वतिः की सिद्धि हो जायेगी।^{२३}

षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से भावकर्म अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं।^{२४} जैसे- गोर्भावः = गोत्वम्। गोता। मनुष्यता। महाभाष्य में इस प्रत्ययविधि पर विस्तार से विचार किया गया है। भाष्यकार ने इस प्रत्ययविधि पर तीन प्रश्न उठाये हैं

१. स्त्री और पुंस् प्रकृति विशेष से विहित नञ् और स्नञ् क्या सामान्य त्व और तल् का बाधन नहीं करेंगे।

२. तस्य भावस्त्वतलौ में प्रयुक्त भाव शब्द में अतिव्याप्ति दोष है अतः क्या इसका प्रत्याख्यान करना चाहिये?

३. नञ्समास युक्त पद अब्राह्मणत्वम् आदि में इष्टस्वर की सिद्धि के लिये क्या त्व और तल् की अपेक्षा नञ् समास के पूर्वविप्रतिषेध के लिये वचन = उपसंख्यान नहीं करना चाहिये। अब क्रमशः इन सभी प्रश्नों पर विचार करते हैं

प्रथम प्रश्न - वार्तिककार कहते हैं कि अपत्याधिकार में स्त्री और पुंस् प्रकृतियों से भवनार्थ से पूर्व तक के अर्थों के अभिप्रेत रहने पर क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्ययों का विधान किया गया है। भाव अर्थ भी भवनार्थ की अवधि के अन्तर्गत ही एक अर्थ है। अतः उस प्रत्ययविधि की प्रवृत्ति निश्चित रूप से इस भाव अर्थ में भी होगी चूँकि तस्य भावस्त्वतलौ सूत्र षष्ठ्यन्त सामान्य प्रकृति से त्व और तल् का विधान करता है अतः स्त्री एवं पुंस् शब्दों के संदर्भ में स्त्री... सूत्र तस्य भावस्त्वतलौ की अपेक्षा विशेषविहित होने के कारण प्रकृत त्व और तल् का बाधन करेगा। फलतः स्त्री और पुंस् शब्द से भाव अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय नहीं हो पायेंगे। जबकि इष्ट हैं। अतः इसके लिये उपसंख्यान करना चाहिये। साथ ही वावचन भी करना चाहिये^{२५}

२१ धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्, अ. ५.२.१

२२ स्त्रीपुसाभ्यां नञ्सन्जौ भवनात्, अ. ४. १.८७

२३ योगापेक्षं ज्ञापकं भवति, महा. ५.१.११८

२४ तस्य भावस्त्वतलौ, अ. ५-१-११९

२५ स्त्रीपुसाभ्यां त्वतलोरुपसंख्यानम् । वावचनं च कर्तव्यम् । महा. ५.१.११९

जिससे न केवल त्व और तल् ही अपितु नञ् और स्नञ् भी हों। अन्यथा त्व और तल के उपसंख्यान से नञ्, स्नञ् का पूर्णतया बाधन हो जायेगा।

महाभाष्य में पतञ्जलि ने इसका समाधान किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार त्व और तल् के साथ-साथ इनके अपवाद इमनिच् आदि भी होते हैं अर्थात् सामान्य त्व और तल् भी अपवादों इमनिच् आदि के साथ हो जाते हैं अर्थात् इमनिच् आदि अपवादों से सामान्य त्व और तल् बाधित नहीं होते वैसे ही नञ्, स्नञ् से त्व और तल् भी बाधित नहीं होंगे। **आ च त्वात्** सूत्र के द्वारा अपवादों के साथ उत्सर्गों का भी समावेश हो जाता है। यद्यपि नञ् और स्नञ् के भाव अर्थ में पठित न होने के कारण **आ च त्वात्** सूत्र की प्रवृत्ति प्रथमदृष्ट्या यहाँ प्रतीत नहीं होती तथापि, चूंकि **आ च त्वात्** सूत्र में पठित च ग्रहण का कोई प्रयोजन नहीं है अतः यह ध्वनित होता है कि सूत्र में च ग्रहण नञ् स्नञ् के अनुकर्षण के लिये ही है। फलतः अपवाद नञ्, स्नञ् के साथ इमनिच् आदि की तरह ही त्व और तल् भी हो जाते हैं।^{२६}

द्वितीय प्रश्न- वार्तिककार कहते हैं कि सूत्र में पठित भाव शब्द के अभिप्राय, रुचि आदि कई अर्थ हैं। फलतः भाव शब्द के कहने से अभिप्रायादि सभी अर्थों में प्रत्यय का प्रसङ्ग होगा। अतः इसे इस प्रकार परिभाषित करना चाहिये-

"जिस गुण या धर्म के होने से वस्तु या अभिधेय में शब्द का प्रयोग होता है उस गुणदि का अभिधान कराने में त्व, तल् का प्रयोग होता है।"^{२७}

भाव की उपर्युक्त परिभाषा में भी अतिव्याप्ति दोष होने के कारण भाष्यकार यहाँ अनभिधान का आश्रय लेने का सुझाव देते हैं।^{२८} क्योंकि भाव को लक्षणात्मक रूप से परिभाषित करना दुःसाध्य है और परिभाषित करने पर सूत्रभेद का अनिष्ट प्रसङ्ग भी है।

तृतीय प्रश्न- वार्तिककार कहते हैं कि **अब्राह्मणत्वम्** आदि शब्दों की सिद्धि के लिये **"त्व और तल् से नञ्समास पहिले होता है"** ऐसा पूर्वविप्रतिषेध वचन करना चाहिये।^{२९} चूंकि त्व और तल् नञ्समास से परवर्ती हैं अतः विप्रतिषेध नियम से पहिले त्व और तल् होंगे। फलतः, रूपभेद न होते हुए भी स्वरविपर्यय तो होगा ही। दोनों में स्वर भेद इस प्रकार है- यदि त्व प्रत्यय नञ्समास से पूर्व किया तो विग्रह इस प्रकार होगा- ब्राह्मणस्य भावः = ब्राह्मणत्वम्। न ब्राह्मणत्वम् अब्राह्मणत्वम्। इस स्थिति में **आद्युदात्त** होगा। यदि नञ् समास पहिले हुआ तो विग्रह होगा न ब्राह्मणः, अब्राह्मणः। अब्राह्मणस्य भावः = अब्राह्मणत्वम्। यहाँ त्व प्रत्यय के कारण **अन्तोदात्त** होगा। चूंकि अन्तोदात्त इष्ट है अतः पूर्वविप्रतिषेध के लिये वचन करना चाहिये।

२६ अपवादसमावेशाद्वा सिद्धम्। एवं तर्हि वक्ष्यति- आ च त्वात् इत्यत्र चकारग्रहणस्य प्रयोजनं नञ्सञ्चामपि समावेशो भवतीति ।

महा. "

२७ सिद्धं तु यस्य गुणस्य भावादद्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ। महा. "

२८ अनभिधानादभिप्रायादिषूत्पत्तिर्न भविष्यति । महा. "

२९ त्वतल्भ्यां नञ्समासः पूर्वविप्रतिषिद्धं त्वतलो स्वरसिद्ध्यर्थम्। महा. "

जबकि दूसरा पक्ष इससे सहमत नहीं। उसका कहना है कि **अब्राह्मणत्वम्** में जहाँ नञ्समास को भाव की अपेक्षा है वहीं भाव को नञ् समास की। इस प्रकार दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं और सापेक्ष असमर्थ होता है एवं असमर्थ में वृत्ति तद्धितादि नहीं होती। चूँकि प्रधान सापेक्ष को समास हो जाता है अतः **अब्राह्मणत्वम्** में त्व की अपेक्षा होते हुए भी नञ्समास हो जायेगा।^{३०} किन्तु सापेक्ष प्रत्यय (त्व) नहीं होगा। अतः नञ् समास का प्रथम होना सिद्ध ही है। अब्राह्मणत्वम् में ब्राह्मण शब्द प्रधान है। ब्राह्मण शब्द यहाँ प्रधान इसलिये है क्योंकि तत्पुरुष समास उत्तरपद प्रधान होता है। जैसे- राजपुरुषोऽभिरूपः। अर्थात् राजा का समास ऐसे पुरुष से होता है जो अभिरूप = सुन्दर हो। यद्यपि, यहाँ पुरुष शब्द अभिरूप की अपेक्षा रखता है तथापि, विशेष्य होने के कारण यह प्रधान है। अतः प्रधान में सापेक्ष होते हुए भी समास हो जाता है। इस प्रकार नञ्समास का त्व और तल् से पूर्व होना सिद्ध हो जाता है। फलतः पूर्वविप्रतिषेध वचन की कोई आवश्यकता नहीं।

इस संदर्भ में भाष्यकार का कहना है कि उपर्युक्त विप्रतिषेध वचन अवश्य करना चाहिये और इसका प्रयोजन यह है कि इसी विधि पर सबसे अन्त में एक वार्तिक पठित है- **नञ्समासादन्यो भाववचनः स्वरोत्तरपदवृद्ध्यर्थम्**। अर्थात् नञ् समास की अपेक्षा से अन्य भाववचन = त्व, तल् से भिन्न ष्यञ्, इमनिच् आदि प्रत्यय विप्रतिषेध से होते हैं। अर्थात् पहिले प्रत्यय होते हैं पश्चात् नञ् समास। फलतः **आकाण्यम्** रूप बनता है। यदि नञ् समास पहिले हो तो वृद्धि आदिअच् अ को होगी और **आकृण्यम्** यह अनिष्ट रूप बनेगा।

इस प्रकार यदि पूर्वविप्रतिषेध का वचन किया गया तो यह अर्थ स्वतः निकलेगा कि- **अन्य भाववचन प्रत्यय नञ् समास से पहिले अर्थात् विप्रतिषेध से होते हैं**। क्योंकि त्व, तल् की अपेक्षा से तो नञ् समास का प्रथम होना सिद्ध ही था। इष्ट सिद्धि रहते हुए भी पुनर्विधान नञ्समास की अपेक्षा से अन्य भाववचनों में विप्रतिषेध नियम की व्याप्ति करा देगा। इस प्रकार अन्य भाववचनों से कथित द्वितीय उपसंख्यान की आवश्यकता नहीं रहेगी।^{३१}

षष्ठीसमर्थ पृथु आदि प्रातिपदिकों से भाव अर्थ में इमनिच् प्रत्यय विकल्प से होता है।^{३२} जैसे- पृथोर्भावः प्रथिमा, पार्थवम्।

यहाँ पर वावचन अण् के समावेश के लिए है।^{३३} **आ च त्वात्** के कारण त्व और तल् तो हो ही जाते हैं। काशिकाकार की दृष्टि में वावचन का प्रयोजन अणादि प्रत्ययों का समावेश कराना है^{३४} जबकि भाष्यकार

३० भवति च प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समासः । महा. "

३१ इदं तर्हि प्रयोजनम्- नञ्समासादन्यो भाववचनः स्वरोत्तरपदवृद्ध्यर्थमिति वक्ष्यति, तत्र व्यवस्थार्थमिदं वक्तव्यम्। महा. "

३२ पृथ्वादिभ्यः इमनिज्वा अ. ५.१.१२२

३३ पृथ्वादिभ्यो वावचनमण्समावेशार्थम्। महा. ५.१.१२२

३४ वावचनमणादेः समावेशार्थम् । काशिका ५.१.१२२

ने अणादि के स्थान पर उपलक्षण के रूप में अण् का पाठ किया है वस्तुतः भिन्न-भिन्न प्रकृतियों से यथायथ प्राप्त अणादि प्रत्यय का समावेश कराना ही उनका प्रयोजन है।

षष्ठीसमर्थ गुणवाचक एवं ब्राह्मणादि शब्दों से कर्म क्रिया के अभिधेय होने पर ष्यञ् प्रत्यय होता है।^{३५} जैसे- जडस्य भावः कर्म वा = जाड्यम्। भाष्यकार ने इस विधि पर दो उपसंख्यानों का पाठ किया है-

ब्राह्मणादियों में चातुर्वर्ण्य आदि शब्दों का भी पाठ करना चाहिए।^{३६} चातुर्वर्ण्यम्। चातुर्वैद्यम्। चातुराश्रम्यम्। प्रदीपकार कहते हैं कि भाष्यकार ने जो ष्यञ्प्रत्ययान्तरूप = चातुर्वर्ण्यम्, का उपसंख्यान में पाठ किया है, इसका प्रयोजन भावकर्म अर्थ की निवृत्ति कराना है। अर्थात् चतुर्वर्ण आदि शब्दों से स्वार्थ में ष्यञ् होता है।^{३७} क्योंकि भाव अर्थ में तो ष्यञ् हो ही चुका है। काशिकाकार ने चतुर्वेद शब्द की उभयपद वृद्धि के लिए पृथक् से गणसूत्र का उपसंख्यान किया है। प्रदीपकार कहते हैं कि अनुशतिकादियों के आकृतिगण होने के कारण, चतुर्वेद शब्द को भी अनुशतिकादियों में मानकर उभयपद वृद्धि हो जायेगी।^{३८} अतः पृथक् से किया यह उपसंख्यान चिन्त्य है।

षष्ठीसमर्थ स्तेन शब्द से भाव, कर्म अर्थ में यत् प्रत्यय होता है, साथ ही न शब्द का लोप भी होता है।^{३९} जैसे- स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम्। भाष्य में आक्षेप किया गया है कि यहाँ नलोपविधि दोषपूर्ण है, क्योंकि 'न' पद से या तो = वर्ण (न्) का लोप होगा, या संघात (न्+अ) का और दोनों ही पक्षों में इष्ट लोपसिद्धि में बाधा आयेगी, क्योंकि यदि यहाँ न् वर्ण ग्रहण माना जाये, तो न् का लोप होने पर अनिष्ट अयादेश (स्ते + अ) प्राप्त होगा और यदि लोपविधि न (न् +अ) को मानी जाये तब चूँकि षष्ठीनिर्दिष्ट आदेश अन्तिम अल् को होते हैं।^{४०} अतः लोप, न के अन्तिम अल् अ को प्राप्त होगा। जबकि इष्ट न् को है।

भाष्यकार कहते हैं कि यहाँ लोपविधि अन्तिम अल् के स्थान पर नहीं होगी, क्योंकि यदि अन्तिम वर्ण अ का ही लोप इष्ट होता, तो पृथक् से यहाँ लोपवचन की क्या आवश्यकता थी, क्योंकि अन्तिम वर्ण का लोप तो स्वयं ही सिद्ध है।^{४१} अ का लोप प्राप्त रहते भी जो पुनः लोपविधि की गई है। इस आरम्भसामर्थ्य से न (संघात) का लोप होता है।^{४२}

३५ गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । अ. ५.१.१२४

३६ ब्राह्मणादिषु चातुर्वर्ण्यादीनामुपसंख्यानम् । महा. ५.१.१२४

३७ प्रत्ययान्तोच्चारणं भावकर्मसंबन्धनिवृत्त्यर्थमिति स्वार्थ एव ष्यञ् भवति। चतुर्वेदमेव चातुर्वैद्यम्। प्रदीप

३८ अनुशतिकादेराकृतिगणत्वादुभयपदवृद्धिः । प्रदीप "

३९ स्तेनाद्यन् नलोपश्च अ. ५.१.१२५

४० अलोऽन्त्यस्य अ. १.१.५२

४१ यस्येति च। अ. ६.४.१४८

४२ तत्रारम्भसामर्थ्यात् सर्वस्य भविष्यति । महा. ५.१.१२५

काशिकाकार ने केचित् कहकर इस विधि में योगविभाग की चर्चा की है। इसका प्रयोजन यह है कि जिससे स्तेन शब्द से ष्यञ् प्रत्यय भी हो सके।^{४३} भाष्यकार ष्यञ् प्रत्यय को इष्ट नहीं मानते।

हायन अन्त वाले प्रातिपदिकों और युवन् आदि से भाव और कर्म अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।^{४४} जैसे- द्विहायनस्य भावः कर्म वा = द्वैहायनम्। त्रैहायणम्।

श्रोत्रिय शब्द से अण् प्रत्यय तथा घलोप का उपसंख्यान करना चाहिए।^{४५} जैसे

श्रोत्रियस्य भावः = श्रौत्रम्। काशिकाकार य का एवं पदमञ्जरीकार घादेश इय् का लोप मानते हैं।^{४६}

४३ स्तेनात् इति केचिद्योगविभागं कुर्वन्ति । स्तेनात् ष्यञ् भवति स्तैन्यम् । ततः यत्रलोपश्च । का. "

४४ हायनान्त युवादिभ्योऽण् अ. ५.१.१३०

४५ अण्प्रकरणे श्रोत्रियस्य घलोपश्च । महा. ५.१.१३०

४६ श्रोत्रियस्य यलोपश्च वाच्यः । का. ५.१.१३०

लौकिक न्याय एवं व्याकरण शास्त्र

अवनीश कुमार^१

भारतीय शास्त्रीय ज्ञान परम्परा में तथ्य उपस्थापन के लिये लौकिक आख्यानों, उक्तियों, मुहावरों आदि का प्रयोग होता रहा है। इन्हीं उक्तियों को न्याय शब्दाभिहित किया गया है, 'न्यायो नाम उक्तिः'। लौकिक न्यायों के द्वारा शास्त्रों में अपने प्रयोजन की सिद्धि की गई है, 'नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थः येन'। लोक की घटनायें, परम्परायें, कथन आदि इन न्यायों का आधार हैं। नागेश लोक को स्पष्ट करते हैं-

लोक्यते येन शब्दार्थो लोकस्तेन स उच्यते।

व्यवहारोऽथवा वृद्धव्यवहर्तृपरम्परा।।^२

कुछ न्याय साक्षात् तो कुछ अर्थवाद से शास्त्रीय तथ्य उपस्थापन में सहायक होते हैं। विशेष रूप से व्याकरण शास्त्र में लोक के उद्धरण (उक्ति, मुहावरे आदि) पदे पदे उपकारक हैं।

संस्कृत व्याकरण शास्त्र में व्याकरणिक नियमों के अवबोधार्थ लोकन्यायों का प्रयोग पाणिनि में सङ्केतित होता हुआ भाष्यकार पतञ्जलि में पुष्ट होता है। लोक के मुहावरे, उक्तियों आदि से शास्त्र अपने प्रयोजन की सिद्धि करता है।

व्याकरण भाषा का विश्लेषक है, भाषा लोक से है, अतः भाष्यकार पतञ्जलि विवाद स्थलों में लौकिक दृष्टान्तों का आश्रय लेकर समाधान प्रस्तुत करते हैं। लोकाश्रय से शास्त्रसिद्धि का मन्तव्य महाभाष्य में स्पष्ट होता है, महाभाष्य के प्रारम्भ में ही पस्पशाह्निक में 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक पर शङ्कासमाधान पूर्वक बहुत व्याख्यान करने के बाद भाष्यकार कहते हैं 'कथं पुनर्जायते सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति, लोकतः'। व्याकरणशास्त्र का लक्ष्य शब्दसाधुत्वज्ञान है और साधु शब्द प्रयोग से अपवर्ग सिद्धि कही गयी है। सूत्रों में से किस सूत्र की प्रवृत्ति से साधुशब्दाभिव्यक्ति होगी इस विचिकित्सा की निवृत्ति के लिये व्याकरणशास्त्र में लौकिक न्यायों का आश्रय लेकर बाध्यबाधकभावादि से शास्त्र का लक्ष्यभूत शब्दसाधुत्व सिद्ध किया गया है।

शब्दशास्त्रकार पाणिनि ने शब्द के साधुत्व ज्ञान के लिये लौकिक न्यायों का आधार ग्रहण किया है। 'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्'^३, 'जीवति तु वंश्ये युवा'^४ इत्यादि सूत्रों पर पाणिनि का लोक न्याय ग्राह्यत्व स्पष्ट होता है, जैसे लोक में घर का वृद्ध मर जाये तो घर के ही बालक या युवा को वृद्ध कहा जाता है, इत्यादि।

१ सह-आचार्य, संस्कृत विभाग, हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-११०००७, E Mail : avnishkumar02@gmail.com

२ महाभाष्य, प्रदीपोद्योत, सूत्र ४/१/३ पर।

३ अष्टाध्यायी १/२/५६।

४ अष्टाध्यायी ४/१/१६३।

लोक भाषा प्रयोक्ता के शब्द प्रयोगों और व्याकरण के नियमों को नियन्त्रित करता है। लोक प्रयोगों को प्रदर्शित करता है और व्याकरण नियमों के निर्धारण में उन प्रयोगों और दृष्टान्तों को ग्रहण करता है। दृष्टान्त व्याकरण शास्त्र में शब्द-साधुत्व ज्ञान में सहायक होते हैं। आचार्य पतञ्जलि कहते हैं- मात्र सूत्रों से शब्द ज्ञान सम्भव नहीं है, पूर्ण एवं समुचित शब्द ज्ञान के लिये व्याख्यान अपेक्षित है, जिसमें उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्य-अध्याहार आदि का समावेश है। लौकिक न्याय व्याकरणिक नियमों के सम्यक् सञ्चालन के प्रभावी साधनों में से एक हैं। ये व्याकरणिक नियमों को बोधगम्य बनाते हैं।

संस्कृत व्याकरण परम्परा में इन लौकिक न्यायों का प्रयोग सर्वाधिक महाभाष्य में किया गया है। आचार्य रामकिशोर शुक्ल ने महाभाष्य में २८७ लौकिक दृष्टान्त परिगणित किये हैं।^५ भाष्यकार के अतिरिक्त कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषणसार में, नागेशभट्ट ने वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा में, भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में लौकिक न्यायों का उपयोग किया है। काशिका में, पदमञ्जरी-न्यास में, प्रक्रिया ग्रन्थोंआदि में भी ये न्याय दृष्टिगोचर होते हैं।

लौकिक न्याय लोक में मानवीय जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध होते हैं। इस आधार पर लौकिक न्यायों को अनेक वर्गों में विभक्त करके समझा जा सकता है। यथा-भौगोलिक न्याय, सामाजिक न्याय, आर्थिक न्याय, राजनैतिक न्याय, साहित्यिक एवं कलात्मक न्याय, धार्मिक विश्वास, कृत्य तथा विचार सम्बन्धी न्याय, सूक्ति तथा लोकोक्ति सम्बन्धी न्याय, जड-चेतन पदार्थों के स्वाभाविक गुण सम्बन्धी न्याय, इनके अतिरिक्त ऐसे भी न्याय हैं जो शास्त्र में ही प्रयुक्त होते हैं जिनका लोक से सम्बन्ध नहीं होता। इन सभी विभागों के अनेक उपविभाग भी किये जा सकते हैं।^६ यहाँ (प्रकृत लेख) में स्थालीपुलाक न्याय से व्याकरणशास्त्र में प्रयुक्त न्यायों को प्रदर्शित कर व्याकरण के सम्यक् ज्ञान में इनके साहाय्य को बतलाने का प्रयास है।

भौगोलिक न्याय- इसके अन्तर्गत पर्वत, अरण्य, नदी, समुद्र, ग्राम, नगर आदि से सम्बन्धित न्यायों को रखा जा सकता है। यथा-

पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः/पर्जन्यवर्षणन्याय- जैसे लोक में वर्षा स्थल, मरुस्थल या जलरहित स्थान में होती है वैसे ही जलपूरित स्थल, नदी, समुद्र आदि में भी होती है।

यह न्याय 'इको झल्'^७ सूत्र के भाष्य में प्रवृत्त हुआ है। यहाँ 'इक्' ग्रहण प्रयोजन पर भाष्यकार विचार करते हैं। जो इगन्त धातु पहले से ही दीर्घ है, उसे दीर्घ करना व्यर्थ है। 'अज्झनामां सनि'^८ से होने वाला दीर्घ 'जिगीषति' इत्यादि में तो 'जि' धातु के ह्रस्व होने से युक्त है, किन्तु 'बुभूषति' इत्यादि में 'भू' धातु के स्वभावसिद्ध दीर्घ होने से दीर्घ करना अनावश्यक है। यहाँ पूर्वतः सिद्ध दीर्घ को पुनः दीर्घ करने का प्रयोजन गुण निषेध बतलाया है। किये हुए में भी शास्त्र कार्य किया करता है, जैसे बादल भेदबुद्धि के विना सब जगह

५ द्रष्टव्य- व्याकरणशास्त्रे लौकिकन्यायानामुपयोगः।

६ द्रष्टव्य- व्याकरणशास्त्रीय लोकन्यायरत्नाकर, डा भीमसिंह वेदालंकार ।

७ अष्टाध्यायी १/२/९।

८ अष्टाध्यायी ६/१/१६।

बरसता है, जहाँ आवश्यकता है वहाँ भी और जो जल से भरे हुए हैं वहाँ भी बरसता है। उसी प्रकार शास्त्र में भी होता है अर्थात् पहले से ही दीर्घ में भी दोबारा दीर्घ का विधान कर देता है। दोबारा दीर्घ विधान के सामर्थ्य से 'बुभूषति' में गुण की बाधा हो जायेगी। भाष्यकार के शब्दों में "दीर्घाणामपि दीर्घवचन एतत्प्रयोजनं गुणो मा भूदिति। कृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत्। तद्यथा पर्जन्यो यावद्वनं पूर्णञ्च सर्वमभिवर्षति" इति।^९

वीचीतरङ्गन्याय- जैसे नदी की एक तरङ्ग/लहर दूसरी तरङ्ग को उत्पन्न करती है वैसे ही जहाँ परम्पराक्रम से कार्योत्पत्ति हो वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।

यह न्याय "अङ्गुण"^{१०} सूत्र पर महाभाष्य के शब्द लक्षण के प्रसङ्ग में उद्योतकार ने उद्धृत किया है। दूसरे स्थान में उत्पन्न होने वाले शब्द का अपने श्रोत्र के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका समाधान इस न्याय से दिया गया है, जिस प्रकार एक लहर दूसरी लहर को उत्पन्न करती है और वह उत्पन्न लहर बहुत दूर तक जाती है, उसी प्रकार शब्द भी अगले शब्द को उत्पन्न करता हुआ कानों तक पहुँचता है। "श्रौत्रसम्बन्धस्तु प्रदेशान्तरोत्पन्नशब्दस्यापि वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा तत्रान्तरे व्युत्पादित एव"^{११}

गङ्गायमुनाग्रहणन्याय- जैसे लोक में अनेक नदियाँ गङ्गा में मिलकर गङ्गा कहलाती है और यमुना में मिलकर यमुना कहलाती हैं, वैसे ही शास्त्र में जो जिसका एकदेश या अवयव बन जाता है वह उसके ग्रहण से गृहीत होता है।

यह न्याय भाष्यकार ने 'येन विधिस्तदन्तस्य'^{१२} सूत्र पर पढ़े गये 'अकच्छनमवतः सर्वनामाव्ययधातु-विधावुपसंख्यानम्' इस वार्तिक के प्रत्याख्यान में प्रयोग किया है। यह वार्तिक 'अकच्' वाले तथा 'श्नम्' वाले शब्दों का सर्वनाम, अव्यय तथा धातु ग्रहण से गृहीत होने के लिये उपसङ्ख्यान करता है। उदाहरणार्थ यथा- सर्वके, विश्वके, उच्चकैः, नीचकैः। यहाँ सर्व, विश्व, उच्चैः, नीचैः शब्दों में अज्ञातादि अर्थों में "अव्ययसर्वनामानामकच्छावृत्तेः"^{१३} से विहित 'अकच्' प्रत्यय 'टि' से पूर्व होके इन शब्दों के मध्य में आता है। इस प्रकार ये शब्द न तो 'तत्' हैं और न ही 'तदन्त'। इस स्थिति में 'सर्वक', 'विश्वक' शब्द की सर्वनाम संज्ञा प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार 'उच्चकैः', 'नीचकैः' ये भी न तो स्वरादिगण में पठित 'उच्चैः', 'नीचैः' हैं और न ही 'उच्चैः, नीचैः' अन्त में जिसके ऐसे शब्द हैं। इस स्थिति में इनकी भी अव्यय संज्ञा प्राप्त नहीं होती। 'भिनत्ति', 'छिनत्ति' इन शब्दों में 'भिद्', 'छिद्' इन रुधादिगणीय धातुओं से श्नम् प्रत्यय होता है। मित् होने से श्नम् अन्तिम अच् से परे होता है, अतः 'भिनद्', 'छिनद्' न तो तत् हैं और न ही तदन्त हैं। ऐसी स्थिति में इनकी धातु संज्ञा प्राप्त नहीं होती। इसलिये भाष्यकार ने 'अकच्छनमवतः सर्वनामाव्ययधातुविधावुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से तत्तत् संज्ञाओं का उपसंख्यान किया है।

९ महाभाष्य, अष्टाध्यायीसूत्र १/२/९ पर।

१० अष्टाध्यायीप्रत्याहारसूत्र,

११ महाभाष्यप्रदीपोद्योत भाष्य अङ्गुण सूत्र पर। ,

१२ अष्टाध्यायी १/१/७१।

१३ अष्टाध्यायी ५/३/७१।

इस उपसंख्यान का” तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते” इस परिभाषा से खण्डन करते हुए गङ्गायमुनाग्रहणन्याय को उद्धृत किया है। जो जिसका एकदेश या अवयव बन जाता है वह उसके ग्रहण से गृहीत होता है, जैसे लोक में अनेक नदियाँ गङ्गा में मिलकर गङ्गा कहलाती हैं और यमुना में मिलकर यमुना कहलाती हैं। इसी प्रकार सर्वके, विश्वके, उच्चकैः, नीचकैः आदि शब्दों के बीच में आया हुआ 'अकच्' भी सर्व, विश्व, उच्चैः, नीचैः कहलायेगा, तो इनकी क्रमशः सर्वनाम संज्ञा तथा अव्यय संज्ञा हो जायेगी। 'भिनत्ति' आदि में 'भिद्' धातुक के बीच में आया हुआ 'श्नम' भी भी 'भिद्' के ग्रहण से गृहीत हो जायेगा और 'भिनत्ति' की धातु संज्ञा हो जायेगी। “तदेकदेशस्तद्ग्रहणेन गृह्यते। तद्यथा गंगा यमुना देवदत्ता इति। अनेका नदी गङ्गां यमुनां प्रविष्टा गङ्गायमुनाग्रहणेन गृह्यते”।^{१४}

सामाजिक न्याय- इसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी, नारी सम्बन्धी, गृहसामग्री सम्बन्धी, वेशभूषा सम्बन्धी, भोजन (खानपान) सम्बन्धी, परिवहन सम्बन्धी एवं मनोरञ्जन सम्बन्धी आदि न्याय हैं।

ब्राह्मणवशिष्टन्याय- जैसे लोक में ब्राह्मणों के आह्वान किये जाने पर भी वशिष्ट का अलग से आह्वान वशिष्ट के प्राधान्य बतलाता है।

यह न्याय “अथ शब्दानुशासनम्” सूत्र के भाष्य में “केषां शब्दानाम्? वैदिकानाम् लौकिकानाम्” इस कथन के व्याख्यान में पदमञ्जरीकार ने प्रयोग किया है। यद्यपि वैदिक शब्द भी लोक में प्रयुक्त होने से लौकिक कहे जा सकते हैं तथापि शब्दों के प्राधान्य को दर्शाने के लिए “वैदिकानम्” यह अलग से कहा गया है। जैसे कोई कहे कि सब ब्राह्मण आ गये? वशिष्ट भी आ गये या नहीं? वशिष्ट के ब्राह्मण होने पर भी उनके विषय में अलग से पूछा जाना, वशिष्ट की अन्य ब्राह्मणों से प्रधानता प्रकट करने के लिए है। इसी प्रकार वैदिक शब्दों के लोक में प्रयुक्त होने पर भी अलग से “वैदिकानाम्” शब्द प्रयोग वैदिक शब्दों की प्रधानता बतलाने के लिए है। व्याकरण शास्त्र में इस न्याय का प्रचुर प्रयोग दृष्टगोचर होता है।^{१५}

नष्टाश्वदग्धरथन्याय- लोक में किसी का घोडा नष्ट हो गया हो और किसी का रथ नष्ट हो गया हो, तो वे दोनों आपस में मिलकर काम चला लेते हैं।

यह न्याय ‘स्थानेऽन्तरतमः’^{१६} सूत्र के भाष्य में उद्धृत किया गया है। गुण संज्ञक अ, ए, ओ में और वृद्धि संज्ञक आ, ऐ, औ में ए, ऐ का अन्तरतम स्थानी ‘इ’ मिल जाता है और ओ, औ का अन्तरतम स्थानी ‘उ’ मिल जाता है। क्योंकि ए, ऐ तालु स्थान वाले विवृत हैं और इकार भी तालु स्थान वाला विवृत है। इसी प्रकार ओ, औ ओष्ठ स्थान वाले विवृत हैं और ‘उ’ भी ओष्ठ स्थान वाला विवृत है। शेष रहे अ, आ इन दोनों की प्रकृति अथवा स्थानी ‘ऋ’ है, यह मूर्धा स्थान वाला विवृत है और अ, आ दोनों कण्ठ स्थान वाले विवृत हैं। इस प्रकार स्थानी और आदेश का अन्तरतम नहीं बनता। इस स्थिति में नष्टाश्वदग्धरथन्याय से कार्य होता है, अ, आ की अन्तरतम प्रकृति नहीं है और ऋ का अन्तरतम आदेश नहीं है। ‘ऋ’ के मूर्धा स्थान वाला होने से उसके

१४ महाभाष्य -सूत्र, १/१/७१ पर।

१५ द्रष्टव्य- व्याकरणशास्त्रीय लोकन्यायरत्नाकर, पृष्ठ १३८-१३९

१६ अष्टाध्यायी-१/१/४९।

स्थान में होने वाले गुणवृद्धि संज्ञक अ, आ कण्ठ स्थान होने से अन्तरतम नहीं हैं। फलतः 'नष्टाश्वदग्धरथवत्' न्याय से दोनों का मेल हो जाने से 'ऋ' के स्थान में 'अ' होकर उसे रपर होने से 'अर्' गुण हो जाता है और 'आ' होकर रपर होने से 'आर्' वृद्धि हो जाती है। "अथवा नष्टाश्वदग्धरथवत् सम्प्रत्ययो भवति। तद्यथा तवाश्वो नष्टः ममापि रथो दग्धः उभौ सम्प्रयुज्यावहै इति, एवमिहापि तवाप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति, ममाप्यन्तरतम आदेशो नास्ति, अस्तु नौ सम्प्रयोग इति।^{१७}

तक्रकौण्डिन्यन्याय- लोक में किसी ने कहा कि सब ब्राह्मणों को दही देदो और कौण्डिन्य को तक्र (लस्सी) देदो। यहाँ सभी ब्राह्मणों को दधि दान में कौण्डिन्य ब्राह्मण भी आ गये, फिर भी तक्र दान के विशेष कथन से सामान्य कथन दधिदान की बाधा हो जाती है। फलतः कौण्डिन्य को तक्र ही दिया जायेगा, दही नहीं।

यह न्याय 'मिदचोऽन्त्यात्परः'^{१८} सूत्र पर भाष्यकार ने उद्धृत किया है। उत्सर्गों के अपवाद बाधक होते हैं, यह लोक न्याय से ही सिद्ध होता है। "नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति - अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति। किन्तर्हि ? लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। लोके हि सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति। तद्यथा- दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय इति। सत्यपि सम्भवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति। एवमिहापि सत्यपि सम्भवेऽचामन्त्यात्परत्वं षष्ठी स्थाने योगत्वं बाधिष्यते"^{१९} सम्भव में भी बाधा होती है, इसी को तक्रकौण्डिन्यन्याय से भाष्यकार स्पष्ट करते हैं। पर्याप्ति, यशांसि में 'नपुंसकस्य झलचः'^{२०} से होने वाला 'नुम्' आगम 'मिदचोऽन्त्यात्परः' से पयस्, यशस् के अन्तिम अच् से परे भी सम्भव है और 'अलोऽन्त्यस्य'^{२१} के नियम से अन्तिम वर्ण सकार के स्थान पर भी प्राप्त है। दोनों की सम्भावना होने पर भी 'तक्रकौण्डिन्यन्याय' के आधार पर 'मिदचोऽन्त्यात्परः' के नियम से अन्तिम वर्ण के स्थान को बाधकर अन्तिम अच् से परे ही होता है। यह न्याय व्याकरण शास्त्र में पर्याप्त परिलक्षित होता है।^{२२}

आर्थिक न्याय- इसके अन्तर्गत कृषि सम्बन्धी न्याय, वन सम्पत्ति सम्बन्धी न्याय, पशु-पक्षी सम्बन्धी न्याय, सरीसृप, जलचर, कीटपतङ्ग सम्बन्धी न्याय, व्यापार सम्बन्धी न्याय, शिल्प आदि से सम्बन्धित न्यायों को रखा जा सकता है।

अशोकवनिका न्याय- रावण ने सीता को लङ्का में अशोकवाटिका में ही क्यों रखा, इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि रावण के द्वारा सीता को अन्यत्र रखने पर भी यही प्रश्न उपस्थित होता।

१७ महाभाष्य-सूत्र, १/१/४९ पर।

१८ अष्टाध्यायी-१/१/४६।

१९ महाभाष्य-सूत्र, १/१/४६ पर।

२० अष्टाध्यायी-७/१/७२।

२१ अष्टाध्यायी-१/१/५१।

२२ द्रष्टव्य- व्याकरणशास्त्रीय लोकन्यायरत्नाकर, पृष्ठ २०७-२०८

यह न्याय उद्योतकार नागेश ने पस्पशाह्निक में भाष्यकार के 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादि कथन की व्याख्या में शङ्कासमाधान करते हुए उद्धृत किया है। भाष्यकार ने गौः, अश्वः इन शब्दों को ही उदाहरण के रूप में सर्वप्रथम क्यों पढा? घट, पट आदि अन्य शब्दों को क्यों नहीं ? नागेश कहते हैं कि अशोकवाटिका न्याय से ऐसा हुआ जानना चाहिये।

जिस प्रकार रावण ने सीता को अशोक वाटिका में क्यों रखा, यह प्रश्न रावण द्वारा सीता को अन्यत्र कहीं भी रखे जाने पर उपस्थित रहता, क्योंकि उसे कहीं न कहीं तो रखना ही था तो उसने अशोकवाटिका में रखवा दिया। उसी प्रकार शब्दानुशासन के उदाहरण प्रसङ्ग में किन्हीं शब्दों को तो यहाँ उदाहरण रूप में पाठ करना ही था, अतः उन्होंने गौः, अश्वः को पढ दिया। ननु चैवमपि घट पटादय एव कुतो नोक्ता इति वाच्यम्, अशोकवनिकान्यायात्। गवाद्यर्थानां मङ्गलत्वेन प्रातर्दृश्यत्वस्य धर्मशास्त्रे उक्तत्वे तत्प्रातिपदिकत्वाच्छब्दस्यापि मङ्गलत्वमिति आद्युल्लेखत्वाच्चा।^{२३}

वराहकसूकरन्याय- वराह (वराहक) शब्द के दो अर्थ हैं 'बादल' और 'सूअर'। यहाँ वराहक शब्द के साथ सूअर शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे साहचर्य कारण वराहक का सूकर अर्थ ही लिया जाये, दूसरा अर्थ बादल न लिया जाये।

यह न्याय न्यासकार 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्'^{२४} सूत्र की व्याख्या में प्रस्तुत करते हैं। सूत्र में ज्ञाति और धन अर्थों को छोड़कर 'स्व' शब्द की सर्वनाम संज्ञा की गयी है। स्व शब्द का अर्थ ज्ञाति या कुटुम्बी भी है तो 'स्वा ज्ञातय' इसमें स्व शब्द के ग्रहण की क्या आवश्यकता है? अथवा ज्ञाति शब्द का ग्रहण व्यर्थ है। इसका समाधान न्यासकार वराहसूकर न्याय से देते हैं। पर्यायवाची शब्दों में जहाँ अनेक या सन्दिग्ध अर्थ सम्भव होते हैं, वहाँ निश्चित अर्थ को व्यक्त करने के लिये उसके पर्यायवाची शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है, जैसे वराहक शब्द के साथ सूकर शब्द का प्रयोग कर देते हैं, जिससे साहचर्य के कारण वराहक का बादल अर्थ न लिया जाए। इसी प्रकार 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' सूत्र में भी 'स्व' शब्द के अनेक अर्थ हैं - आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति, धन। इनमें से सूत्र में ज्ञाति अर्थ लिया अन्य अर्थ नहीं। अन्य अर्थों की निवृत्ति के लिये सूत्र में 'स्व' शब्द के साथ 'ज्ञाति' शब्द का प्रयोग किया गया है। "पर्यायशब्दस्य हि यत्रानेकार्थो भवति सन्दिग्धार्थो वा, तत्र तदर्थस्यैव व्यक्तीकरणार्थः पर्यायान्तरस्यानुप्रयोगेन विरुध्यते, यथा-मेघाद्यनेकार्थवृत्तेर्वराहाकशब्दस्य प्रयोगे सूकरशब्दस्य प्रयोगः। स्वशब्दस्य चायमनेकार्थः, तत्रासत्यनुप्रयोगे किंविषयोऽयं प्रयुक्त इति सन्देहः स्यात्। अतस्तस्मिन्निरासार्थमुपपद्यते ज्ञातिशब्दस्यानुप्रयोगः।"^{२५}

कूपखानक न्याय- जैसे कूआँ खोदने वाला व्यक्ति कूआँ खोदता हुआ कूआँ खोदने से पूर्व तक यद्यपि मिट्टी और धूल से लथपथ हो जाता है तो भी कूएँ से जल निकल आने पर वह उसी कूएँ से लाभ प्राप्त करता है, उस जल से स्नान आदि करके शरीर के धूल आदि दोष दूर हो जाते हैं और सदा के लिये जल की प्राप्ति हो जाती है।

२३ महाभाष्य पस्पशाह्निक, प्रदीपोद्योत।

२४ अष्टाध्यायी-१/१/३४।

२५ काशिका, न्यास, सूत्र १/१/३४ पर।

यह न्याय भाष्यकार ने पस्पशाह्निक में उद्धृत किया है। “अथवा कूपखानकवदेतद् भविष्यति। तद्यथा कूपखानकः कूपं खनन् मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति, सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुणमासादयति येन स च दोषो निर्हण्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति। एवमिहापि यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन स च दोषो निर्घानिष्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति”।^{२६}

भाष्यकार शङ्का करते हैं, क्या शब्द के ज्ञान में धर्म या प्रयोग में? दोनों ही पक्षों दोष देखते हुए वे नान्तरीयक उपाय से दृष्टान्त रूप में ‘कूपखनक न्याय’ को प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि शब्दों के ज्ञान के समान अपशब्दों के ज्ञान में भी अधर्म प्राप्त होता है, तो भी जो शब्द ज्ञान से प्राप्त धर्म है उससे अपशब्दज्ञानसम्बन्धी अधर्म दूर हो जायेगा और सदा के लिये शब्दज्ञान से प्राप्त जो धर्म है, उससे उसका कल्याण हो जायेगा। कहा भी है- “एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।”^{२७}

साहित्यिक और कलात्मक न्याय- इसके अन्तर्गत शिक्षा सम्बन्धी, स्वास्थ्य एवं शरीरविज्ञान सम्बन्धी, कला और ज्योतिर्विज्ञान सम्बन्धी, नाट्य एवं नृत्य सम्बन्धी आदि न्याय आते हैं।

नटभार्या न्याय- नटी जब रङ्गशाला में उपस्थित होती है तो जो कोई भी उससे पूछता है कि तुम किसकी स्त्री हो? वह बोलती है ‘हम आपकी स्त्री हैं’, अर्थात् जिससे काम पडता है वह उसकी स्त्री बन जाती है।

यह न्याय भाष्यकार ने “अजादेद्वितीयस्य”^{२८} सूत्र के भाष्य में उद्धृत किया है, वे कहते हैं -व्यञ्जन अक्षर नट की भार्या के समान होते हैं। जैसे नट की भार्या जिससे काम पडता है उसी की स्त्री बन जाती है। इसी प्रकार व्यञ्जन भी जिस जिस अच् के साथ सम्बन्ध या कार्य कहा जाता है, वे उसी से सम्बद्ध हो जाते हैं, जैसे- आट, आटतुः, आटुः यहाँ प्रथम एकाच् अकार को द्वित्व कहा है तो टकार व्यञ्जन अकार के साथ सम्बद्ध होकर ‘अट्’ को द्वित्व होता है। इसी प्रकार ‘अटिटिषति’ में द्वितीय एकाच् ‘इस्’ को द्वित्व कहा है तो अट् का टकार इस् के साथ सम्बद्ध होकर ‘टिस्’ को द्वित्व होता है। व्यञ्जन अच् साथ चलते हैं (“स्वयं राजन्ते इति स्वराः, अन्वग् भवति व्यञ्जनमिति”, महाभाष्य, सूत्र १/ २/३०)। द्वित्व विधान में उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। नटभार्या का दृष्टान्त लोकप्रसिद्ध है। “व्यञ्जानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा- नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जानि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते।”^{२९}

आयुर्घृतम् न्याय- लोक में बोला जाता है-घी तो आयु है। घी आयु कैसे हो सकता है? वस्तुतः आयु देने वाला होने से घी उसका निमित्त है।

२६ महाभाष्य पस्पशाह्निक।

२७ महाभाष्य पस्पशाह्निक।

२८ अष्टाध्यायी-६/१/२।

२९ महाभाष्य, सूत्र ६/१/२ पर।

यह न्याय भाष्यकार ने 'द्विर्वचनेऽचि'^{३०} सूत्र के भाष्य में उद्धृत किया है। इस सूत्र का अर्थ किया गया है- 'द्विर्वचननिमित्तक अच् के परे रहते अच् के स्थान में आदेश स्थानिवत् होता है'। ऐसा अर्थ करते हैं तो निमित्त शब्द का उपादान करना चाहिये। सूत्र में 'द्विर्वचने' की जगह 'द्विर्वचननिमित्ते' कहना चाहिये, क्योंकि निमित्त शब्द लगाये बिना निमित्तार्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी। भाष्यकार समाधान करते हैं कि बिना निमित्त शब्द लगाये भी निमित्तार्थ की प्रतीति हो जायेगी। जैसे लोक में बोलते हैं 'आयुर्घृतम्' अर्थात् घी तो आयु है। आयु देने वाला होने से घी आयु का निमित्त है। भाष्यकार कहते हैं कारण में कार्योपचार के ये सब लाक्षणिक प्रयोग लोकव्यवहार में चलते हैं, इसलिये निमित्त शब्द के बिना भी "द्विर्वचनेऽचि" में द्वित्वनिमित्तक अर्थ की प्रतीति हो जायेगी। लौकिक प्रयोग ही इसमें प्रमाण हैं। "अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते। तद्यथा आयुर्घृतम् आयुषो निमित्तमिति गम्यते।"^{३१}

धार्मिक विश्वास, कृत्य तथा विचारसम्बन्धी न्याय- इसके अन्तर्गत ऋषि, देवता सम्बन्धी, यज्ञ सम्बन्धी, मूर्तिपूजा, भक्ति सम्बन्धी, दर्शन सम्बन्धी, भिक्षुक, भिक्षादि से सम्बन्धित, पाप-पुण्य, धर्माधर्म सम्बन्धी न्याय रखे जा सकते हैं।

आकृति न्याय/ब्राह्मणो न हन्तव्यः न्याय- जैसे लोक में कहा जाता है कि ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये, तो यहाँ ब्राह्मण शब्द से ब्राह्मणजाति की हत्या का निषेध समझा जाता है, न कि एक ब्राह्मण का।

यह न्याय भाष्यकार ने 'अइउण्' सूत्र के भाष्य में उपन्यस्त किया है। "आकृतिग्रहणात् सिद्धम्। "अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति। तथेवर्णाकृतिः, तथोवर्णाकृतिः"।^{३२} जैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' से ब्राह्मणजातिमात्र की हत्या का निषेध किया जाता है। यदि यहाँ व्यक्ति पक्ष होता तो इस वाक्य में एक ब्राह्मण को छोड़कर शेष ब्राह्मणों का हनन किया जा सकता था और इसमें कोई शास्त्रीय बाधा भी नहीं आती। किन्तु यह अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार यहाँ अक्षरसमाम्नाय में पठित अकारादि जातिनिर्देश हैं, फलतः यहाँ 'अ' सभी प्रकार के दीर्घ, प्लुतादि का ग्राहक होगा। ऐसा होने से 'अस्य च्चौ'^{३३} इत्यादि अनुवृत्तिनिर्देशों में सवर्णग्रहण की दृष्टि से कोई दोष नहीं आयेगा। 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्'^{३४} सूत्रनिर्देश से आचार्य पाणिनि को भी यही मत अभीष्ट है।

सान्यासिक न्याय- संन्यासी निरपेक्षरूप से घूमता हुआ समाज का परोपकार करता है।

यह न्याय भाष्यकार ने 'लिटि धातोरनभ्यासस्य'^{३५} सूत्र के भाष्य में उद्धृत किया है। 'छन्दसि वा द्वे भवतः' इस वार्तिक के आधार पर सूत्रस्थ धातु ग्रहण को अनर्थक सिद्ध किया है। यहाँ धातु ग्रहण को अनर्थक सिद्ध करते हुए भाष्यकार इसे सान्यासिक बतलाते हैं। "यावतेदानीं छन्दसि वा द्वे भवत इत्युच्यते

३० अष्टाध्यायी-१/१/५८।

३१ महाभाष्य, सूत्र १/१/५८ पर।

३२ महाभाष्य, अइउण् सूत्र पर।

३३ अष्टाध्यायी-७/४/३२।

३४ अष्टाध्यायी-१/२/५८।

३५ अष्टाध्यायी-६/१/८।

धातुग्रहणेनापि नार्थः। कस्मान्न भवति ससृवांसो विशृण्वर इति? छन्दसि वचनात्। तदेतद्धातुग्रहणं सान्यासिकं तिष्ठतु तावत्”^{३६} अर्थात् जिस प्रकार कोई सन्यासी निरपेक्षरूप से घूमता हुआ समाज का परोपकार करता है उसी प्रकार यह धातुग्रहण स्वयं में कोई प्रयोजन न रखते हुए भी उत्तरार्थ प्रयोजन रखता है, क्योंकि इस धातु ग्रहण के अभाव में ‘लिटि’ इत्यादि ग्रहण फिर प्रथम एकाच् के विशेषण हो जायेंगे तो ‘पपाच’ इत्यादि में ही द्वित्व हो पायेगा, ‘जजागार’ इत्यादि अनेकाच् में नहीं, क्योंकि वह लिट्परक नहीं है। साथ ही “आदेच उपदेशेऽशिति”^{३७} इत्यादि सूत्रों में धातुग्रहण की अनुवृत्ति के लिये भी यह धातुग्रहण सान्यासिक है।

राजनैतिक न्याय- इसके अन्तर्गत राजा आदि से सम्बन्धित न्यायों को परिगणित किया जा सकता है। यथा-

राजपुरोहित न्याय- लोक में पुरोहित वस्तुतः राजा नहीं होता किन्तु राजा के समान आचरण करने के कारण यह राजा है (राजायम्) ऐसा प्रयोग किया जाता है जो वस्तुतः यह राजा के समान है (राजवदयम्) ऐसा बोध कराता है।

यह न्याय तत्त्वबोधिनीकार ने ‘असिद्धवदत्राभात्’^{३८} सूत्र में ‘वत्’ की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए किया है। “असिद्धवदत्राभात्- वत्करणं प्रतिपत्तिलाघवाय, अन्यथा सिद्धे असिद्ध इति प्रयुज्यमानमनुपपन्नं सत् सामर्थ्यादसिद्धवदिति कल्पनीयं स्यात्। यथा राजभिन्ने पुरोहिते राजायमिति प्रयोगो राजवदिति कथञ्चित् कल्पयति, राजवदयं पुरोहित इत्युक्ते तु लघुप्रतिपत्तिर्भवति तथा चागत्या षत्वतुकोरसिद्ध इत्यत्रासिद्धवदिति कल्प्यते”^{३९} उक्त सूत्र में वत्करण स्पष्ट प्रतिपत्ति या मन्दबुद्धियों के लिये सूत्रार्थावबोध में लाघव के लिये है। अन्यथा लोक में जैसे ‘राजायम्’ यह प्रयोग ‘राजवदयम्’ ऐसी क्लिष्ट कल्पना कराता है, सहज नहीं, वैसे ही प्रकृत सूत्र में वत् के अभाव में केवल ‘असिद्ध’ शब्द ही प्रयोग होने पर उसके उपपन्न न होने के कारण फिर सहज कल्पना के स्थान पर विवश होके अर्थ सामर्थ्य से ‘असिद्धवत्’ ऐसी कठिन कल्पना करनी पडती है। इसके अनुसार ‘षत्वतुकोरसिद्धः’^{४०} यहाँ पर असिद्ध की व्याख्या अगतिकगति रूप में ‘असिद्धवत्’ कहकर करनी पडती है। किन्तु इसके विपरीत लोक में ‘राजवदयं पुरोहितः’ ऐसा वत्करण युक्त स्पष्ट निर्देश कर देने से शीघ्र बोध हो जाता है, वैसे ही यहाँ शास्त्र में भी वत्करण से शीघ्र अर्थावबोध हो जाता है। अतः सूत्रकार ने वत्करण किया है।

राजभृत्यन्याय- लोक में प्रधान राजा के हंसने पर उसके सेवक भी हंसने लगते हैं और उसके रोने पर वे भी रोने लगते हैं, अप्रधानभूत दासी के पुत्रादि के हंसने पर कोई नहीं हंसता अथवा उनके रोने पर कोई नहीं रोता।

३६ महाभाष्य सूत्र, ६/१/८ पर।

३७ अष्टाध्यायी-६/१/४४।

३८ अष्टाध्यायी-६/४/२२।

३९ तत्त्वबोधिनी, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, सूत्र ६/४/२२ पर।

४० अष्टाध्यायी-६/१/८३।

यह न्याय 'अव्ययीभावः'^{४१} सूत्र की व्याख्या में न्यासकार ने उद्धृत किया है। "प्रधानवशेन हि वस्तुनः स्वधर्मपरित्यागेन धर्मान्तरापत्तिर्युक्ता। तथाहि प्रधाने राजनि हसति तद्धृत्या अपि हसन्ति, तस्मिन् रुदते तेऽपि रुदन्ति, न त्वप्रधाने चेटीपुत्रादौ। तदेवमन्वर्थसंज्ञेयं भवन्ती पूर्वपदार्थप्रधानमव्ययीभावस्य दर्शयति"^{४२} अव्ययीभाव समास में पूर्वपद की प्रधानता होती है, जैसे- प्रतिदिनम्, यथाशक्ति इत्यादि। इनमें पूर्वपद क्रमशः प्रति और यथा शब्दों की प्रधानता है, किन्तु पूर्वोक्त पूर्वपदों के साथ ही क्रमशः दिन और शक्ति भी अव्ययीभाव समास के अवयव बन जाते हैं, जैसे समाज में राजा के हंसने-रोने पर सेवक भी हंसने या रोने लगते हैं, वैसे ही यहाँ शास्त्र में पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव समास में पूर्वपदार्थ के प्रति ही अन्य पदों का अर्थ निर्भर करता है।

मुहावरे, लोकोक्ति, सूक्ति सम्बन्धी न्याय- इसके अन्तर्गत श्लोक, मुहावरे, सूक्ति आदि आते हैं, यथा- प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् (पङ्कप्रक्षालन) न्याय- कीचड में गन्दा होकर उसे धोने से बेहतर है कि कीचड में गन्दा ही न हुआ जाये।

यह न्याय तत्त्वबोधिनीकार ने 'द्विर्वचनेऽचि'^{४३} सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। उन्होंने पञ्चतन्त्र के श्लोक की पङ्क्ति को न्याय के रूप में प्रस्तुत किया है। "यद्यपीह वृत्यादौ अजादेशः स्थानिवत् स्यादिति रूपातिदेशपक्षः स्वीकृतः, फलं चोभयत्र तुल्यम्, तथाप्यादेशनिषेधपक्षोऽपि भाष्यारूढ इति स एवात्र स्वीकृतः। किं च आदेशमङ्गीकृत्य पुनः स्थानिरूपाश्रयणापेक्षया निषेधपरतया व्याख्यानमेव लघु। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् इति न्यायात्"^{४४} 'चक्रतुः' की रूप सिद्धि में 'कृ+अतुस्' इस स्थिति में "लिटि धातोरनभ्यासस्य"^{४५} से 'कृ' को द्वित्व प्राप्त है तथा "इको यणचि"^{४६} से यण् भी प्राप्त है। ऐसी अवस्था में "द्विर्वचनेऽचि" से 'यण्' का निषेध होने से पहले द्वित्व हो जाता है। काशिका आदि वृत्ति ग्रन्थों में पहले यणादेश करके फिर अजादेश के स्थानिवद्भाव से इष्ट सिद्धि करते हुए रूपातिदेश पक्ष को स्वीकार किया जाता है। यद्यपि इष्टसिद्धि दोनों पक्षों में समान है तथापि यणादेश निषेध पक्ष ही भाष्य सम्मत है। यणादेश करके फिर उसका स्थानिवद्भाव करने की अपेक्षा उसका निषेध करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि कीचड को धोने की अपेक्षा उस कीचड को स्पर्श न करना ही अधिक सही है।

विषवृक्षोपि संवर्ध् न्याय- स्वयं विष का वृक्ष लगाकर स्वयं ही उसको काटा नहीं जाता। कुमारसम्भव^{४७} अथवा पञ्चतन्त्र के श्लोकांश को वैयाकरणों ने न्याय रूप में प्रस्तुत किया है। पदमञ्जरीकार ने इसे "लुपि

४१ अष्टाध्यायी-२/१/५।

४२ न्यास-काशिका, सूत्र, १/२/५ पर।

४३ अष्टाध्यायी-१/१/५८।

४४ तत्त्वबोधिनी, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, सूत्र १/१/५८ पर।

४५ अष्टाध्यायी-६/१/८।

४६ अष्टाध्यायी-६/१/७४।

४७ विषवृक्षोपि संवर्ध् स्वयं छेतुमसाम्प्रतम्, कुमारसम्भवम्-२/५५।

युक्तवद् व्यक्तिवचने”^{४८} सूत्र के व्याख्यान में उद्धृत किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सूत्र का निर्माण स्वयं पाणिनि ने नहीं किया क्योंकि “तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्”^{४९} इत्यादि सूत्रों द्वारा उन्होंने स्वयं इसका खण्डन किया है। यदि यह सूत्र पाणिनि का होता तो वे स्वयं इसका खण्डन क्यों करते? इसी को पुष्ट करने के लिये “विषवृक्षोऽपि संवर्ध” न्याय दिया गया है। “न हि स्वकृतमेव स्वयं प्रत्याचष्टे इति युक्तम्, विषवृक्षोऽपि संवर्ध स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् इति न्यायादिति भावः”^{५०}

पदार्थों के गुण सम्बन्धी न्याय- इसके अन्तर्गत जड-चेतन पदार्थों के स्वाभाविक गुण-धर्मों से सम्बन्धित न्यायों को रखा जा सकता है। यथा- मण्डूकगति (प्लुति) न्याय, सिंहावलोकित न्याय, शब्दशक्तिस्वभाव न्याय, अभ्रचन्द्र न्याय, लौहचुम्बकन्याय, अग्निदहन न्याय, अलातचक्र न्याय, मुण्डचौर न्याय आदि।^{५१}

मुण्डचौर न्याय- सिर के बालों को मुण्डवा कर कोई व्यक्ति चोरी कर ले और फिर बाल बढा ले जिससे कि पहचाना न जा सके। ऐसा किये जाने पर भी वह पहचाना जाता है और पकडा जाता है।

इस न्याय को पदमञ्जरीकार ने काशिका में “वृद्धिरादैच्”^{५२} सूत्र पर प्रयोग किया है। “अभेदकत्वाच्च गुणानाम् लोके हि मुण्डेनापि चौर्ये कृते संजातकेशोऽपि प्रत्यभिज्ञाय निगृह्यते”^{५३} जैसे सिर मुण्डाने से मनुष्य भिन्न नहीं हो जाता वैसे ही उदात्त, अनुदात्त, स्वरित गुणों के भिन्नता होने पर भी आकार एक ही रहता है। अतः “वृद्धिरादैच्” में जैसे उदात्त आकार की वृद्धि संज्ञा है वैसे ही अनुदात्त और स्वरित आकार की भी। इसलिये सूत्रकार ने “लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः”^{५४} आदि सूत्रों में भी अकार को उदात्त कहा है। तात्पर्य यह कि आकार आदि के सामान्य निर्देश में उदात्त आदि गुणों के भेद से भिन्नता नहीं होती, उदात्त आदि विशेष के पाठ से ही भेद ग्राह्य है।

मण्डूकगति (प्लुति) न्याय- जैसे मेंढक उछल-उछल कर चलते हुए अपने पास वाले स्थान को छोडकर आगे पहुँच जाता है, वैसे ही पूर्व सूत्र से अनुवृत्त अधिकार भी बीच के सूत्रों को छोडकर प्रवृत्त हो जाता है।

यह न्याय भाष्यकार ने “इको गुणवृद्धी”^{५५} सूत्र पर उपन्यस्त किया है। “अथवामण्डूकगतयोऽधिकाराः। यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः”^{५६} “इको गुणवृद्धी” सूत्र में गुण-वृद्धि ग्रहण व्यर्थ

४८ अष्टाध्यायी-१/२/५१।

४९ अष्टाध्यायी-१/२/५३।

५० पदमञ्जरी काशिका, सूत्र,१/२/५१ पर।

५१ द्रष्टव्य व्याकरणशास्त्रीय लोकन्यायरत्नाकर पृष्ठ,५८४-६००।

५२ अष्टाध्यायी-१/१/१।

५३ पदमञ्जरी, काशिका, सूत्र १/१/१ पर।

महाभाष्य, प्रदीप, “अभेदका हि गुणाः मुण्डेन हि चौर्ये कृते कुन्तलित्वावस्थायामपि चौरोऽयमिति व्यपदिश्यत एव” सूत्र-१/१/१ पर।

५४ अष्टाध्यायी-६/४/७१।

५५ अष्टाध्यायी-१/१/३।

५६ महाभाष्य, सूत्र १/१/३ पर।

बतलाते हुए कहते हैं कि पूर्व में आये हुए “वृद्धिरादैच्”^{५७} और “अदेङ्गुणः”^{५८} सूत्रों से गुण-वृद्धि की अनुवृत्ति आ जायेगी। अतः ‘इकः’ ऐसा सूत्र ही पर्याप्त था। किन्तु ऐसा सिद्ध होने पर भी पुनः गुण-वृद्धि ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि ‘गुण’ शब्द से विहित जहाँ गुण और ‘वृद्धि’ शब्द से विहित जहाँ वृद्धि होगी वहीं यह परिभाषा उपस्थित होगी। अतः ‘द्यौः’ में “दिव औत्”^{५९} से होने वाला ‘औ’, ‘पन्थाः’ में “पथिमथ्यृभुक्षामात्”^{६०} से होने वाला ‘आ’ और ‘सः’ में “त्यदादीनामः”^{६१} से होने वाला ‘अ’ “अलोऽन्त्यस्य”^{६२} के नियम से अन्त में होंगे। यद्यपि ये गुणवृद्धिसंज्ञक हैं तथापि ये गुण या वृद्धि शब्द से विहित नहीं हैं। अतः ये इक् के स्थान पर नहीं होंगे।

किन्तु यहाँ “वृद्धिरादैच्” सूत्र से वृद्धि की अनुवृत्ति लेने में “अदेङ्गुणः” सूत्र का व्यवधान है, यदि वृद्धि शब्द का अनुवर्तन करते हैं तो वृद्धि “अदेङ्गुणः” में भी जाने से अदेङ् की वृद्धि संज्ञा प्राप्त होने से अनिष्ट होने लगेगा। इस अनिष्टापत्ति के समाधान के लिये भाष्यकार ने मण्डूकप्लुति न्याय का आश्रय लिया है। जैसे मेढक पास वाले स्थान को छोड़कर दूर उछल जाता है वैसे ही “वृद्धिरादैच्” से आने वाली ‘वृद्धि’ भी “अदेङ्गुणः” को छोड़कर “इको गुणवृद्धी” में चली जायेगी। इससे अदेङ् की वृद्धि संज्ञा न होकर इष्ट सिद्धि हो जायेगी।

गोयूथ न्याय- गायों का झुण्ड एक डण्डे से हाँके जाने पर एक साथ गोशाला में चला जाता है।

यह न्याय भाष्यकार ने चातुरार्थिक सूत्रों के भाष्य में उद्धृत किया है। “तद्यथा गोयूथमेकदण्डप्रघट्टितं सर्वं समंघोषं गच्छति तद्वदधिकाराः”।^{६३} “तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि”,^{६४} “तेन निर्वृत्तम्”,^{६५} “तस्य निवासः”,^{६६} “अदूरभवश्च”^{६७} इन चातुरार्थिक सूत्रों के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि अधिकार गोयूथ के समान होता है। जैसे गायों का झुण्ड एक डण्डे से हाँके जाने पर एक ही साथ गोशाला में चला जाता है वैसे ही चातुरार्थिक सूत्रों से विहित उक्त चारों अधिकार भी आगे एक साथ ही चले जायेंगे। चारों सूत्र अलग-अलग होने पर भी आगामी “ओरञ्”^{६८} आदि सूत्रों में गोयूथ के समान एक साथ ही अधिकृत होंगे।

५७ अष्टाध्यायी-१/१/१।

५८ अष्टाध्यायी-१/१/२।

५९ अष्टाध्यायी-७/१/८४।

६० अष्टाध्यायी-७/१/८५।

६१ अष्टाध्यायी-७/२/१०२।

६२ अष्टाध्यायी-१/१/५१।

६३ महाभाष्य सूत्र ,४/२/६६-६९पर।

६४ अष्टाध्यायी-४/२/६६।

६५ अष्टाध्यायी-४/२/६७।

६६ अष्टाध्यायी-४/२/६८।

६७ अष्टाध्यायी-४/२/६९।

६८ अष्टाध्यायी-४/२/७०।

इस प्रकार लौकिक न्यायों को सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र में देखा जा सकता है। भाष्यकार की दृष्टि में सामान्यरूप से कोई भी नियम या सिद्धान्त लोक व्यवहारानुकूल होने पर ही मान्य है- “रूपनिग्रहश्च नान्तरेण लौकिकं प्रयोगम्”,^{६९} “शब्दं प्रयुयुक्षमाणेन लोकस्यानुसरणात्। स्वसामर्थ्येन हि शब्दो अर्थं प्रत्यायति। तच्च सामर्थ्यं लौकिकप्रयोगादवधार्यम्”^{७०} वस्तुतः व्याकरण लोक, वेद और शास्त्र में समन्वय कराता है। अतः शास्त्र में भी लोकाधीन व्यवस्था होना स्वाभाविक है।

शास्त्रोक्त अर्थज्ञान भी तभी लाभकारी होता जब वह लोक में स्वीकृत या प्रचलित हो। सङ्केतग्रह के व्याकरण आदि अष्ट साधनों में नागेश लोकव्यवहार को प्रधानभूत कारण मानते हैं।^{७१} लौकिक व्यवस्था से ही शास्त्र अनुमोदित होता है। व्याकरणशास्त्र में न केवल शब्दार्थ निर्णय में अपितु शब्दस्वरूप निर्णय में, या उनको व्यवस्थित करने में शिष्टों (लोक) को ही परम प्रमाण माना जाता है।

व्याकरण शास्त्र में न्यायों का प्रयोग सूत्र और उनके प्रतिपाद्य को सहज अवबोधगम्य बनाता है तथा संक्षिप्त कर गागर में सागर भर देता है। वैयाकरणों ने बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोधेन शास्त्रीय सिद्धान्तों को सुकुमारमत्यर्थ स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये भी लोक न्यायों का आश्रय लिया है। वस्तुतः न्याय प्रतिपाद्य विषय के विशदीकरण का उदात्त माध्यम है, जो शास्त्र और लोक दोनों ही तटों को स्पर्श करते हुए इनमें सेतुबन्ध के रूप में समन्वय करने का अद्भुत गौरव रखते हैं।

संस्कृत व्याकरण विशेषतः पाणिनीय व्याकरण में भाष्यकार और वार्तिककार ने व्याकरण की दुर्बोध ग्रन्थियों को अनायास ही हृदयङ्गम कराने के लिये लोक और वेद में प्राप्त दृष्ट घटनाओं या व्यवहारों के सादृश्य का सशक्त आधार लिया है। इसमें इन्होंने संसार के अनुभव, प्रकृति के अनुभव, लोकोक्तियों तथा धर्मशास्त्र आदि अनेक स्रोतों की पूर्ण सहायता ली है। क्योंकि इन लोकन्यायों के मूल आधार यही हैं। किसी सन्दिग्ध स्थल के उपस्थित होने पर “व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः” के द्वारा लोकन्याय ही उसके निर्णय में उपकारक होते हैं। यह न्यायों की ही शक्ति है जो शास्त्रीय अव्याप्ति-अतिव्याप्ति को नियन्त्रित करती है- “नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः”^{७२}

लौकिक न्याय संस्कृत व्याकरणशास्त्र के अत्यन्त उपकारक हैं। भाषाशास्त्र के लोक सापेक्ष होने से इसके नियमों की लोकापेक्षा स्वतः हो जाती है। भाष्यकार तो कहते भी हैं-‘यथा लोके तथा व्याकरणे’। व्याकरण जैसे शुष्क विषय को सरस बनाने का कार्य भी ये न्याय कर देते हैं। व्याकरणिक नियमों को अवबोधगम्य बनाने की दृष्टि से ये न्याय व्याकरणशास्त्र के पूरक हैं। वस्तुतः लोकन्याय वैयाकरणसिद्धान्तों के लिये प्राणभूत हैं।

६९ महाभाष्य ,१/२/६४ सूत्र पर।

७० महाभाष्य ,७/१/३३ सूत्र पर।

७१ द्रष्टव्य परमलघुमञ्जूषा नामार्थप्रकरण ।

७२ द्रष्टव्य व्याकरणशास्त्रीय लोकन्यायरत्नाकर, प्रथम उद्योत।

शृङ्गाररस की शास्त्रीय समीक्षा

प्रो. विनय कुमार^१, डॉ.मौहरसिंह^२

शोध संक्षेपिका (Abstract) प्रस्तुत शोध पत्र के अध्ययन में शृङ्गाररस की शास्त्रीय समीक्षा की गयी है। आचार्य भरतमुनि ने सर्वप्रथम नाट्य के ही सम्बन्ध में रस का उल्लेख किया था, क्योंकि नाट्य ही रसोन्मेष का सर्वाधिक रम्य प्रतीक है। समस्त रसों में शृङ्गार को प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि कामतत्त्व संसार के प्राणिमात्र की समस्त जातियों में सुलभ है। अतः इससे परिचित होने के कारण यह सभी के लिए आकर्षक एवं हृद्य है। इस रस के संयोग और वियोग दो पक्ष होने के कारण सुखात्मक एवं दुःखात्मक दोनों भाव प्रत्येक में विद्यमान रहते हैं। इस रस को सभी आचार्यों ने रसराज कहकर सर्वप्रधान माना है। इसका अनुगामी होने के कारण हास्य का दूसरा स्थान है। हास्यरस का विरोधी होने के कारण करुणरस का तृतीय स्थान है। करुण से उत्पन्न तथा अर्थप्रधान होने के कारण रौद्र का चतुर्थ स्थान है। अर्थप्रधान तथा धर्म और अर्थ का मूल होने के कारण वीररस को पांचवाँ स्थान दिया गया है। भयार्त्तों को अभय प्रदान करना वीरों का प्रमुख उद्देश्य है। इसके बाद इससे सम्बन्धित भयानक रस की गणना की जाती है। भय के विभावों से निर्मित वीभत्स का सातवाँ स्थान है। वीभत्स को विस्मय से दूर किया जाता है, इसीलिए इसके बाद अद्भुत रस की गणना की जाती है। इस तरह उक्त आठ रस त्रिवर्गात्मक कहे जाते हैं। रस की प्रवृत्ति धर्म से सम्बद्ध होने के कारण धर्मार्थकाम रूप त्रिवर्गात्मकसाधक नाट्य में उपयोगी हैं। काम से सम्बद्ध होने के कारण शृङ्गार रस की प्रधानता स्वतः सिद्ध है। पुनश्च इस पर ही धर्म एवं अर्थ दोनों आधारित हैं। आचार्य भरतादि नाट्याचार्यों के मतों की समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रकारान्तर से शृङ्गार रस अर्थ, धर्म एवं काम तीनों से सम्बद्ध है।

शब्द संकेत (Key word)- रति, शृङ्गार, रस, संयोग, विप्रलम्भ।

प्रस्तावना (Introduction)-संस्कृत के नाट्याचार्यों ने नाट्य के तीन प्रमुख तत्त्ववस्तु, नेता और रस स्वीकार किए हैं, जिनमेंसे रस को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, क्योंकि रसोद्रेक कराना ही नाट्य का मुख्य प्रयोजन होता है। इस सम्बन्ध में आचार्य भरत का मत है कि आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनयों के माध्यम से सहृदय सामाजिकों के चित्त में रसानुभूति कराना ही नाट्य का प्रमुख उद्देश्य है। इसीलिए नाट्य में रस को सर्वोपरि मानते हुए कहते हैं कि- **न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।**^३ अर्थात् रस के बिना कोई भी नाट्याङ्ग रूप अर्थ प्रवृत्त नहीं होता। संस्कृत के महान् नाटककार महाकवि कालिदास ने भी नाटक में रस की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है- रंगमंच पर अभिनेताओं के द्वारा रामादि के अभिनय से सहृदय सामाजिकों में तादात्म्य की प्रतीति तब तक सम्भव नहीं हो सकती, जब तक

१ प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार।

२ असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार। Email : drmsingh99@gmail.com

३ नाट्यशास्त्र ६.३२

नाटक में रसोद्रेक न हो। दर्शक को जब तक रसानुभूति नहीं होगी, तब तक अभिनय की सार्थकता एवं सफलता सम्भव नहीं हैं- **आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्। बलवदपि शिक्षितानामत्मन्यप्रत्ययं चेतः।**^४ मालविकाग्नित्रम् नाटक में भी नाट्य को चाक्षुष यज्ञ कहा है तथा इसमें रस की प्रधानता को स्वीकार किया है।^५

सहृदय सामाजिकों के चित्त में रस-निष्पत्ति का सम्पादन कराना ही नाट्य का प्रमुख उद्देश्य है। नाट्य में प्रयुक्त रसों में शृङ्गार का प्रथम स्थान माना गया है, क्योंकि नाट्य के त्रिवर्ग की प्राप्ति में इस रस का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः इस शोध पत्र में भरतादि आचार्यों के अनुसार नाटकादि में शृङ्गार रस की भूमिका का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत है।

२. उद्देश्य (Objectives)

प्रकृत शोधपत्र के विषय नाटकादि में शृङ्गार रस की भूमिका का शास्त्रीय अध्ययन के निम्नांकित उद्देश्य हैं-

१. नाटकादि में रस की भूमिका के विषय में जानकारी प्राप्त हो सकेगी।
२. शृङ्गाररस के स्वरूप और उसके भेदों का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।
३. भरतादि नाट्याचार्यों के अनुसार नाटकादि में रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया के विविध पक्षों से परिचित हो सकेंगे।

३. अध्ययन एवं समीक्षा (Study & analysis)

प्रजापति ब्रह्मा ने चारों वेदों से नाट्यसामग्री ग्रहण कर पञ्चमवेद के रूप में नाट्यवेद का सृजन किया। नाट्य के प्रमुख अवयव के रूप में रस-तत्त्व को अथर्ववेद से ग्रहण किया। संस्कृत के सभी नाट्याचार्यों ने सम्पूर्ण नाट्याङ्गों में रस का स्थान सर्वोपरि माना है। अतः प्रस्तुत शोधपत्र के विषयानुरूप शृङ्गार रस के दोनों पक्षों का शास्त्रीय अध्ययन निम्नवत् किया जा रहा है-

३.१ शृङ्गाररस का अर्थ एवं स्वरूप-

सर्वप्रथम शृङ्गार शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को जानना युक्तियुक्त होगा-शृङ्ग एवं आर शब्दों के मेल से शृङ्गार शब्द निष्पन्न होता है। शृङ्गं कामोद्रेकमृच्छतीति से 'शृङ्ग' शब्द का अर्थ है-'कामोद्रेक' तथा ऋ= गतौ कर्मण्यण् के अनुसार 'गत्यर्थक ऋ' धातु से व्यवस्थित 'आर' शब्द का अर्थ है 'प्राप्ति'। इस तरह शृङ्गार शब्द का अर्थ हुआ- **कामवृद्धि** अथवा **कामोद्रेक** की प्राप्ति। अतः काम का अर्थ है सहज इच्छा या कर्तव्य-कर्म।

४ अभिज्ञानशाकुन्तलम् १.२

५ देवानामिदमामनन्ति मुनयः क्रमान्तं क्रतुं चाक्षुषं, रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नाना रसं दृश्यते, नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥ मालविका.१.४

नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि रस की उत्पत्ति रत्यादि स्थायी-भावों से मानते हैं। जैसाकि उन्होंने कहा है कि नाना भावों के उपागम से रस की निष्पत्ति होती है तथा अनेक भावों से युक्त स्थायीभाव ही रसावस्था को प्राप्त होते हैं।^६ इस सिद्धान्त के अनुसार रति स्थायीभाव से शृङ्गाररस का उद्भव हुआ है। इसका स्वरूप उज्ज्वल है तथा इस जगत् में जो कुछ पवित्र, शुभ्र एवं दर्शनीय है, वह शृङ्गार से उपमित होता है। जैसे उज्ज्वल वेषधारी पुरुष को शृङ्गारवान् कहा जाता है। जिस प्रकार व्यक्तियों के नामकुल, गोत्र एवं आचार के अनुसार या फिर किसी आप्त पुरुष के कथन पर आधारित होते हैं, उसी प्रकार रसों, भावों तथा दूसरे अन्य नाट्याश्रित पदार्थों के व्यवहारगत एवं आप्तपुरुषोपदिष्ट नाम होते हैं। इसलिए अनेक प्रकारों के आचार से युक्त यह चितरञ्जक तथा ललित होने के कारण आप्तोपदेश और व्यवहारसिद्ध दोनों रूपों में शृङ्गार कहलाता है। इसके उत्तम प्रकृति वाले स्त्री-पुरुष हेतु होते हैं तथा उत्तम यौवन की प्रकृति के अनुकूल है- तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः। उज्ज्वलवेषात्मकः। यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वातच्छृङ्गारेणोपमीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवेषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्योप्तोपदेशसिद्धानि नामानि। एवमेष आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मक-त्वाच्छृङ्गारो रसः। स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः।^७

आचार्य भरत शृङ्गार रस के स्वरूप एवं उत्पत्तिके विषय में कहते हैं कि सुख बहुल साधनों से सम्पन्न, ऋतु विहार एवं भिन्न-भिन्न ऋतुओं के पुष्पों की मालाओं को धारण करने वाला पुरुष, प्रमदा से संयुक्त होने पर शृङ्गार संज्ञा वाला होता है। ऋतुओं के विहार, माल्य एवं अलंकारों के धारण, प्रियजन का सम्पर्क तथा उसी सम्पर्क में गायन-वादन एवं नृत्य करने से एवं काव्य दृश्य-श्रव्य और पठ्य की सेवा अर्थात् प्रेक्षण, श्रवण एवं भावना करने से, उपवन में गमन तथा विहार से शृङ्गार रस का उद्भव होता है। शृङ्गार रस के अभिनय के सम्बन्ध में भी आचार्य का मत है- नयन विकास, मुख प्रसाद, स्मित, मधुर वचन, धैर्य, आनन्द की सामग्रियों एवं मधुर अङ्ग विहारों से उसका अभिनय करना चाहिए-

सुखप्रायेषु सम्पन्नः ऋतुमाल्यादिसेवकः। पुरुषः प्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः॥

ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः। उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति॥

नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोद्धृतिप्रमोदैश्च। मधुरैश्चाङ्गविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः॥^८

शृङ्गार रस के सम्बन्ध में आचार्य धनञ्जय का अभिमत है कि परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका के हृदय में रम्य देश, काल, कला, वेश, भोगादि के सेवन द्वारा आत्मा का प्रसन्न होना ही रति स्थायीभाव कहलाता है। यही रति स्थायीभाव नायक अथवा नायिका के अङ्गों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा एक दूसरे के

६ नाना भावोपगमाद् रस निष्पत्तिः। नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। नाट्यशास्त्र ६.३१ (गद्यभाग)

७ वही ६. ४५ (गद्यभाग)

८ वही ६. ४६-४८

हृदय में परिपुष्ट होकर शृङ्गारस रस की स्थिति को प्राप्त करता है।^१साहित्यदर्पणकारआचार्य विश्वनाथ शृङ्गार रस के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं कि कामदेव का उद्रेक शृङ्ग कहलाता है।^{१०} इस रस के आलम्बन प्रायः उत्तम प्रकृति के प्रेमीजन ही हुआ करते हैं। परकीया अथवा अनुरागशून्य वेश्या नायिकाओं के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की नायिकाएँ तथा दक्षिण, अनुकूल, धृष्टादि प्रकार के नायक ही इसके उपयुक्त आलम्बन विभाव होते हैं। चन्द्र-चन्द्रिका, चन्दन, भ्रमर-झंकार इत्यादि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। अनुरागपूर्ण परस्पर एक दूसरे को देखना, कटाक्ष करना, भृकुटि-भङ्ग आदि इसके अनुभाव होते हैं। उग्रता, मरण, आलस्य तथा जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके व्यभिचारीभाव हैं तथा 'रति' इसका स्थायीभाव है। प्रेम, मान, प्रणय, स्नेह, राग तथा अनुराग ही रति की उत्तरोत्तर विकासावस्था होती है। यही रति का विकास शृङ्ग शब्द से निर्दिष्ट किया गया है तथा इसी शृङ्ग अर्थात् उत्तरोत्तर विकसित रति का भाव अभिव्यङ्ग्य सम्पूर्ण स्वरूप 'शृङ्गार रस' है। यह रस श्याम वर्ण वाला होता है तथा इसके देवता विष्णु हैं।^{११} शारदातनय ने भावप्रकाशन में शृङ्गार रस के विषय में कहा है कि- **बाह्यार्थालम्बनवतो मनसो रजसि स्थितात्। साहङ्काद्विकारो यः स शृङ्गार इतीरितः॥**^{१२} देशकालवयोद्रव्यगुणप्रकृति-कर्मणाम्। भावानामुत्तमं यत्तु तस्माच्छृङ्गार श्रेष्ठमुच्यते। इयन्ति शृङ्ग यस्मात्तु तस्माच्छृङ्गार उच्यते॥^{१३} अर्थात्बाह्य वस्तुओं के आश्रित मन की रजोगुण में स्थिति होने तथा अहंकार का सहयोग होने से जो विकार उत्पन्न होता है, वह शृङ्गार कहलाता है। देश, काल, अवस्था, द्रव्य, गुण, प्रकृति, कर्म आदि भावों का जो उत्तम रूप होता है, वह शृङ्ग अर्थात् श्रेष्ठ कहलाता है, जिससे शृङ्ग पर पहुँचता है अर्थात् जो सर्वश्रेष्ठ होता है, वही शृङ्गार है।

भोजने शृङ्गारप्रकाश में शृङ्गार रस की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि सत्वगुणसम्पन्न आत्माओं के निर्मल धर्मविशेष एवं जन्मजन्मान्तर के अनुभवों से निर्मित वासनाओं से शृङ्गार रस उत्पन्न होता है।^{१४}शारदातनय रस के उद्भव का स्रोत वेद को स्वीकारते हुए कहते हैं कि सामवेद से शृङ्गार, ऋग्वेद से वीर, अथर्ववेद से रौद्र तथा यजुर्वेद से वीभत्स उत्पन्न हुआ है। सामवेद के मन्त्रों का स्मरण करते हुए, उनके स्वरूप तथा अभिव्यक्ति के रूप में, जगत् की सृष्टि करने की इच्छा वाले परमात्मा की जो इच्छा होती है और सांसारिक विषयों से सम्बन्धित जो रति होती है, वह शृङ्गार कहलाती है।^{१५}

९ रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनः। प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः। प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः॥
दशरूपक ४.४७

१० शृङ्गं हि मन्मथोद्धेदस्तदागमनहेतुकः। उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते॥ साहित्यदर्पण ३.१८३

११ वही ३.१८४-१८५

१२ भावप्रकाशन २.६८

१३ वही २.७७

१४ आत्मस्थिति गुणविशेषमहंकृतस्य शृङ्गारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः। सत्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा
जन्मान्तरानुभवनिर्मितवासनोत्पत्तयः॥ शृङ्गारप्रकाश १.२-४

१५ शृङ्गार उदभूत्साम्नो वीरोऽभूद्विततो ऋचः। अथर्ववेदतो रोद्रौ वीभत्सो यजुषः क्रमात्॥ सामानि स्मरतस्तस्य स्वरूपव्यक्ति-
रात्मना। याचेयमिच्छा जगतां सिसृक्षोः परमात्मनः॥ विषयाक्ता रतिः सैव शृङ्गार इति गीयते। भावप्रकाशन ३.२,३

अतः उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि काम तथा शृङ्गार का घनिष्ठ एवं अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। ये अन्वय और व्यक्तिरेक से दोनों सहचरी हैं। इनमें परस्पर कार्य-कारण भाव भी है, क्योंकि कभी काम उद्बुद्ध हो कर शृङ्गारिक प्रवृत्तियों को प्रेरित करता है और कभी शृङ्गारिक वातावरण ही कामोद्बोध का कारण बन जाता है। शृङ्गार को निष्पन्न करने वाले विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावादिकों में काम-तत्त्व, शरीर में प्राण की भाँति अन्तर्लीन रहता है। इस चराचर जगत् में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि कोई भी हो यह शृङ्गारमूल काम किसी को भी प्रभावित किए बिना नहीं छोड़ता है।

३.२ शृङ्गाररस का स्थायीभाव-रति शब्द क्रीडार्थक रम् धातु से बना है, यह क्रीड़ा या रमण करना रूप अर्थ युवक-युवति के साथ निबद्ध होकर उनकी केलि-क्रीड़ा के अर्थ में प्रयुक्त होकर रति शृङ्गार रस का स्थायीभाव बनने का हेतु है। शारदातनय ने रति के पर्यायशब्द प्रेम की व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार की है- प्र का अर्थ प्रकृष्टरूप से, इ का अर्थ कामदेव तथा म का अर्थ मान होना किया है। अर्थात् जहाँ पर कामदेव का प्रकृष्ट रूप से मान हो, वही प्रेम है।^{१६} शारदातनय रति के स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि नवयौवनसम्पन्न, समृद्धशाली, सुन्दर एवं प्रेमयुक्त युवक-युवतियों की परस्परसंवेदनरूप अनुभूति ही रति कहलाती है। अतः दोनों की उभयप्रार्थनात्मिका इच्छा ही रति है-

परस्परस्वसंवेद्यसुखसंवेदनात्मिका। यानुभूतिर्मिथः सैव रतिर्यूनोः सरागयोः॥

रतिरिच्छा भवेद् यूनोरुभयप्रार्थनात्मिका।सुखात्मिका मनोवृत्ति रतिरित्यभिधीयते॥^{१७}

संस्कृत काव्यशास्त्र में रति को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थायी भाव मानकर प्रथम स्थान दिया गया है। उनकी रति विषयक मान्यता का अध्ययन करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि उन्होंने इसके लक्षण दो प्रकार से किए हैं- बहुत व्यापक और संकुचित अर्थ में। व्यापक सन्दर्भ में रति को आमोदात्मक भाव माना है और इसे इष्ट विषय की प्राप्ति रूप कहा है। आचार्य भरत ने इस सन्दर्भ में कहा है- रतिर्नाम प्रमोदात्मिका आमोदात्मको भावः-----। इष्टार्थविषयप्राप्या रतिरित्युपजायते।^{१८} आचार्य विश्वनाथ ने मनोकूल विषय में मन के प्रेमपूर्ण उन्मुख भाव को रति कहा है- रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।^{१९} आचार्य शारदातनयने मनोनुकूल विषयों में सुख के संवेदन को रति की संज्ञा प्रदान करते हुए कहा है- मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनात्मिका। इच्छा रतिः सा द्विधा स्याद् रतिप्रीतिविभागतः॥^{२०} अतः आचार्यों ने न केवल सुख अथवा आनन्द तत्त्व को रति का मूल प्रवर्तक स्वीकार किया है, अपितु आचार्यों के एक वर्ग ने रतिभाव को सामान्य रूप से संसार की किसी भी वस्तु से प्राप्त होने वाले सुखानुभव रूप में व्याख्यायित कर उसे व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा है।

१६ इ-शब्दवाच्यो मदनो भाति यत्र प्रकर्षतः। तत्प्रेम तदधिष्ठानं रतिर्यूनोः परस्परम्॥ भावप्रकाशन, ४.९

१७ भावप्रकाशन, ४.५, ७

१८ नाट्यशास्त्र, ७.७, ८

१९ साहित्यदर्पण, ३.१७५

२० भावप्रकाशन, २.२१

उक्त समीक्षा के आधार पर कहा जा सकता है किकाव्यशास्त्र में रति का प्रयोग प्रेम मनोवृत्ति के पर्याय रूप में हुआ है। शृङ्गार रस के स्थायीभाव के रूप में रति का अभिप्राय केवल स्त्री-पुरुष विषयक ही है, परन्तु इसका प्रयोग सर्वमान्य व्यापक प्रेम के लिए भी किया गया है। आचार्य मम्मटादि भी देवादिविषयक रति को भाव तथा कान्ताविषयक रति को शृङ्गार कहते हैं। अतः इससे स्पष्ट होता है कि कान्ता ही नहीं, अपितु देव, गुरु, मुनि, नृप, पुत्रादि के प्रति होने वाला प्रेम भी रति नाम से बोधित होता है। इसीलिए रति सर्वमान्य प्रेम का पर्याय है।

संकुचित अर्थ में रति का प्रयोग केवल स्त्री-पुरुष विषयक प्रेम के पर्याय रूप में किया है तथा इसी अर्थ में यह शृङ्गार रस का स्थायीभाव भी माना गया है। पण्डितराज जगन्नाथ का मानना है कि स्त्री-पुरुष दोनों की परस्पर आलम्बनरूप प्रेम नामक चित्तवृत्तिविशेष ही रति स्थायीभाव है।^{२१}

३.३ शृङ्गाररस के प्रकार- सम्भोग एवं विप्रलम्भ।^{२२} आचार्य धनञ्जय ने अयोग नामक तीसरे प्रकार का भी उल्लेख किया है।^{२३} यह अयोग वस्तुतः पूर्वराग का ही भिन्न नाम है। सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनों दशाओं में रति का ही आस्वादन होता है तथा आस्वाद्यमान रूप शृङ्गाररस होता है। महाकवि कालिदास के उत्तरमेघ में इस तथ्य की पुष्टि होती है-**स्नेहाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा- दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥**^{२४} अर्थात् विरह से प्रेमका हास हो जाता है, यह बात लोग ऐसे ही कहते हैं, लेकिन वास्तव में भोग के अभाव में प्रियजन के प्रति तृष्णा बढ़ जाने के कारण यह और भी प्रगाढ़ हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ वियोगावस्था में रति के विकास का कथन है। यही कारण है कि सम्भोगावस्था में विप्रलम्भ की सम्भावना से भय रहता है और विप्रलम्भ में सम्भोग की कामना बनी रहती है। सम्भोग एवं विप्रलम्भ ही शृङ्गाररस का स्वरूप है। अभिलाषा, ईर्ष्या, प्रवास आदि विप्रलम्भ के पाँचों प्रकारों की रति की स्थिरता के कारण भोग के अभाव में भी इन्हीं शृङ्गारके भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः प्रेम होने पर तथा भोग के न होने पर भी सम्भोगशृङ्गार आदि का व्यवहार उपचार के द्वारा किया जाता है। इसीलिए इन दोनों दशाओं के मिश्रण से अत्यधिक चमत्कार उत्पन्न होता है।

अयोग शृङ्गारी की वह स्थिति है, जहाँ नायक-नायिका का एक दूसरे के प्रति अनुराग होता है तथा उनका चित्त एक दूसरे के प्रति पूर्णतः आकृष्ट रहता है, परन्तु माता-पिताआदि की परतन्त्रताके कारणअथवा भाग्य के कारण एक दूसरे से अलग ही रहते हैं। अतः उनका सङ्गम नहीं हो पाता। इस शृङ्गार की स्थिति में नायक-नायिका में एक दूसरे के प्रति पूर्वानुराग की स्थिति होती है, किन्तु उनका मिलन किन्हीं कारणों से नहीं हो पाता।^{२५}

२१ स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्याश्चित्तविशेषो रतिः स्थायिभावः। रसगंगाधर, १ (पृष्ठ संख्या, १४१)

२२ तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। नाट्यशास्त्र, ६.४५ तथा विप्रलम्भोऽथ सम्भोग इत्येष द्विविधो मतः। साहित्यदर्पण,

३.१८६

२३ अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स द्विधा। दशरूपक, ४.५०

२४ मेघदूतम्, उत्तरमेघ ५२

२५ तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः। पारतन्त्र्येण दैवाद्वाविप्रकर्षादसङ्गमः।।दशरूपकम्, ४.५०

इस अयोग शृङ्गार की दश अवस्थाएँ होती हैं—अभिलाषा, चिन्तन, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता तथा मरण, ये ही दश कामदशाएँ कहलाती हैं।^{२६} वस्तुतः ये दशाएँ दश नहीं, अपितु अनन्त हैं। इनकी प्रत्येक उत्तरावस्था पहले से अधिक तीव्र होती है। इनमें अभिलाषा वह अवस्था है, जब सर्वाङ्गसुन्दर नायक के प्रति नायिका की समागम रूप इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा उसको साक्षात् देखने अथवा उसके चित्र को देखने पर या उसके बारे में सुनने पर होती है। इस दशा में आश्चर्य, आनन्द, सम्भ्रम आदि भावों की प्रतीति होती है। नायक अथवा नायिका का दर्शन साक्षात् रूप से चित्र एवं स्वप्न के द्वारा अथवा इन्द्रजाल आदि माया के द्वारा हो सकता है। या फिर वह सखियों आदि के गीतया मागध के गुणस्तवन के सुनने के बहाने से भी हो सकता है।^{२७}

संयोग शृङ्गार— यह एक दूसरे के प्रति अनुरक्त हृदयों के रागात्मक मिलन पर आधृत होने के कारण शृङ्गार के भावात्मक पक्ष को उपस्थापित करता है। इसमें रमण, उपभोग, तृप्ति आदि के भाव स्वभावतः अन्तर्भावित होते हैं। इस रस के स्वरूप पर आचार्य धनञ्जय का अभिमत है कि जहाँ विलासी नायक—नायिका एक दूसरे के प्रति अनुकूल होकर परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि का उपभोग करते हैं, वहाँ प्रसन्न और उल्लास से युक्त सम्भोगशृङ्गार रस होता है।^{२८} इसके साथ ही नायिकाओं में अपने प्रिय के प्रति लीलादि दश चेष्टाएँ पायी जाती हैं। ये चेष्टाएँ दाक्षिण्य, मृदुता तथा प्रेम के अनुरूप होती हैं।^{२९} काव्यशास्त्र के स्वनामधन्य आचार्य विश्वनाथ ने भी इस रस का लक्षण करते हुए कहा है—**दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ। यत्रानुरक्तावन्योऽन्यं सम्भोगः समुदाहृतः॥**^{३०} कविराज विश्वनाथ के सम्भोग शृङ्गार विषयक उक्त लक्षण का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि इन्होंने आचार्य धनञ्जय का ही अनुकरण करते हुए अपना लक्षण प्रस्तुत किया है। आचार्य विश्वनाथ का मानना है कि अनुरक्त नायक—नायिका के प्रत्यक्ष भोग का अनुभव कराने वाला रतिभाव सम्भोग शृङ्गार है। विप्रलम्भ के अन्दर अतिव्याप्ति दोष के निवारणार्थ दर्शन, स्पर्शनादि का ग्रहण किया है। उदासीन स्त्री—पुरुष के परस्पर दर्शानादि हो जाने पर भी लक्षण में **अनुरक्तौ** पद के कहने से अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा। किसी एक में भी अनुराग का अभाव होने पर शृङ्गाराभास होगा, इसीलिए लक्षण में **अन्योऽन्यम्** पद का ग्रहण किया है। सम्भोग शृङ्गार के अनन्त भेद हो सकते हैं, परन्तु इसके चार भेदही प्रतिपादित किये गये हैं—पूर्वरागान्तरसम्भोग, मानान्तरसम्भोग, प्रवासान्तरसम्भोग तथा करुण—विप्रलम्भान्तरसम्भोग।^{३१} भोजराज ने सम्भोग शृङ्गार के स्वरूप का उल्लेख करते हुए कहा है कि नायक—नायिकादि में अभीष्ट आलिङ्गनादि चेष्टाओं की

२६ दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम्॥

स्मृतिगुण कथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः। जड़ता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम्॥ वही, ४.५१,५२

२७ दशरूपक, ४.५३,५४

२८ अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योऽन्यं विलासिनौ। दर्शनस्पर्शनादीनि स सम्भोगो मुदान्वितः॥ वही, ४.६९

२९ चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम्। दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः मियं प्रति॥ वही, ४.७१

३० साहित्यदर्पण, ३.२१०

३१ कथितश्चतुर्विधोऽसावानन्तर्यानु पूर्वरागादेः। वही, ३.२१३

प्राप्ति ही सम्भोग हैं।^{३२} इसके चार भेदों का भी निर्देशन किया है- प्रथमानुरागानन्तर, मानानन्तर, प्रवासानन्तर तथा करुणानन्तर। नायक-नायिका द्वारा प्रथम सङ्गमादि में अभिलषणीय आलिङ्गनादि का लाभ प्रथमानुरागानन्तर है। प्रवासानन्तर सम्भोग में अभिवृद्ध एवं प्रवृद्ध उत्कण्ठा से युक्त नायक-नायिका का पुनःसमागम में अभिलाषादि की पूर्ति होती है। करुणानन्तरसम्भोग में अदृश्य की अनुकूलता से नायक-नायिकादि के पुनरुद्धार से उत्पन्न मन-प्रमोद का अतिशय दृष्टिगत होता है। भोज ने मानानन्तर को परिभाषित नहीं किया है।

संयोगशृङ्गाररस के विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों के सम्बन्ध में आचार्य भरतमुनि कहते हैं कि- तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शन-क्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्यनयनचातुर्यभूक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावै-रभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः।^{३३} अर्थात् इस रस में स्त्री-पुरुषपरस्पर आलम्बन विभाव होते हैं। ऋतुरमणीयता, पुष्पमालाओं तथा अलंकारों के धारण विषयक या अर्थरम्य भवन का उपभोग, उद्यानगमन, प्रियजन के वचनों का श्रवण, उसका दर्शन, उसके साथ क्रीड़ा-लीला आदि विभावों (उद्दीपन) के संयोग से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय नयनचातुर्य, भू -विक्षेप एवं मधुर अङ्गचेष्टाओं, आकर्षक वचन आदि (अनुभावों) के द्वारा किया जाता है। इसमें त्रास, आलस्य, उग्रता तथा जुगुप्सा नामक सञ्चारीभावों को छोड़कर शेष सभी प्रयुक्त होते हैं।

विप्रलम्भ शृङ्गार- इस रस में नायक तथा नायिका का समागम नहीं होता। यह समागम-अभाव एक बार मिलन हो जाने के बाद की दशा का है। यह वियोग अत्यधिक रूढ़ अथवा केवल प्रेम का ही एक बहाना हो सकता है। आचार्य धनञ्जय के अनुसार यह दो प्रकार का होता है- प्रवासरूप-वियोग तथा मानरूप-वियोग। यह मानरूप-वियोग प्रेम अथवा ईर्ष्या के कारण होता है।^{३४} नायक-नायिका में से एक अथवा दोनों के क्रोध होने पर प्रणयमान विप्रयोग होता है। प्रिय के किसी अन्य नायिका के प्रति आसक्ति होने पर स्त्रियों में जो क्रोध उत्पन्न होता है, वह ईर्ष्याकृत मान होता है। यह नायक की अन्यासक्ति या तो स्वयं नेदेखी हो अथवा अनुमान कर ले या फिर किसी के द्वारा सुन ले। इसके बारे में प्रिय की श्रुति सखी के मुँह से हो सकती है। प्रिय को अन्यासक्ति का अनुमान त्रिविध प्रकार से हो सकता है-नायक द्वारा स्वप्न में नायिका के नाम लेने, नायक के शरीर पर अन्य स्त्री सम्भोग के चिह्न देखने से तथा गलती से आसक्ति अन्या नायिका का नाम लेने से (गोत्रस्खलन से)।^{३५} ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों में ही पाया जाता है। नायिका के इस ईर्ष्यामान को छः प्रकार से दूर किया जा सकता है - साम, भेद, दान, नति (पादपतन), उपेक्षा तथा अन्य रस के द्वारा।^{३६}

३२ चेष्टा विशेषः सम्भोगे चुम्बनालिङ्गनादयः। शृङ्गारप्रकाश, ५.५३

३३ नाट्यशास्त्र, ६.४५

३४ विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्मम्भयोद्धिधा।मानप्रवासभेदेनमानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः।

तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः॥ दशरूपक, ४.५७,५८

३५ स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनी प्रिये।श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखी मुखात्॥

उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः। विधाऽनुमानिकोदृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः॥ वही, ४.५९,६०

३६ साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः। वही, ४. ६१

किसी कार्यवश, सम्भ्रम या फिर शाप के कारण नायक-नायिका का अलग-अलग वेश में रहना प्रवास विप्रयोग कहलाता है। इसमें नायक एवं नायिका दोनों में अश्रु, निःश्वास, दुर्बलता, केशविन्यास न करने के कारण उनका लम्बा होना आदि अनुभाव पाये जाते हैं। यह प्रवास तीन प्रकार का होता है - भविष्यत् (जब प्रवास होनेवाला), वर्तमान (जब प्रवास हो रहा हो) तथा भूत (जब प्रवास हो चुका हो)। इनमें सम्भ्रमजनित प्रवास वह होता है, जहाँ देवी अथवा मानुषी विप्लव के कारण नायक-नायिका पूर्णतः एक दूसरे से अलग कर दिये गये हों। नायक एवं नायिका के समीप होने पर भी, उनका स्वभाव या रूप शाप के कारण बदल दिया जाये, वह शापज प्रवास कहलाता है।^{३७} आचार्य विश्वनाथ के मत में विप्रलम्भ शृङ्गार वहाँ पर होता है, जहाँ रति तो प्रकृष्ट है, किन्तु अभीष्ट पास नहीं होता। विप्रलम्भ शृङ्गार के चतुर्विध भेद होते हैं :- पूर्वरागान्तरसम्भोग, मानान्तरसम्भोग, प्रवासान्तरसम्भोग तथा करुण विप्रलम्भान्तरसंयोग। पूर्वरागरूप-सौन्दर्य आदि के श्रवण या दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की वह दशा है, जो दोनों के समागम के पूर्व हुआ करती है। इसमें पूर्वोक्त दश काम दशाएँ सम्भव हैं। इसके तीन प्रकार होते हैं:- नीली राग, कुसुम्भ राग तथा मंजिष्ठ राग।^{३८} मानविप्रलम्भ के अन्तर्गत नायक-नायिका में महान् प्रमोद होते हुए भी, प्रेम की कुटिलगामिता के कारण, बिना कारण ही, जो कोप होता है। यह द्विविध प्रकार का होता है- प्रणयमान एवं ईर्ष्यामान। कार्यवश, शापवश अथवा सम्भ्रमवश भिन्न देशत्व को प्राप्त होना, प्रवासविप्रलम्भ है। करुण-विप्रलम्भ को आचार्य धनञ्जय स्वीकार नहीं करते हैं।^{३९} आचार्य विश्वनाथ के मत में करुण विप्रलम्भ वह है, जो प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर, पुनः जीवित हो सकने की अवस्था में जीवित बचे दूसरे के शोक से संवलित रतिभाव का अभिव्यञ्जन होता है।^{४०}

शृङ्गारप्रकाश में भोज ने शृङ्गार के भेदोपभेदों का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने विप्रलम्भ शृङ्गार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है- जब रति नामक भाव उत्कट हो, किन्तु प्रिय की प्राप्ति न हो तो वह विप्रलम्भ शृङ्गार कहलाता है।^{४१} सम्भोग विप्रलम्भ के बिना उत्कर्ष को प्राप्त नहीं करता है, क्योंकि वस्त्र के कषाय रंग में रञ्जित होने पर ही समुज्ज्वल वर्ण की प्राप्ति में वृद्धि होती है।^{४२} उन्होंने दोनों के सूक्ष्मभेदक गुणों का भी उल्लेख करते हुए कहा है कि संयोग और विप्रलम्भ के अन्तर्गत नायिकादि की बहिरन्तर दशायें और चेष्टायें भी परिवर्तित हो जाती हैं। विप्रलम्भ में चित्त की विकृति के कारण दम्पति के हृदय में विविध प्रकार के संकल्प उत्पन्न होते हैं।^{४३} विप्रलम्भ शृङ्गार के चार भेद- पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुण किये हैं। विप्रलम्भ उत्तम नायक-नायिकादि में पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुण इन चार विधियों में प्रकाशित होता है। बिना किसी पूर्व संकेत के ही स्त्री-पुरुष में जो अन्योन्यानुराग उत्पन्न होता है, वह वासना विशेष से रमणीय होने के कारण पूर्वराग

३७ द्वितीयः सहस्रोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात्। स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि।। वही, ४. ६६

३८ साहित्यदर्पण, ३.१९५

३९ दशरूपकम्, ४.६८

४० साहित्यदर्पण, ३.२०९

४१ भावो यदा रतिर्नामप्रकर्षमधिगच्छति। नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते।। शृङ्गारप्रकाश, ५.५४

४२ न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते। कषायिते हि वस्त्रादौ भूषान् रागोऽनुषज्यते।। वही, ५.५२

४३ स्त्रीपुसंयोर्विप्रलम्भे वैचित्याकल्पनादयः। वही, ५.५३

कहा जाता है। प्रेम की गति सर्प-गति के समान कुटिला होती है, इस कारण 'नहीं', 'नहीं' इन कथनों के द्वारा नैराश्य, असहमति अथवा खण्डन व्यक्त करने के कारण दम्पति के दीर्घकालीन विच्छेद को प्रवास कहते हैं। प्रिय के मृत हो जाने पर दुःखिनी प्रिया को जो दुःखानुभूति होती है, उसे करुण विप्रलम्भ कहते हैं।^{४४} यहाँ पर मृत्यु का तात्पर्य मरने के समान होकर पुनः प्राप्य होने से है।

विप्रलम्भ शृङ्गार का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, बिम्बोक, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरण आदि सञ्चारीभावों द्वारा किया जाता है।^{४५}

उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाटकादि में विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों के संयोग से सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना के रूप में स्थित रत्यादि स्थायीभाव जागृत होकर उस चरमसीमा तक उद्दीप्त हो जाता है, जहाँ प्रेक्षक व्यक्ति, देश-काल का अन्तर विस्मृत कर सम्मुख घटना में तन्मय हो जाता है। तन्मयता की यही आन्नदमयी स्थिति रस कहलाती है।

निष्कर्ष- संस्कृत के आलंकारिकों ने सभी काव्य रसों में शृङ्गार को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है, क्योंकि यही एक ऐसा रस है, जो मानव हृदय को समष्टि रूप में आह्लादित करने का सामर्थ्य रखता है। इसीलिए काव्य की विभिन्न विधाओं में इस रस का प्रयोग बहुत ही प्रचुरता से किया है। महाकवि कालिदास ने अपनी सभी काव्य-कृतियों के अङ्गी रस के रूप में शृङ्गार को ही प्राथमिकता दी है। संस्कृत के आचार्यों ने जिस रति स्थायी भाव तथा शृङ्गार रस का स्वरूप स्थापित किया है, वे अपने अर्थ में व्यापक होते हुए भी एक विशिष्ट अर्थ को लेकर ही उपस्थापित हुए हैं, वह सम्बन्ध है कान्ता विषयक प्रेम। यह प्रेम भी काम भावना से लेकर प्रेम के दिव्य, निर्लिप्त, निःस्वार्थ तथा अन्योन्यसम्पर्णमय उत्कृष्ट पावन रूप तक व्याप्त है। वह स्थूल शरीर से प्रारम्भ होकर आत्मा तक पहुँचता है। अतः काव्यशास्त्रीय रति स्थायी भाव तथा शृङ्गार रस का स्वरूप बहुत ही व्यापक एवं मनोवैज्ञानिक है।

४४ मानश्च प्रवासः करुणश्चसः। पुरुषः स्त्रीप्रकाण्डेषु चतुः काण्डः प्रकाशते॥

प्रागसंकेतयोर्यूनोरभिलाषः प्रवर्तते। सङ्कल्पपरमणीयोऽनुरागः स प्राच्य उच्यते॥

अहेरिवगतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिलेति सः। अहेतोर्नेतिनेत्युक्तेर्हेतोर्वा मान उच्यते ॥

देशान्तरादिभिर्यूनोव्यवधानं चिराय यत्। नवेऽनुरागे प्रौढे वा प्रवासः सोऽभिधीयते॥

लोकान्तरगते यूनि वल्लभे-वल्लभा यदा। भृशं दुःखायते दीना करुणः स तदोच्यते॥ शृङ्गारप्रकाश, ५०.४६-५०

४५ विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविबोधज्याध्युन्मादापस्मारजाड्यमरणादिभि-
रनुभावैरभिनेतव्यः। ना.शा.,६. ४५

‘विक्रमबेताल पञ्चविंशति’ की द्वितीय कहानी का दार्शनिक विवेचन

डॉ. सरस्वती^१

जड़-चेतन, दृश्य-अदृश्य, साकार-निराकार, स्थूल एवं सूक्ष्म के संयोग से निर्मित इस संसार के रहस्य को साक्षात्कार करने के लिए भारतीय मनीषा सदैव प्रयत्नशील रही है तथा अपने अनुभवों को सभी मनुष्यों तक पहुँचाने के लिए श्रुत परम्परा एवं लेखन परम्परा को आधार बनाया है। व्यष्टिरूप सभी आत्माएं समष्टिरूप परमात्मा का ही अंश हैं। वेदान्त की चरम परिणति स्वरूप उपनिषदों में परब्रह्म के स्वरूप को दृश्यमान जगत् के विभिन्न उदाहरणों द्वारा परिभाषित करने के प्रयास में तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है-“रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।”^२ अर्थात् परमात्मा रसस्वरूप है तथा सभी आत्माएं उस परमात्मा का अंश होने के कारण उनको भी रसरूप एवं परमानन्द में स्थित होना चाहिए परन्तु अधिकतर आत्माएं जगत् के स्थूल रूप को ही सर्वस्व मानकर जड़ता के निरन्तर साहचर्य से अपने चेतनस्वरूप को विस्मृत कर जड़ता के संस्कारों एवं आवरणों से आच्छादित होकर दुःख का ही अनुभव करती रहती हैं। अशान्ति उद्विग्नता एवं दुःख के आवरणों एवं भ्रान्तियों को निर्मूल करके अपने आनन्दस्वरूप को पुनः कैसे उपलब्ध हों इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आप्तपुरुषों ने अपने अनुभवों को साहित्य-सृजन के रूप में सामान्य जनमानस तक पहुँचाने का महनीय कार्य किया तथा साहित्य को मानव-जीवन के उत्कर्ष के लिए आवश्यक बताते हुए साहित्य संगीत एवं कलाविहीन व्यक्ति को पशु की संज्ञा प्रदान की है-
साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुपुच्छविषाणहीनः। तृणं न खादन्नपि जीवमानः तद्भागधेयं परमं पशूनाम्।^३ काव्य-शास्त्र की उद्गम एवं विकास परम्परा पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि वेद से प्रारम्भ करके अद्यावधि क्रियाकल्प^४, अलंकार-शास्त्र^५, सौन्दर्य-शास्त्र^६, काव्य-शास्त्र^७ एवं साहित्य-शास्त्र^८ नाम से अभिहित साहित्य का अनेक दृष्टियों से वर्गीकरण किया गया है। स्वरूपविधान की दृष्टि से काव्य के पाँच भेद किए गए हैं-१. महाकाव्य, २. रूपक, ३. आख्यायिका, ५. कथा तथा ५. मुक्तक। इन पाँच प्रकारों में जो कथा नामक भेद है उसकी परिभाषा करते हुए साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ कहते हैं-

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।

१ एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जाकिर हुसैन दिल्ली कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, दूरभाष- ९७१७७४१७६५, ईमेल- saraswatizhdc@gmail.com

२ तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, सप्तम अनुवाक्

३ भर्तृहरि, नीतिशतक, श्लोक-२

४ वाल्मीकि रामायण ७.९४.७, क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्।

५ प्रतापरुद्रीय टीका, यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथा छत्रिन्यायेन अलंकारशास्त्रं उच्यते।

६ काव्यालंकार, अधिकरण-१, सूत्र-२, सौन्दर्यमलंकारः। काव्यालंकार, अधिकरण-१, सूत्र-१, काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।

७ सरस्वतीकण्ठाभरण-२.१३९, काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च। काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्।

८ काव्यमीमांसा, अध्याय-२, पृष्ठ १०, पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा च चतसृणामपि विद्यानामपि निष्पन्दः।

**क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्।^९**

विस्तृत कथा का संक्षिप्त रूप ही कथानिका अथवा कहानी है। वेद, व्याकरणदि शास्त्रों को समझने के लिए जहाँ विकसित प्रौढ़, सामर्थ्य सम्पन्न मस्तिष्क की आवश्यकता होती है, वहीं कहानी के माध्यम से क्रीड़ा करते हुए कोमलमति बालकों एवं सीमित बौद्धिक क्षमता सम्पन्न व्यक्तियों को भी सरलता से तत्त्व ज्ञान करवाया जा सकता है। इसी तथ्य को विशद करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के प्रयोजन में इस प्रकार इंगित किया है-“चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि”^{१०} अर्थात् स्वल्प बौद्धिक क्षमतावान् व्यक्तियों को भी सरलता से धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्त्यर्थ काव्य का सृजन एवं अनुशीलन करना चाहिए।

सोमदेव भट्ट द्वारा विरचित कथासरित्सागर कहानी साहित्य का मूर्धन्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना सोमदेव ने कुल्लू कांगड़ा (त्रिगर्त) के राजा की पुत्री एवं कश्मीर के राजा अनन्त की पत्नी सूर्यमती के मनोविनोदनार्थ ईस्वी १०६३ और १०८१ के मध्य की। यह ग्रन्थ वर्तमान रूप में छोटी-छोटी कहानियों का संग्रह है तथा पैशाची भाषा के माध्यम से गुणाढ्यकृत “बृहत्कथा” का सार संग्रह है। इस तथ्य की स्वीकारोक्ति सोमदेव ने स्वयं इस प्रकार की है-“बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्”^{११} इसी संग्रह के द्वादश लम्बक के अष्टम तरंग से प्रारम्भ करके ‘बेताल पच्चीसी’ की पच्चीस कहानियाँ कही गई हैं, जिनमें से द्वितीय कहानी को प्रस्तुत पत्र का विषय बनाया गया है। द्वादश लम्बक के नवम तरंग में यह कहानी उल्लिखित है। यह कहानी इस विधा से कथित है जैसे कि समस्त दृश्यमान जगत् को स्थूलदर्शी केवल जड़ रूप में ही देख पाता है परन्तु सूक्ष्मदर्शी तत्त्व का दर्शन कर जड़ दिखाई देने वाले जगत् में चेतना का दर्शन करके “सर्वस्मिन्नात्मा अस्ति”^{१२} का उद्घोष करता है। एक ही जगत् को देखने की दो दृष्टियाँ हैं। ठीक उसी प्रकार इस कहानी को भी तीन प्रकार के व्यक्तियों द्वारा तीन तलों पर देखा जा सकता है। ज्ञानी के लिए लक्ष्य है, परम रहस्य है, खोजी के लिए मार्ग है तथा अज्ञानी के लिए मनोरंजन है। कहानी इस प्रकार है- गोदावरी के तट पर प्रतिष्ठान नाम का एक स्थान है।^{१३} प्राचीन समय में वहाँ विक्रमसेन का त्रिविक्रमसेन नामक एक पुत्र था, जो बड़ा यशस्वी था और इन्द्र के समान पराक्रमी था। प्रतिदिन जब वह राजा राजसभा में जाकर बैठता, तब एक भिक्षु उसकी सेवा में आता और उसे एक फल दे जाता। राजा भी प्रतिदिन वह फल लेकर, पास ही खड़े कोषाध्यक्ष के हाथ सौंप देता था। इसी तरह दश वर्ष बीत गए। एक दिन जब वह भिक्षु फल देकर राजसभा से चला गया, तब राजा ने उसे बन्दर के उस पालतू बच्चे को दिया, जो अपने रखवालों के हाथ से छूटकर किसी तरह वहाँ आ पहुँचा था। उस फल को खाते हुए बन्दर ने जब उसके बीच का हिस्सा तोड़ा तब उसके अन्दर से एक उत्तम और बहुमूल्य रत्न निकला। यह देखकर राजा ने उस रत्न को ले

९ साहित्यदर्पण ७/३३२-३३३

१० साहित्यदर्पण १/२

११ तरंग-१, श्लोक-३

१२ सिद्धान्तकौमुदी, सप्तम्यधिकरणे च।

१३ कथासरित्सागर, द्वादश लम्बक, राज्ञः त्रिविक्रमसेनस्य कथा, श्लोक-२१-४०, प्रतिष्ठानाभिधानोऽस्ति... अथ तां स महासत्त्व प्राप्य कृष्णचतुर्दशीम्।

लिया और कोषाध्यक्ष से पूछा कि मैं रोज रोज भिक्षु के द्वारा लाया हुआ जो फल तुम्हें दिया करता था, उन्हें तुमने कहाँ रखा है? यह सुनकर कोषाध्यक्ष ने डरते हुए कहा—मैं रत्न भण्डार को खोले बिना ही उन फलों को खिड़की की राह उसमें डाल दिया करता था। यदि आप आज्ञा दें, तो रत्न भण्डार को खोल कर देखूँ। ऐसा करने के बाद राजा की आज्ञा पाकर, कोषाध्यक्ष गया और पल भर बाद ही लौटकर राजा से फिर बोला—प्रभो! वे फल तो सड़ गल गए। वे मुझे वहाँ नहीं दीख पड़े—हाँ, चमकती झलमलाती रत्नराशि वहाँ अवश्य है। यह सुनकर राजा कोषाध्यक्ष पर प्रसन्न हुए। उन्होंने उन मणियों को उसे दे दिया। अगले दिन जब पहले की तरह वह भिक्षु फिर आया तब राजा ने उससे कहा। हे भिक्षु इतना धन खर्च करके तुम प्रतिदिन मुझे क्यों भेंट चढ़ाते हो? अब मैं तब तक तुम्हारा यह फल न लूँगा, जब तक तुम इसका कारण न बतलाओगे। राजा के ऐसा कहने पर भिक्षु उन्हें अलग ले गया। उसने कहा—“मुझे एक मन्त्र की साधना करनी है, जिसमें किसी वीर पुरुष की सहायता अपेक्षित है। वीरश्रेष्ठ! उस कार्य में मैं आपकी सहायता की याचना करता हूँ।” यह सुनकर राजा ने उसे सहायता का वचन दिया। तब सन्तुष्ट होकर भिक्षु ने राजा से फिर कहा—“देव! तब मैं आगामी कृष्ण चतुर्दशी को, यहाँ के महाश्मशान में, बरगद के पेड़ के नीचे आपकी प्रतीक्षा करूँगा। आप वहीं मेरे पास आयेंगे।” “ठीक है, मैं ऐसा ही करूँगा।” राजा के ऐसा कहने पर भिक्षु शान्तिशील प्रसन्न होकर अपने घर चला गया।

निरन्तर दश वर्ष तक भिक्षु फल लाता रहा और राजा बिना सोचे विचारे, बिना ध्यान दिए यूँ ही लगभग बेहोशी में फल लेता रहा तथा भिक्षु जो कि धैर्य की प्रतिमूर्ति ही कहा जाएगा, प्रतिदिन दश वर्ष तक फल लाता रहा। जिस उद्देश्य से वह फल ला रहा था, दश वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद वानर शिशु के द्वारा फल खाते समय, उसमें से रत्न का दर्शन होने के बाद ही राजा का भिक्षु की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। जीवन प्रतिक्षण फल लाता है, पर हम सब जीवत्व रूप साधारण जीवन जीती हुई आत्माएं अनवधानता के कारण जीवन के फल को यूँ ही व्यर्थ गंवा देती हैं। परमपिता परमेश्वर द्वारा दिया हुआ मानव जीवन एक अमूल्य अवसर है, जिसे हम कहानी में वर्णित पात्र राजा विक्रमादित्य की तरह, जीवन्तुपी अवसर को पहचानने में चूक जाते हैं तथा जब जीवन का अन्तिम समय आता है तो अवसर जा चुका होता है तथा पश्चात्ताप के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता। भिक्षु को जागृत एवं साहसी व्यक्ति की आवश्यकता थी। विक्रमादित्य अपनी वीरता एवं साहस के लिए प्रसिद्ध था। भिक्षु को विक्रमादित्य की वीरता में कोई संदेह नहीं था परन्तु भिक्षु को अपने कार्य में सहयोग के लिए केवल वीरता नहीं चाहिए थी, अपितु वीरता के साथ होश अर्थात् जागरण आवश्यक था क्योंकि जागृत व्यक्ति ही लौकिक एवं अलौकिक दोनों उद्देश्यों में सन्तुलन स्थापित करके अपनी यात्रा को आनन्दपूर्ण बना सकता है जैसा कि वेद में भी कहा है—

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति

यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥^{१४}

वह भिक्षु दश वर्ष तक निरन्तर, प्रतिदिन, आशान्वित होकर राजा को फल भेंट करने का कार्य निराश हुए बिना धैर्यपूर्वक करता रहा कि किसी दिन तो विक्रमादित्य जागेगा। वास्तव में लक्ष्य चाहे लौकिक हो अथवा अलौकिक, दीर्घकाल तक श्रद्धायुक्त निरन्तरता ही सफलता का मूलमन्त्र है। जैसा कि योगदर्शनकार

पतञ्जलि ने समाधिपाद में चित्तनिरोध के उपायों का वर्णन करते हुए अभ्यास एवं वैराग्य को उपायस्वरूप कथन करते हुए अभ्यास की दृढ़ता का उपाय इस प्रकार बताया है-“स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।”^{१५}

अपने वचनानुसार सत्यसन्ध, वीरशिरोमणि, साहसी एवं जागृत राजा विक्रमादित्य कृष्ण चतुर्दशी को श्मशान में पहुँचे। श्मशान में घोर अन्धेरा था, चिताएं जल रही थीं, नरककाल, खोपड़ियाँ तथा हड्डियाँ चारों ओर फैली हुई थीं। बीभत्स एवं भयावह दृश्य था। राजा ने दौड़ते हुए एक वृक्ष के नीचे उस भिक्षु को देखा तथा निकट जाकर कहा-“भिक्षु! मैं आ गया हूँ बताइये क्या करना है?” भिक्षु ने कहा-राजन् यदि आपने मुझ पर कृपा की है तो यहाँ से दक्षिण की ओर चले जाइए। बहुत दूर पर एक शिंशपा (अशोक शीशम) का अकेला वृक्ष मिलेगा। उस पर एक मरे हुए मनुष्य का शरीर लटक रहा है। आप उसे यहाँ ले आइए और मेरा काम पूरा कीजिए। सत्यप्रतिज्ञ राजा अमावस की अन्धेरी रात्रि में राह दौड़ते हुए उस शिंशपा वृक्ष तक पहुँच गए। उस वृक्ष की डाल पर एक शव लटका हुआ था। राजा ने वृक्ष पर चढ़कर डोरी काट डाली एवं शव को जमीन पर गिरा दिया। नीचे गिरकर अचानक वह चीख उठा, जैसे उसे बड़ी पीड़ा हुई हो। राजा ने समझा कि वह मनुष्य जीवित है। उनको दया आ गई। वृक्ष से उतरकर वे उसके अंगों को सहलाने लगे। तब उस शव ने अट्टहास किया। तब राजा ने समझा कि उस पर बेताल चढ़ा हुआ है। यह जानकर जब तक वे निर्भय होकर यह कहें कि हँसते क्या हो? आओ हम लोग चलें, तब तक उन्होंने देखा कि बेताल के सहित वह शव भूमि पर नहीं है, वह फिर उसी वृक्ष पर जा लटका है। तत्पश्चात् वृक्ष पर चढ़कर उन्होंने शव को फिर नीचे उतारा कन्धे पर रखा और चुपचाप चलने लगे।^{१६} ऐसी स्थिति में जब अमावस की तमसाछत्र रात्रि, श्मशान के भय से हृदय को कंपा देने वाला बीभत्स, दुर्गन्धपूर्ण स्थान किसी भी व्यक्ति को भयभीत करने के लिए पर्याप्त है। भय को द्विगुणित करने के लिए मृत शरीर रूप में दिखाई देकर, पेड़ से पृथक् करने के लिए डोरी काटने पर भयंकर अन्धकारपूर्ण रात्रि में अट्टहास करता हुआ बेताल, विक्रमादित्य के अन्दर भय का संचार तो अवश्य कर रहा होगा क्योंकि भय नामक अन्तःकरण का विकार किसको भयभीत नहीं करता? भय किसी मूढ़, बेहोश, अत्यधिक मात्रा में मादक द्रव्य का सेवन कर अपने आपको विस्मृत कर देने वाले जड़ता को प्राप्त पाषाण सदृश व्यक्ति को नहीं होगा तथा जो जगत् की अनित्यता का साक्षात्कार करके द्वन्द्वातीत अवस्था को प्राप्त कर चुका है, उसे भी कोई स्थिति भयभीत नहीं कर सकती। राजा विक्रमादित्य न तो जड़ता की स्थिति में हैं तथा न ही द्वन्द्वातीत अवस्था को उपलब्ध हैं। जड़ व्यक्ति इतनी कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन नहीं कर सकता तथा द्वन्द्वातीत अवस्था होती तो भिक्षु के पीछे श्मशान में आने की आवश्यकता ही न होती। भयभीत तो विक्रमादित्य भी अवश्य हुए होंगे परन्तु सामान्य व्यक्ति और वीर व्यक्ति में यही अन्तर होता है कि भय सामने देखकर सामान्य व्यक्ति परिस्थिति के सामने नतमस्तक होकर भाग खड़ा होता है तथा वीर व्यक्ति भययुक्त होने पर भी भागता नहीं अपितु उस भय का सामना करके उसके पार चला जाता है अर्थात् उस पर विजय प्राप्त कर लेता है। ऐसे वीर पुरुषों को भर्तृहरि ने उत्तम श्रेणी का पुरुष बताते हुए कहा है-

१५ योगदर्शन समाधिपाद, सूत्र-१४

१६ कथासरित्सागर, द्वादश लम्बक, अष्टम तरंग, श्लोक ४०-५८, अथ तां स महासत्त्वः प्राप्य..... यान्तं च तं शवान्तस्थो
बेतालोऽसंस्थितोऽब्रवीत्। राजन्नध्वविनोदाय कथामाख्यामि ते शृणु।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः

प्रारभ्य विघ्नविहताः विरमन्ति मध्याः।

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः

प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति।^{१७}

चलते हुए राजा के कन्धे पर सवार शव के अन्दर का बेताल बोला-“राजन्! राह काटने के लिए मैं तुमसे एक कथा कहता हूँ। सुनो-विक्रमादित्य के पास सुनने के सिवाय कोई उपाय भी न था, सुनना ही एकमात्र विकल्प था। “मरता क्या न करता।” बेताल ने इस प्रकार कहानी आरम्भ की-यमुना के किनारे ब्रह्मस्थल नाम का एक स्थान है, जो ब्राह्मणों को दान में मिला हुआ है। वहाँ वेदों का ज्ञाता, अग्निस्वामी नाम का एक ब्राह्मण था। उसके यहाँ मन्दारवती नाम की एक अत्यन्त रूपवती कन्या उत्पन्न हुई। जब वह कन्या युवती हुई, तब कान्यकुब्ज से तीन ब्राह्मणकुमार वहाँ आए, जो समान भाव से समस्त गुणों से अलंकृत थे। उन तीनों ने ही उसके पिता से, अपने लिए उसकी याचना की। प्राण देकर भी वे यह नहीं चाहते थे कि वह कन्या उनमें से किसी दूसरे को दी जाए किन्तु उसके पिता ने उनमें से किसी को भी अपनी कन्या नहीं दी क्योंकि उसे भय हुआ कि ऐसा करना, दूसरों के वध का कारण बनेगा और इस तरह वह कन्या अविवाहित ही रही। एक बार अचानक मन्दारवती को दाहज्वर हुआ और अविवाहित अवस्था में ही उसकी मृत्यु हो गई। कन्या के दाह संस्कार के पश्चात् उन तीन ब्राह्मण पुत्रों में से एक चिता भस्म की शय्या बनाकर भिक्षा में प्राप्त अन्न से जीवन निर्वाह करते हुए, श्मशान में ही रहने लगा। दूसरा उसकी अस्थियों को लेकर गंगा तट पर चला गया, तीसरा साधु होकर देश देशान्तर के भ्रमण के लिए निकल पड़ा। वह साधु घूमते फिरते वक्रोलक नामक गाँव में पहुँचा, वहाँ एक घर में आतिथ्य स्वीकार करते हुए, घर में विद्यमान बालक को अवज्ञा के अपराधस्वरूप आग में जलाकर मारना तथा मन्त्र शक्ति से पुनः जीवित होना देखकर अपनी मृत प्रिया को पुनः जीवित करने की आशा से आशान्वित होकर, उस मन्त्र सहित पुनः ब्रह्मस्थल ग्राम पहुँचा। उसने धूल को मन्त्र शक्ति से अभिमन्त्रित करके चिता भस्म पर डाल दिया परिणामस्वरूप ब्राह्मण कन्या पहले से भी कहीं ज्यादा कान्तियुक्त स्वर्ण सदृश देह के साथ जीवित हो उठी। उसको जीवित देखकर वे तीनों कामपीड़ित होकर कन्या को प्राप्त करने के लिए झगड़ने लगे। सबके अपने तर्क थे, एक का कहना था कि मैंने इसे मन्त्र शक्ति से जीवित किया है, अतः यह मुझे मिलनी चाहिए। दूसरे ने कहा कि इसका जीवन तीर्थ बल से प्राप्त हुआ है जिसके लिए मैंने तपस्या की है, अतः यह मुझे मिलनी चाहिए। तीसरे ने कहा कि इसकी भस्म को मैंने तपस्या करते हुए सुरक्षित रखा है, अतः यह मुझे मिलनी चाहिए। बेताल ने कहा-राजन्! उनके इस विवाद का निर्णय करके तुम ठीक ठीक बताओ कि उसे किसकी स्त्री होना चाहिए? यदि तुम जानते हुए भी न बतलाओगे तो तुम्हारा माथा फट जाएगा। उसके ऐसा कहने पर राजा उससे बोला-“जिसने कष्ट उठाकर मन्त्र बल से उसे जीवित किया वह पिता समान है, जो उसकी अस्थियाँ गंगा में डाल आया वह पुत्र समान है। असली प्रेमी तो वही है, जो चिता की भस्म रमाये बैठा था अतः वह स्त्री उसी की

होनी चाहिए।” अपना मौन तोड़कर विक्रमादित्य ने ज्यों ही यह बात कही बेताल तुरन्त उसके कन्धे से वापिस पेड़ पर चला गया।^{१८}

इसी प्रकार चैबीस कहानियाँ चलती रहीं एवं प्रत्येक बार विक्रमादित्य के मन में, कहानी के माध्यम से बेताल द्वारा पृष्ठ प्रश्नों के उत्तर आते रहे एवं बेताल पुनः पुनः वृक्ष पर जाकर लटकता रहा। विक्रमादित्य शान्त एवं शून्यरूप मौन की अवस्था से विचलित होकर प्रत्येक बार अपने लक्ष्य अर्थात् बेताल को भिक्षु तक पहुँचाने के कार्य में असफल होता रहा। हम सबकी भी यही स्थिति है। हमारा भी प्रत्येक जीवन बेताल की कहानी ही तो है। जीवन की जो कहानी प्रारब्ध रूप में प्राप्त हुई है, उसमें जो अपने प्रारब्ध को प्रतिक्रिया किए बिना शान्तभाव से भोगकर शून्यावस्था को प्राप्त हो जाता है अर्थात् कहानी में लिप्त हुए बिना, पानी में कमल की भांति अछूता रह पाता है, वह जन्म-मरण रूपी कहानियों के चक्र से बाहर होकर अपने परमात्मरूपी लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो जाता है। जो व्यक्ति कहानी में आसक्त हो जाता है, वह उस आसक्ति के परिणामस्वरूप पुनः पुनः इस चक्र में गोल-गोल घूमता रहता है तथा उसे चक्र से बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं सूझता। इन कहानियों के माध्यम से जहाँ सामान्य जनों का मनोरञ्जन होता है, वहीं खोजी के लिए बहुत सरल एवं सरस ढंग से लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग भी बताया है। मनुष्य सदैव विचारों की भीड़ में घिरा हुआ अपने लक्ष्य से दूर से दूरतर एवं दूरतम ही बना रहता है। विचार सदैव अधिकतर भूत अथवा भविष्य से संबन्धित ही होते हैं। भूत हो चुका, जिसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता। भूत में भी जो कष्टपूर्ण रहा है, उसे ही हम पुनः पुनः स्मृतिपथ पर लाकर वासना या संस्कार रूप में परिणत कर लेते हैं तथा अपने कष्ट को पुनरुज्जीवित करते रहते हैं। भविष्य से सम्बन्धित विचार अधिकतर काल्पनिक होते हैं। चिन्ताजनक कल्पनाएं करते-करते व्यर्थ में ऊर्जा का क्षय करते हैं जबकि जीवन का मतलब तो वर्तमान है तथा वर्तमान भी आसक्तिमुक्त शून्यवत हो तो ही जीवन सार्थक एवं सुखमय हो सकता है। इसी का नाम योग अथवा ध्यान है। निर्विषय अर्थात् शून्य हो जाना ही तो ध्यान है। जैसा कि सांख्यदर्शन में ध्यान की परिभाषा देते हुए कहा—“**ध्यानं निर्विषयं मनः।**”^{१९} बेताल की कहानियाँ भी यही तथ्य समझाने का प्रयास कर रही हैं कि कहानी सुनते हुए भी उसमें लिप्त न होकर ऐसे अछूते रह जाओ कि उसका कोई प्रभाव या तद्विषयक कोई विचार ही न उठे। यही तो योगदर्शन की असंप्रज्ञात समाधि है।^{२०} यही तो गीता निष्काम कर्म है।^{२१} इसी शून्य अवस्था को प्राप्त करने के लिए सारा प्रपञ्च है। यह संसार तो एक प्रयोगशाला है। जो आत्माएं इस शून्य अर्थात् असंग अवस्था को प्राप्त कर लेती हैं, वे परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाती हैं। परिणामस्वरूप संसार की प्रयोगशाला से हटा ली जाती हैं। जो उक्त अवस्था को प्राप्त नहीं कर पातीं वे पुनः पुनः प्रयोगशाला में भेजी जाती रहती हैं। धन्य हैं भारतीय मनीषा जिन्होंने साधारण सी दिखाई देने वाली कथा कहानियों के माध्यम से जीवन के गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित कर, सामान्य जनमानस को, जो कि कठिन

१८ कथासरित्सागर, द्वादश-लम्बक, नवम-तरंग, अतस्तव विनोदाय कथयामि कथां शृणु.... एवं नृपात् त्रिविक्रमसेनात् श्रुत्वैव मुक्तमौनात्सः तस्य स्कन्धात् अगमवेतालोऽतर्कितः स्वपदम्॥

१९ सांख्यदर्शन ६/२५

२० योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र-१८, विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

२१ गीता २.४७, कर्मण्येवाधिकारस्ते..... मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

शास्त्रीय गुत्थियों में उलझे बिना भवसागर के पार जाने का मार्ग प्रशस्त किया है। प्रभु सभी जीवात्माओं पर कृपा करें, सबको सद्बुद्धि दें कि अपने प्राचीन साहित्य में विद्यमान जीवन सूत्रों पर गम्भीरतापूर्वक दृष्टिपात करके, आचरण में लाने में समर्थ होकर जीवन के उच्चतम सोपान आनन्द, तृप्ति एवं शान्ति का अनुभव कर सकें। विस्तारवादी नीतियों के कारण एक दूसरे देश को युद्ध की विभीषिका में धकेलकर मानव जीवन को अशान्त करने वाले इस समय में प्राचीन भारतीय साहित्य में निहित ये शान्ति एवं सहअस्तित्व के सूत्र ही एकमात्र विश्व का पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ हैं। हमारे मनीषियों द्वारा उल्लिखित इन जीवन मूल्यों की जितनी सार्थकता इनके लेखन के समय थी, उससे कहीं अधिक उनकी आवश्यकता आज के मानव के लिए दिखाई पड़ती है।

भारतीयज्ञानपरम्परा

डॉ. सुशील कुमारी^१

भारतीयज्ञानपरम्परा में गुरु वह है जो ज्ञान दे। संस्कृतभाषा के इस शब्द का अर्थ शिक्षक से लगाया जाता है। इस आधार पर व्यक्ति के प्रथम गुरु माता-पिता को माना जाता है। दूसरा गुरु शिक्षक होता है जो अक्षर ज्ञान करवाता है। उसके बाद कई प्रकार के गुरु जीवन में आते हैं। संस्कृत में, गुरु का शाब्दिक अर्थ है- अन्धकार को दूर करने वाला। परम्परागत रूप से गुरु, शिष्य या छात्र के लिए एक श्रद्धेय व्यक्ति है। गुरु एक परामर्शदाता के रूप में मार्गदर्शन करता है, जो मूल्यों को ढालने में मदद करता है, अनुभवात्मक ज्ञान को उतना ही साझा करता है जितना कि शाब्दिक ज्ञान, जीवन में एक अनुकरणीय, एक प्रेरणादायक स्रोत और जो एक छात्र के आध्यात्मिक विकास में मदद करता है। आचार्य यास्क ने निरुक्त में आचार्य का निर्वचन करते हुए कहा है कि- **आचार्यः कस्मात् ? - आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा। आचार्यः कस्मात्?** आचार्य नाम क्यों पड़ा ? आचार्य आचारं ग्राहयति- आचार्य इसलिए कहते हैं चूँकि वह आचार को ग्रहण कराता है, विद्यार्थी को आचरण सिखाता है। आचिनोति अर्थान्- पदार्थों का संचय करता है, विद्यार्थी को सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का दर्शन करा देता है। आचिनोति बुद्धिम् इति वा- शिष्य की बुद्धि का संचय करता है, उसकी बुद्धि बढ़ाता है, अतः उसे आचार्य कहते हैं। प्रश्न है कि सच्चे गुरु की पहचान कैसे हो? हमारे शास्त्रों में सच्चे आध्यात्मिक गुरु की पहचान बताई गई है। श्रीमद्भगवद्गीता में सच्चे गुरु को तत्त्वदर्शी सन्त कहकर व्याख्या की गई है।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥^२

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा आदि पुरुष परमेश्वर रूप मूल वाले और ब्रह्मा रूप मुख्य शाखा वाली जिस संसार पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं तथा वेद जिसके पत्ते कहे गए हैं उस संसार वृक्ष को जो पुरुष मूल रूप से जानता है। वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है। (सः) वह (वेदवित्) वेद के तात्पर्य को जानने वाला है। अर्थात् वह तत्त्वदर्शी सन्त है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥^३

१ सहायक आचार्या, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय), चाणक्यपुरी, दिल्ली-११००२१

२ श्रीमद्भगवद्गीता, १५.०१

३ श्रीमद्भगवद्गीता, ६.५

अर्थात् अपने द्वारा अपना संसार समुद्र से उद्धार करे और अपने को अधोगति में न डालें क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

लेकिन दूसरी तरफ यह भी कहा गया है कि भगवान जब १३ वें अध्याय में ज्ञान का वर्णन करते हैं तो कहते हैं कि आचार्योपासनम्....।^४ आचार्य की उपसत्ति की चर्चा बार बार आई है।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।^५

अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासु कर्म-संचित लोकों की परीक्षा करके संसार के निर्वेद का अनुभव करता है, क्योंकि कर्मों को करने से ही 'उस' की उपलब्धि नहीं हो सकती जो 'अकृत' है। उस 'परतत्त्व' के ज्ञान के लिए वह हाथ में समिधा धारण करके वेदविद् (श्रोत्रिय) एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाये। अथवा, 'वह' जो असृष्ट है, सृष्ट पर आधारित नहीं है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।^६

आध्यात्मिक गुरु के पास जाकर सच्चाई जानें। उसके प्रति श्रद्धा से पूछताछ करें और उसके प्रति सेवा प्रदान करें। ऐसा प्रबुद्ध सन्त ही आपको ज्ञान प्रदान कर सकता है क्योंकि उसने सत्य को देखा है। जिसमें सन्तत्व है वही सन्त है। ईश्वर ने अपनी बातों को लोगों तक समझाने के लिए, उन्हें सही रास्ते पर लाने के लिए, व्यक्ति का विकास कैसे हो, उसके चिंतन, शरीर, धन, ज्ञान का विकास कैसे हो, उसके लिए एक प्रतिनिधि परंपरा का प्रारंभ किया, यही संत अथवा गुरु परम्परा है।

भारतीय ज्ञानपरम्परामें गुरु पूर्णिमा का विशेष महत्त्व है। आषाढ़ की समाप्ति और श्रावण के आरम्भ की सन्धि को आषाढ़ी पूर्णिमा, व्यास पूर्णिमा अथवा गुरुपूर्णिमा कहते हैं। गुरुपूर्णिमा आत्म-बोध की प्रेरणा का शुभ त्यौहार है। यह त्यौहार गुरु-शिष्य के आत्मीय संबंधों को सचेतन व्याख्या देता है। प्राचीन काल में विद्यार्थियों से शुल्क नहीं लिया जाता था, अतः वे साल में एक दिन गुरु की पूजा करके अपने सामर्थ्य के अनुसार उन्हें दक्षिणा देते थे। महाभारत काल से पहले यह प्रथा प्रचलित थी लेकिन धीरे-धीरे गुरु-शिष्य संबंधों में बदलाव आ गया। 'आचार्य देवो भव' का स्पष्ट अनुदेश भारत की पुनीत परंपरा है और वेद आदि ग्रंथों का अनुपम आदेश है। परमात्मा की ओर संकेत करने वाले गुरु ही होते हैं। गुरु एक तरह का बांध है जो परमात्मा और संसार के बीच और शिष्य और भगवान के बीच सेतु का काम करते हैं। इन गुरुओं की छत्रछाया में से निकलने वाले कपिल, कणाद, गौतम, पाणिनि आदि अपने विद्या वैभव के लिए आज भी संसार में प्रसिद्ध हैं। गुरुओं के शांत पवित्र आश्रम में बैठकर अध्ययन करने वाले शिष्यों की बुद्धि भी तदनुकूल उज्ज्वल और उदात्त हुआ करती थी। सादा जीवन, उच्च विचार गुरुजनों का मूल मंत्र था। तप और त्याग ही

४ श्रीमद्भगवद्गीता, १३.७

५ मुण्डकोपनिषद्, १.२.१२

६ श्रीमद्भगवद्गीता, ४.३४

उनका पवित्र ध्येय था। लोकहित के लिए अपने जीवन का बलिदान कर देना और शिक्षा ही उनका जीवन आदर्श हुआ करता था।

भारतीय ज्ञानपरम्परामें में गुरु ही शिष्य को सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों तरह का ज्ञान देते थे। गुरु उसे कहते थे जो विद्यार्थी को विद्या और अविद्या अर्थात् आत्मज्ञान और सांसारिक ज्ञान दोनों का बोध कराते थे लेकिन बाद में आत्मज्ञान के लिए गुरु और सांसारिक ज्ञान के लिए आचार्य-ये दो पद अलग-अलग हो गए। आज हमारे विद्यालयों में ज्ञान का नहीं बल्कि सूचनाओं का हस्तांतरण हो रहा है। वस्तुतः गुरु का जो विशिष्ट अर्थ है वह जन्म और मरण के चक्कर से छुड़ाने वाला है। शिक्षा गुरु के साथ दीक्षा गुरु की भी बहुत अधिक आवश्यकता है, वह हमें बताते हैं कि हमेशा कि मनुष्य जीवन के इस छोटे से समय में तुमने जान लिया तो ठीक है और नहीं जाना तो तुम्हारी बहुत बड़ी हानि है। केनोपनिषद् में कहा है कि-

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः। प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥^७

अर्थात् यदि व्यक्ति यहीं (इसी लोक में) उस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तो व्यक्ति का अस्तित्व सार्थक है, यदि यहीं उस ज्ञान की प्राप्ति नहीं की, तो महाविनाश है। ज्ञानीजन विविध भूत-पदार्थों में 'उस' का विवेचन कर, इस लोक से प्रयाण करके अमर हो जाते हैं।

यदि तुमने मनुष्य बनकर मननशील बनकर परम तत्व का ज्ञान प्राप्त नहीं किया तो महान विनाश है। जो निरंतर हमारी मन में मृत्यु का भय है, उस भय को दूर करें वह गुरु है जो इस भाव को दूर न कर सके वह गुरु नहीं है ऐसा भगवत् कृपा कहते हैं।

दो शब्द हैं, एक है शिक्षा और एक विद्या। संस्कृत का व्याकरण कहता है कि आपको जिस शब्द का अर्थ पूछना है उस शब्द के पास जाइए और उस शब्द से पूछिये। शिक्षा- 'शिक्षू विद्योपादाने' धातु से बना है जिसे सीखना कहा जाता है और विद्या 'विद् ज्ञाने'से बना है। जिसे जानना कहा जाता है यह सीखने और जानने का अन्तर है। यहां से हम पहला बीज रखते हैं। शिक्षा सीखने का साधन है और विद्या जाने का साधन। सीखना पारंपरिक है, सीखना नियत है, सीखना निमित्त है, और जानना परंपरा से बाहर है, ज्ञान उन्मुक्त है, जानना असीमित है, जैसे अभी इस मनुष्य को जानना है अंतरिक्ष का रहस्य, अभी इस मनुष्य को जानना है आत्मा का रहस्य। मनुष्य पर आने वाली विपत्तियों से लड़ना तो सीखना एक सीमित सांचे में सीखना सिखाता है और विद्या जानना आपको असीमित सांचे में सोचना सिखाता है।

अर्थात् पेड से पककर फल नीचे गिरता है, पूरी मनुष्यता ने देखा, यह सामान्य बात है। सबको पता है कि फल नीचे गिरता है, लेकिन वह नीचे क्यों गिरता है? इस जैसे के मूल से वह ज्ञान पैदा हुआ जो न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत सिखाता है। अंग्रेजी में दो शब्द हैं Knowledge (नॉलेज) और Wisdom(व्हिज्डम) शिक्षा और विद्या में भी नॉलेज, विज्डम वाला ही अन्तर है।

^७ केनोपनिषद्, २.५

आप जब सीखते हैं तब आपका जन्म प्रारंभ होता है जो आपको यह भौतिक जन्म मिला है। यह जन्म तो परंपरा से हर पशु पक्षी को मिलता है, लेकिन फिर ऐसा क्या है कि मनुष्य होने के नाते शास्त्र आपको **अहं ब्रह्मास्मि** कहता है। मनुष्य होने के नाते आपको प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। यह जो आत्मज्ञान है, यह जो विद्या है ये आपको आगे ले जाती है। हमारे शास्त्रों में एक शब्द है जिसे **द्विज** कहा जाता है। जिसका अर्थ होता है, दोबारा जन्म लेना। प्रथम जन्म आपको मां की कोख से मिलता है। आप माता-पिता के संयोग से पृथ्वी पर आए, यह तो सब पशु पक्षियों का है लेकिन आपने जाना कि मैं क्यों आया हूँ? मैं क्यों पैदा हुआ हूँ? यह आपका दूसरा जन्म है। इसलिए दूसरे जन्म को जो प्राप्त कर लेते हैं वे द्विज कहलाते हैं। जाति या धर्म से नहीं कहलाते हैं। उन्होंने यह जान लिया है कि मेरा हेतू क्या है? उसी के कारण से आप आगे बढ़ते हैं। दुर्भाग्य से भारतीय ज्ञान परंपरा को, भारतीय विद्या परंपरा को आज हमने विस्मृत कर दिया है। आपकी जो जानने की इच्छा है वही विद्या की तरफ आप को ले जाती है

विद्या, कुल, जानने वाले लोग, यह सारा समूह, ये आचार्य, ये कुलपति, ये संकुल यक ढांचे में बांध देता है, और आने वाली पीढ़ियों से कहते हैं कि आप इसे दोहराइए। आप इसके अध्यात्म से सीखिए तो वो शिक्षा में परिवर्तित हो जाती है। इसलिए शिक्षा **Learning** के लिए आवश्यक है, और **Life** के लिए जीवन के लिए विद्या चाहिए। विद्या आपको मुक्त करती है और शिक्षा आपको परिधि में बांधती है। इसलिए हमारे शास्त्रों में **सा विद्या या विमुक्तये** यह सिद्धांत प्रचलित है। अर्थात् विद्या वह है जिससे आपको मुक्ति प्राप्त हो, और शिक्षा आपको सीमित ढांचे में सोचना सिखाती है। उपनिषद् कहती है कि **विद्ययामृतमश्नुते** विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। जितने भी विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, विद्यालय तथा शिक्षण संस्थाएं हैं, जितने भी प्रकार के ज्ञान के केंद्र हैं, जितने भी प्रकार की पद्धतियां जानने की है वे सब हमको शिक्षित कर रही हैं। हजारों वर्ष पूरा हमारे शास्त्रों ने निर्धारित किया है कि यहां का जीवन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के अनुसार चलेगा।

इसलिए गुरुकुल राजसत्ता के शीर्ष पर रहे, गुरुकुल में प्रवेश करते समय राजा अपने मुकुट बाहर उतारता था, अपना रथ बाहर छोड़ता था, अपने धनुष-बाण, तलवार आदि सभी अस्त्र-शस्त्र बाहर छोड़ता था। राजा अपने सैनिकों और अपने अंग रक्षकों को बाहर रखता था। राजा अपने परित्राण चरणपादुकाएं उतारकर सबसे पहले कुलाधिपति, कुलपति और आचार्य के चरणों में अपना शीश झुकाता था। राजा अर्थात् इस पृथ्वी का भोग करने वाला, राजा अर्थात् राजसत्ता का नियामन करने वाला और कुलपति कौन? इस राजसत्ता का नियमन कैसे होगा? इसकी कर व्यवस्था क्या होगी? इसकी विदेशनीति क्या होगी? इसके विद्यार्थी क्या पढ़ेंगे? इनव्यवस्थाओं का नियमन करने वाला होता था, जहां एक दूसरे के पास बैठकर संवाद करते थे। उपनिषद् परंपरा गुरुकुलों में राजाओं को आमंत्रित करती थी, मंत्रियों को आमंत्रित करती थी, वहां मन्त्रणाएं की जाती थी।

विद्या आप की संस्कृति से जुड़ी होती है। गांव का एक किसान चिड़ियों को भगाने के लिए अपने खेतों में फसल की रखवाली करने के लिए एक विशेष प्रकार की आवाज निकालता है। वह विद्या उसने अपने पिता से सीखी है, उसके पिता ने उसके पितामह से सीखी है। शिक्षा तालाब है और विद्या बहता हुआ झरना

है, आप गुरु और शिक्षक में से किसे चुने, तो उस शिक्षक को चुनिए जिस शिक्षक के अन्दर गुरु विद्यमान है। विद्या आपको विनय देती है उससे आपमें पात्रता आती है, पात्रता से धन मिलता है, धन से सुख मिलता है।

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।

पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनात् धर्मं ततः सुखम्॥

जो ज्ञान संस्कार के साथ में न आ सके कालांतर में शव हो जाता है, और जिस ज्ञान में संस्कार निहित है वह किसी भी जगह जाए शिव हो जाता है। संस्कार से अभिषिक्त होकर विद्या, सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की तरफ जाती है। रावण में ज्ञान का अहंकार था, और राम में अहंकार का ज्ञान था बस इन दोनों में यही अंतर है। ये सामान्य सा सूत्र है जो शिक्षा और विद्या के बीच में है। महात्मा बुद्ध की शिक्षा, शिक्षकों ने दी परन्तु ज्ञान और विद्या उसके रथी ने दिया। अतः ईश्वर से प्रार्थना करें- ओ३म् असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा मृतं गमय ॥^८

अर्थात्-हे ईश्वर! मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो। मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो। मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो॥

प्राचीन काल में गुरुकुल से विदाई लेने से पूर्व शिष्य का समावर्तन संस्कार होता था। इस संस्कार से पूर्व ब्रह्मचारी का केशान्त संस्कार होता था और फिर उसे स्नान कराया जाता था। इसमें सुगन्धित पदार्थों एवं औषधादि युक्त जल से भरे हुए वेदी के उत्तर भाग में आठ घड़ों के जल से स्नान करने का विधान है। यह स्नान विशेष मन्त्रोच्चारण के साथ होता था। इसके बाद ब्रह्मचारी उस मेखला व दण्ड को छोड़ देता था जिसे उसे यज्ञोपवीत के समय धारण कराया जाता था। इस संस्कार के बाद उसे 'विद्या स्नातक' की उपाधि आचार्य देते थे। इस उपाधि से वह सगर्व गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी समझा जाता था। सुन्दर वस्त्र व आभूषण धारण करता था तथा आचार्यों एवं गुरुजनों से आशीर्वाद ग्रहण कर अपने घर के लिए विदा होता था।

इस संस्कार के माध्यम से गुरुशिष्य को, इंद्रिय निग्रह, दान, दया और मानवकल्याण की शिक्षा देता है। ऋग्वेद में कहा है कि-

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयाश्भवति जायमानः।

तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥^९

अर्थात् युवा पुरुष उत्तम वस्त्रों को धारण किए हुए, उपवीत (ब्रह्मचारी) सब विद्या से प्रकाशित जब गृहाश्रम में आता है, तब वह प्रसिद्ध होकर श्रेय मंगलकारी शोभायुक्त होता है। उसको धीर, बुद्धिमान, विद्वान, अच्छे ध्यानयुक्त मन से विद्या के प्रकाश की कामना करते हुए, ऊंचे पद पर बैठते हैं।

^८ बृहदारण्यकोपनिषद्, १.३.२८

^९ ऋग्वेद ३.८.४

तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षावल्ली के ११वें अनुवाक में मिलता है कि आचार्य किस प्रकार स्नातक को भावी जीवन का उपदेश करते थे।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।^{१०}

(सत्य बोलना। धर्म के मार्ग पर चलना। स्वाध्याय करने में आलस्य मत करना (पढ़ना समाप्त हुआ, अब हमको पठन-पाठन से क्या काम, ऐसा मत समझना)। आचार्य को उनकी प्रिय वस्तु देना और सन्तान रूपी तन्तु का विच्छेद मत करना (अर्थात् सन्तान पैदा करने से मत चूकना)। सत्य (को जानने और बोलने) के प्रति प्रमाद (उपेक्षा) मत करना। धर्म (कर्तव्य) के मार्ग पर चलने से प्रमाद न करना। कल्याणकारी कार्यों को करने से प्रमाद मत करना। संसाधनों के विकास में प्रमाद न करें।

स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि। ये केचास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वया आसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया अदेयम्। श्रिया देयम्। हिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।^{११}

स्वाध्याय और प्रवचन (शिक्षण) में प्रमाद न करें। देवकार्य तथा पितृकार्य से प्रमाद नहीं किया जाना चाहिए। माता को देवता मानना। पिता को देवता मानना। आचार्य को देवता मानना। जो अनिन्द्य कर्म हैं (जिन कर्मों का कथन किया जा सके), उन्हीं का सेवन करें, अन्य नहीं। हमारे (आचार्यों के) जो-जो कर्म अच्छे आचरण के द्योतक हों, केवल उन्हीं की उपासना करना, दूसरे कर्मों का नहीं (संकेत है कि गुरुजनों का आचरण सदैव अनुकरणीय हो ऐसा नहीं है, 'आचार्य ने ऐसा किया है' उसका अनुकरण नहीं करना। जो हमसे अच्छे काम बन पड़े हैं, उन्हीं का अनुकरण करना, हमारे अनुचित कामों का अनुकरण मत करना)। हमसे जो अधिक श्रेष्ठ सच्चरित्र ब्रह्मज्ञानी (विद्वान्) मिलें उनकी उपासना करना (अन्धश्रद्धा मत करना; अपनी बुद्धि पर भरोसा करके विवेक से काम करना)। श्रद्धापूर्वक दान करना चाहिये। बिनाश्रद्धा के दान नहीं करना चाहिए। अपनी सामर्थ्य के अनुसार उदारतापूर्वक दान देना चाहिये। विनम्रतापूर्वक (हिया) दान देना चाहिये। इस भय से दान देना चाहिये कि दान नहीं करूँगा तो भगवान को क्या मुँह दिखाऊँगा। विदा (ज्ञानपूर्वक, विधिपूर्वक, आदर एवं उदारतापूर्वक निस्वार्थ भाव से) दान देना चाहिये (प्रमाद से, उपेक्षापूर्वक नहीं)।

छान्दोग्योपनिषद् में कथा आती है कि देवर्षि नारद सभी वेद विद्याओं में सम्पन्न थे किन्तु आत्मज्ञान के बिना उनके मन का शोक सन्ताप समाप्त नहीं हुआ था। आत्मज्ञान के लिए महर्षि सनत्कुमार के पास पहुंचे जो सदैव कुमार रूप में अर्थात् सरल बाल हृदय और संसार से निस्पृह रहते थे इन दोनों महापुरुषों का संवाद छान्दोग्य उपनिषद में के सातवें अध्याय में है जो कि अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसका आज के छात्र को आज के शिक्षक को मनन करना चाहिए।

१० तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली १.११.१

११ तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली १.११.२

नारद कहते हैं भगवन! मुझे आत्मज्ञान की शिक्षा दीजिए। सनत्कुमार कहते हैं कि तुम जो कुछ जानते हो उसे पहले बताओ फिर मैं उसके आगे तुम्हारे लिए उपदेश करूंगा। नारद कहते हैं भगवान मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों वेदों को पढा है। इतना ही नहीं पांचवा वेद रूप इतिहास पुराण पढ़ लिया है। वेदों का वेद व्याकरण मुझे स्मरण है। इसके पश्चात् सभी श्राद्धकल्प, गणित, उत्पात्ज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या (निरुक्त) ब्रह्मविद्या, भूतविद्या (भौतिक, रसायन और प्राणीशास्त्र) क्षत्रविद्या (शास्त्रविद्या) नक्षत्रविद्या (ज्योतिष) सर्पविद्या (विषज्ञान) देवविद्या (ललित कला) नृत्य संगीतादि मैंने पढ़ लिया है। भगवन्! मैं इतना सब पढ़कर केवल मन्त्रवेत्ता हुआ हूँ, शास्त्रों का पंडित हुआ हूँ। आत्मवेत्ता नहीं हुआ हूँ। मैंने आप जैसे महापुरुषों से सुना है कि- **तरति शोकम् आत्मवित्** अर्थात्- जो आत्मा को जान लेता है जिसे अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है वह शोक से पार हो जाता है मैं शोकसागर में डूबा रहता हूँ। भगवन्! मुझे शोक से पार लगा दीजिए। इसके पश्चात् सनत्कुमार उपदेश देते हैं कि नाम (संज्ञा) श्रेष्ठ है। नाम से वाणी श्रेष्ठ है, वाणी से मन से श्रेष्ठ है, मन से संकल्प श्रेष्ठ है, संकल्प से चित श्रेष्ठ है, चित से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से विज्ञान श्रेष्ठ है, विज्ञान से बल श्रेष्ठ है, बल से अन्न श्रेष्ठ है, अन्न से जल, जल से तेज श्रेष्ठ है, तेज से आकाश श्रेष्ठ है, आकाश से स्मरण, स्मरण से आशा, आशा से प्राण श्रेष्ठ है, प्राण के बाद सत्य, विज्ञान, मति, श्रद्धा, निष्ठा, कृति, सुख की विशेषता सनत्कुमार के द्वारा बताई गई है।

आहार शुद्ध होने पर अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। अंतःकरण शुद्ध होने पर स्मृत, स्मृति स्थित हो जाने पर सारी ग्रंथियां पूर्णता कट जाती हैं। नारद की वासना क्षीण हो गई थी, उस नारद को भगवान सनत्कुमार ने अज्ञान अंधकार से पार पहुंचा कर आत्मदर्शन करा दिया सनत्कुमार का दूसरा नाम स्कन्द भी कहा जाता है। इस प्रकार हमारे प्राचीन शास्त्रों में इस तरह की शिक्षा का महत्त्व दिया जाता था।

आचार्य यास्क ने निरुक्त में त्याज्य और ग्राह्य शिष्य का निरूपण करते हुए एक कथा के माध्यम से कहा है कि विद्या आचार्य के पास आई और बोली, हे आचार्य! मेरी रक्षा कर, मैं तेरी निधि हूँ, तेरी संपत्ति हूँ, अतः हे आचार्य! तू असूयकाय, निन्दक व्यक्ति के लिए, अनृजवे कपटाचरण करने वाले के लिए तथा अयताय, असंयमी के लिए मुझ को मत पढ़ाना ऐसा करने पर मैं तेरी लिए वीर्यशालिनी व शक्तिशालिनी हो जाऊंगी।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।

असूयकायानृजवेऽयताय नमा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम॥^{१२}

हे आचार्य! जिसे तो पवित्र (यम-नियम से तत्पर) अप्रमादि, सावधान., अत्यंत बुद्धिमान और ब्रह्मचर्य से युक्त जाने तथा किसी भी दशा में जो तेरे लिए द्रोह न करें, उस निधि की रक्षा करने वाले को मेरा उपदेश करो-

यमेवविद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।

१२ निरुक्त, अ. २

यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चन्नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्राह्मण॥^{१३}

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है ज्ञान की प्राप्ति तथा उसका संवर्धन। उस प्राप्त ज्ञान के आधार पर उसका मानव जीवन के लिए उपयोग जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियता की वृद्धि हो और अविद्यादि दोषदूर हों, उसे शिक्षा कहते हैं। इस प्रकार शिक्षा की परिभाषा में विद्या (ज्ञान) की प्राप्ति और उसके उनके आधार पर मानवीय गुणों, सभ्यता, धर्म, शिष्टाचार का होना आवश्यक है। राधाकृष्णन् के अनुसार भारत सहित सारे संसार के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा का संबंध नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से न रह कर, केवल मस्तिष्क के विकास से रह गया है। इस शिक्षा में अन्तरात्मा की अवहेलना है, उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

वैदिक परंपरा में गुरु शिष्य संबंध भी आदर्शों को प्रकट करते हैं। वैदिक ऋषियों ने सत्य अनुभव कर लिया था कि शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच पूर्ण सौहार्द न होने पर सच्ची शिक्षा असंभव है।

यास्क का स्पष्ट कथन है कि शिष्य, गुरु को माता-पिता के समान समझा और उससे कभी द्रोह न करें, क्योंकि विद्याएसे छात्रों की रक्षा नहीं करती, जो मन,वाणी और कर्म से गुरु का आदर नहीं करते।

य आतृण्यवितथेनकर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्न।

तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह॥

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा च।

यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥^{१४}

यजुर्वेद में दुर्गुणों को दूर करने तथा भद्रगुणों को प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥^{१५}

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए गुरुजन शिष्य से कहते हैं कि हे शिष्य! मेरी शिक्षा से तेरा मन पर्याप्त गुणयुक्त हो, तेरा प्राण बलादि गुणयुक्त हो, तेरी दृष्टि निर्मल हो। तेरे कर्ण सदुण व्याप्त हों, तेरा जो दुर्व्यवहार है वह दूर हो, जो तेरा विश्वास है वह पूर्ण हों। इस प्रकार तेरा समस्त व्यवहार शुद्ध हो। कठोपनिषद् के अनुसार उस काल में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख मिलता है।

१. परा विद्या - इसके अन्तर्गत वेद, पुराण, धर्म, दर्शन और उपनिषद् आदि आध्यात्मिक विषयों का समावेश था।

२. अपरा विद्या- इसके अन्तर्गत इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, औषधशास्त्र, भौतिकशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, रसायनशास्त्र, तर्कशास्त्र, धन, विद्या, शिल्प, विद्या, और कलादि अलौकिक विषय सम्मिलित थे।

१३ निरुक्त, अ. २

१४ निरुक्त, अ. २

१५ यजुर्वेद, ३०.३

शिक्षा का वैदिक आदर्श क्या है? यदि हम इस बात को जान पाएंगे तो बहुत विवाद शान्त हो जाएगा। उपनिषद् कालीन महर्षियों ने आदर्श शिक्षा कैसी होनी चाहिए इस विषय में कहा है कि

ॐ सह नावतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ (कठोपनिषद्)

अर्थात् परमेश्वर हम शिष्य और आचार्य दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों को साथ-साथ विद्या के फल का भोग कराए। हम दोनों एकसाथ मिलकर विद्या प्राप्ति का सामर्थ्य प्राप्त करें। हम दोनों का पढ़ा हुआ तेजस्वी हो। हम दोनों परस्पर द्वेष न करें। उक्त तरह की भावना रखने वाले का मन निर्मल रहता है। निर्मल मन से निर्मल भविष्य का उदय होता है।

इस मंत्र को विद्या अभ्यास के प्रारम्भ में गुरु शिष्य दोनों बोलते हैं। नौ शब्द का अर्थ द्विवचन है अर्थात् गुरु और शिष्य। अधीतम् शब्द का अर्थ है-विद्या स्वाध्याय जो कुछ हम पढ़ते या पढ़ाते हैं। इस मंत्र के अनुसार शिक्षा के पांच उद्देश्य हमारे सामने आते हैं। जिनमें प्रथम है- सहनावतु इसकी व्याख्या में ब्रह्मचर्य समाविष्ट है, क्योंकि बिना ब्रह्मचर्य के शरीर, मन, बुद्धि का समुचित विकास सम्भव नहीं है और इनके विकास के बिना आत्मरक्षा कैसे संभव है। सहनौभुनक्तु जहां जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सेवकों का उपयोग न हो, अपितु गुरु और शिष्य मिलकर अपने श्रम से भोजनाच्छादन की जरूरतें पूरी कर लेते हैं। सह वीर्यं करवावहै उस स्थिति का संकेत करता है, जब राष्ट्र में कोई नागरिक कायर और दुर्बल ना हो। तेजस्विनावधीतमस्तु इस बात को कहता है कि राष्ट्र के बच्चों को एसी शिक्षा दी जाए, जिससे छात्र में तेज एवं स्वाभिमान पैदा हो। मा विद्विषावहै वैदिक शिक्षा प्रणाली द्वेष भावना के स्थान पर पारस्परिक सहयोग महत्व देती है।

यही शिक्षा का वैदिक का उद्देश्य होना चाहिए। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखा जाए तो शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन के सम्बन्ध में दिशाहीनता की स्थिति समाप्त हो जाएगी और राष्ट्र के उद्धार के साथ-साथ विश्व की एकता के स्वप्न को यथार्थ के धरातल पर उतारा जा सकता है, तथा भारतीय ज्ञान परम्परा को पुनः स्थापित किया जा सकता है।

अष्टाध्यायी संरचना पद्धति का वैशिष्ट्य

प्रभात कुमार^१

प्रस्तावना- पाणिनि की अष्टाध्यायी अपनी अन्वाख्यान-पद्धति की अपूर्वता और विश्लेषण शैली के कारण अद्यावधि उपलब्ध मानव-मस्तिष्क की उपलब्धियों में सर्वोत्कृष्ट, सर्वातिशायी एवं सर्वप्रशंसित प्रमाणित हो चुकी है। आचार्य ने समकालीन भाषा का जितना क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अनुशासन अष्टाध्यायी में किया है उतना विश्व की किसी भी भाषा में दृष्टिगोचर नहीं होता है।

पाणिनि से पूर्व अनेक प्रतिभा सम्पन्न वैयाकरणों ने इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किये, जिनका उल्लेख स्वयं पाणिनि ने अपनी कृति में किया है, किन्तु उन वैयाकरणों की कृतियां आज हमें उपलब्ध नहीं हैं। पाणिनि से उत्तरवर्ती काल में भी चान्द्रव्याकरण प्रभृति ग्रन्थों की रचना हुई किन्तु ये ग्रन्थ एक सीमित स्थान में ही समाहित होकर रह गये। पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी एक ऐसा सम्पूर्ण व्याकरण ग्रन्थ है जिसने इससे पूर्ववर्ती व्याकरण ग्रन्थों को अपने में समाविष्ट कर लिया एवं उत्तरवर्ती रचनाओं के प्रयोजनों को भी गतार्थ कर लिया है। अपनी सर्वग्राहिता एवं समन्वयात्मक विशेषताओं के कारण पाणिनि की अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरण की सर्वाधिक प्रामाणिक कृति है। आचार्य पाणिनि ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से संस्कृत के अशेष शब्दभण्डार का अवलोकन कर सूत्रशैली में निबद्ध कर दिया। सूत्र अर्थात् धागे के समान लघुकाय होते हुए व्यापकता की दृष्टि से अनेक अर्थों को अपने अन्दर समाहित करने वाले ये पाणिनि के सूत्र विश्व साहित्य की अमूल्य निधि हैं। चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों से आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी का विशाल शब्द शिल्प निर्माण किया, अपने विलक्षण रचना कौशल और संयोजन के कारण आज भी पाणिनि का यह शास्त्र शब्दविद्या का उत्कृष्टतम निदर्शन कहा जाता है।

संस्कृत को अमरता प्रदान करने का श्रेय अष्टाध्यायी को है। अष्टाध्यायी के पश्चात् इसके सूत्रों पर कात्यायन ने वार्तिक तथा भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य लिखा तथा महाभाष्य के अनन्तर अनेक व्याख्या ग्रन्थ लिखे गए किन्तु इन ग्रन्थों में ऐसी कोई नवीन स्थापना अथवा भाषागत गवेषणा उपलब्ध नहीं होती है, जिसका अष्टाध्यायी में अभाव है। वस्तुतः शब्दशास्त्रीय विचारधाराओं और चिन्तन तथा दर्शन की यह गंगोत्री है, जिसकी प्रतिष्ठा युगों तक अक्षुण्ण रहेगी। इसीलिए तन्त्रवार्तिककार कहते हैं -

सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके। सूत्रं योनिरिहार्थानां सूत्रे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ (तन्त्रवार्तिक-२/३/१)

अष्टाध्यायी के रूप में आचार्य पाणिनि आज जिस रूप में साक्षात् होते हैं, वह वाग्योग की सहज समाधि का ध्यानगम्य तत्त्व है। प्रमाणभूत आचार्य ने प्राङ्मुख होकर साधना की तपोभूमि में स्थित समाहित चित्त से शब्दब्रह्म के साथ तदाकार होकर इस महनीय शास्त्र की सृष्टि की, इसका प्रत्यक्षर छन्दोवत् पवित्र एवं पुण्यकारी है। भारतवर्ष में व्याकरण विद्या को उत्तरा विद्या और वेदांगों में प्रधान माना गया है। अष्टाध्यायी की संरचना जिस

^१ सहायक आचार्य (संस्कृत वि भाग), डी. ए. वी. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बुलन्दशहर

पृष्ठभूमि पर की गई उसमें रचनाकार का अनन्त श्रम और तप निहित है। इस ग्रन्थ के रहस्य को हृदयंगम करने के लिए उसकी विशेषता की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

अष्टाध्यायी का वैशिष्ट्य

- **लाघवयुक्त लेखन पद्धति** - लाघव ही पाणिनि व्याकरण का मुख्य आधार है। भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अनन्त शब्दसागर लघुतम उपाय से अन्वाख्यान करने का एकमात्र साधन व्याकरण ही है।^२ प्राचीन काल में शब्दशास्त्र का प्रतिपदपाठ किया गया था, जिसमें बृहस्पति ने इन्द्र के लिए दैवी एक हजार वर्षों तक शब्दपरायण किया किन्तु समाप्त नहीं हुआ।^३ इस अनन्त शब्दराशि का व्याकरण लिखने का संकल्प आचार्य पाणिनि ने किया, जिसकी सिद्धि के लिए उन्होंने लगभग चार हजार सूत्रों में समग्र शब्दशास्त्र को निबद्ध कर दिया। वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के शब्दों का साधुत्व इस ग्रन्थ में है। शब्दों के अनन्त महासागर के सामने यह ग्रन्थ गोष्पद के समान ही है। इस संकल्पित विशाल कार्य का प्रारम्भ सूत्रकार ने 'उत्सर्ग - अपवादन्याय' से किया। भाष्यकार ने पाणिनि की योजना को शब्दरूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है - **शब्दानुशासनमिदानी कर्तव्यम्। तत्कथं कर्तव्यम्? किञ्चित्सामान्यविशेषलक्षणं प्रवर्त्यम्।**^४

सूत्रनिर्माण में लाघवता की रक्षा के लिए सूत्रकार ने विविध युक्तियों का प्रयोग किया है, जिन्हें हम निम्न रूप में देख सकते हैं -

अनुवृत्ति वैशिष्ट्य - आठ अध्यायों में तथा प्रत्येक अध्यायों में चार पादों के अन्तर्गत सूत्रों का उपदेश कर अष्टाध्यायी एक समग्र एवं अविभाज्य रूप में अध्येताओं के समक्ष अपना ताना बाना प्रस्तुत करती है। किसी भी सूत्र के स्पष्टार्थ बोध के लिए सूत्रपाठ में अनुवृत्ति के नियम का पालन करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ 'हलन्त्यम्' सूत्र में दो ही पद हैं, 'हल्' एवं 'अन्त्यम्'। पूर्व सूत्र 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'उपदेशे' एवं 'इत्' इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है। इन दोनों पदों का हलन्त्यम् के साथ अन्वय कर 'उपदेशे अन्त्यं हल् इत्' इस प्रकार सूत्र की वृत्ति बनती है। इसलिए आचार्यों ने कहा है सूतेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवृत्तनीयं सर्वत'। अनुवृत्ति नियम यह है कि जिस सूत्र में पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति करना अभीष्ट है उस सूत्र में उद्देश्य कोटि में जिस विभक्ति वाला पद होगा उस विभक्ति वाला पद पूर्व सूत्र से अनुवृत्त नहीं होता। जैसे- हलन्त्यम् में हल और अन्त्यम् दोनों प्रथमान्त उद्देश्य हैं अतः पूर्व सूत्र से (उपदेशेऽजनुनासिक इत्) अच् और अनुनासिक पदों की अनुवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ये भी प्रथमान्त उद्देश्य हैं। उपदेशे सप्तम्यन्त है और इत् प्रथमान्त होने पर भी विधेय कोटि का है, अतः इन दोनों की अनुवृत्ति हो जाती है। इस अनुवृत्ति के कारण अर्थात् सूत्र का क्रम स्मरण रखने के लिए, सूत्रपाठ को कण्ठस्थ करना आवश्यक होता है।

२ न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्याः विज्ञातुम् । महाभाष्य-पस्पशा

३ एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपरायणं प्रोवाच । नान्तं जगाम। महाभाष्य-पस्पशा

४ महाभाष्य-पस्पशा

सूत्र की वृत्ति में जिस प्रकार अनुवृत्ति सहायक होती है, उसी प्रकार परिभाषा सूत्र भी सहायता करते हैं। जैसे- सूत्र में पठित षष्ठी विभक्ति स्थान के साथ सम्बद्ध होकर अर्थ बोध कराती है।^५ उदाहरणार्थ 'इको यणचि' सूत्र में पठित 'इकः' पद की षष्ठी किसी सम्बन्ध विशेष का बोध नहीं कराती अपितु स्थाने पद से 'इकः स्थाने यण् स्यात्' यह अर्थ निश्चय कराती है।

अधिकार वैशिष्ट्य - सूत्रार्थ बोध का दूसरा महत्त्वपूर्ण आधार उसके अधिकार सूत्र हैं। अष्टाध्यायी के षड्विध सूत्र में अधिकार सूत्र अर्थ बोध प्रक्रिया में अत्यन्त सहायक हैं। अधिकार सूत्रों का प्रयोजन 'प्रतियोगं तस्यानिर्देशनार्थम्' कहकर भाष्यकार ने पाणिनि की लाघव युक्त रचना शैली की ओर संकेत किया है। एक अधिकार सूत्र के उदाहरण द्वारा पाणिनि की सर्वातिशायिनि मेधा का अनुमान लगाया जा सकता है। 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः'^६ सूत्र में 'रीश्वर' इस अनर्थक शब्द का उच्चारण किया है। यहां प्राग्रीश्वरान् भी कह सकते थे। 'अधिरीश्वरे'^७ सूत्र के 'रीश्वर' पद तक निपात संज्ञा का अधिकार सूत्रकार को अभीष्ट है। ईश्वर शब्द के पूर्व तक अर्थात् 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ'^८ सूत्र तक निपात का अधिकार करते तो 'कृन्मेजन्तः'^९ आदि निपात संज्ञा विधायक सूत्र व्यर्थ हो जाते।^{१०}

प्रत्याहार - पाणिनीय शास्त्र का प्राणतत्त्व प्रत्याहार है। चतुर्दश माहेश्वर सूत्र इन प्रत्याहारों के उपजीव्य हैं।^{११} विशाल शब्दशास्त्र को सारगर्भित समास शैली में प्रस्तुत करना प्रत्याहारों के रण ही सम्भव हुआ। माहेश्वर सूत्रों को आधार मानकर सूत्रकार ने उनमें अनुबन्धों की योजना की। इन अनुबन्धों के द्वारा प्रत्याहार का निर्माण हुआ। भाष्यकार ने 'किमर्थो वर्णानामुपदेशः' कहकर 'वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः' और 'अनुबन्धकरणार्थश्च' इन दो वार्तिकों को उद्धृत किया।^{१२} इसका तात्पर्य यही है कि वर्णों के उपदेश के दो प्रयोजन हैं- १. शास्त्रप्रवृत्ति, २. अनुबन्धों के लिए। अनुबन्धों का प्रयोजन प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए है। प्रत्याहारों की संकल्पना से शास्त्र प्रवृत्ति में लाघव की सिद्धि होती है।^{१३} इन माहेश्वर सूत्रों को प्रत्याहार सूत्र भी कहा जाता है। सूत्रकार ने इन चतुर्दश सूत्रों में निहित अनुबन्धों के द्वारा १ प्रत्याहारों का प्रयोग अष्टाध्यायी में किया है। प्रत्याहारों की सिद्धि के लिये 'आदिरन्त्येन सहेता'^{१४} सूत्र पठित है। प्रत्याहारों का यह विज्ञान अत्यन्त व्यावहारिक या लौकिक रीति के अनुकूल प्रतीत होता है। लोक में भी भाषा में संक्षिप्त अभिव्यक्ति के लिए कुछ इसी प्रकार का यत्न किया जाता है। जैसे निरुक्तकार कहते हैं 'अस्मिन् द्यवि' शब्दों के प्रथमाक्षर को लेकर 'अद्य' का प्रयोग होता है। लोक से शास्त्र में संक्षेपीकरण की

५ काशिका-१/१/५८

६ अष्टाध्यायी- १/४/५६

७ अष्टाध्यायी-१/४/९७

८ अष्टाध्यायी- ३/४/१३

९ अष्टाध्यायी-१/१/३९

१० रीश्वरादीश्वरान्माभूत् कृन्मेजन्तः परोऽपि सः । काशिका-१/४/५६

११ अ इ उ ण्। ऋ ल क्। ए ओ ङ्। ऐ औ च्। ह य व र ट्। लण्। ज म ङ ण न म्। झ भ ज्। घ ढ ध ष्। ज ब ग ङ द श्। ख फ छ

ठ थ च ट त व्। क प य्। श ष स र्। ह ल्। अष्टाध्यायी - प्रत्याहारसूत्र

१२ महाभाष्य-पस्पशा

१३ प्रत्याहारो लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थः । काशिका-अथ शब्दानुशासनम् पर

१४ अष्टाध्यायी-१/१/७१

प्रक्रिया में भेद यही था कि लोक में शब्दों के प्रथमाक्षर प्रयुक्त होते हैं, शास्त्र में प्रथम और अन्तिम। जैसे 'अ इ उ ण्' के लिए 'अण्'।

पर सूत्र की बलवत्ता - अष्टाध्यायी में प्रत्येक सूत्र का अपना विशिष्ट क्रम लाघव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। एक ही लक्ष्य में युगपत् दो अथवा दो से अधिक सूत्रों की प्रवृत्ति होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'^{१५} की व्याख्या के अनुसार पर सूत्र से कार्य होता है। जैसे वृक्षेभ्यः में 'सुपि च'^{१६} सूत्र से दीर्घ प्राप्त है तथा 'बहुवचने झल्येत्'^{१७} से अंग को एत्व भी प्राप्त है। अष्टाध्यायी सूत्रपाठ के क्रम में 'बहुवचने झल्येत्' सूत्र पर (बाद में) पठित होने से 'एत्व' ही होता है और अभीष्ट प्रयोग सिद्ध होता है। एक नियम के कारण अनेक निषेध सूत्रों का गौरव परिहार सम्भव हो गया।

कदाचित् लक्ष्य सिद्धि में पूर्व और पर सूत्रों में पर सूत्र का प्राधान्य बाधक सिद्ध हो जाता है। जैसे- वारीणाम् प्रयोग में वारि+आम् स्थिति में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्'^{१८} सूत्र से 'नट्' का आगम और 'इकोऽचि विभक्तौ'^{१९} सूत्र से नुम् आगम युगपत् प्राप्त होते हैं। यहां विप्रतिषेध न्याय की बलवत्ता मानने से नुम् आगम की प्रवृत्ति हो जायेगी, नुम् आगम होने पर 'नामि'^{२०} सूत्र से दीर्घ नहीं हो सकता और वारीणाम् की सिद्धि अवरुद्ध हो जायेगी। इसके समाधान के लिए भाष्यकार ने एक युक्ति प्रस्तुत की है। इसके अनुसार सूत्र पठित 'परम्' शब्द अनेकार्थक है, अतः कदाचित् उसका अभिप्राय 'इष्टम्' भी हो सकता है। इस स्थिति में 'विप्रतिषेधे परं यद् इष्टं तद्भवति'^{२१} यह विप्रतिषेधे परं कार्यम् सूत्र का तात्पर्य होता है।

पाणिनि की दृष्टि में पर सूत्र की बलवत्ता का अपवाद 'स्वरितेनाधिकारः'^{२२} सूत्र के आधार पर प्राप्त हो सकता है। स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलात् अधिक कार्य का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। इस नियम के अनुसार स्वरितत्व के कारण पूर्व सूत्र को प्रबलतर सिद्ध किया जा सकता है। इसे पूर्वविप्रतिषेध कहा जा सकता है। इस व्यवस्था से पूर्वविप्रतिषेधपरक अनेक वार्तिकों की अन्यथासिद्धि हो जाती है। जैसे- १. 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन'। २. गुणवृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन।

त्रिपादी व्यवस्था - विप्रतिषेधन्याय से पूर्व और पर सूत्रों में सामान्यतः पर सूत्र को बली सिद्ध करने के पश्चात् जहां अधिकांश सूत्रों के पूर्व सूत्र में बलीयस्त्व दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सभी सूत्रों को पाणिनि ने अष्टम अध्याय के त्रिपादी में न्यस्त कर दिया है। इन तीन पादों के प्रारम्भ में 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र का न्यास किया गया है। इस सूत्र के

१५ अष्टाध्यायी-१/४/२

१६ अष्टाध्यायी -७/३/१०२

१७ अष्टाध्यायी -७/३/१०३

१८ अष्टाध्यायी -७/१/५४

१९ अष्टाध्यायी -७/१/७३

२० अष्टाध्यायी - ६/४/३

२१ परशब्दोऽयं बह्वर्थः... । अस्तीष्टवाची परशब्दः । तद्यथा 'परं धाम गतः', इष्टं धाम गत इति गम्यते । तद् य इष्टवाची परशब्दस्येदं ग्रहणम्- विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति। महाभाष्य-१/४/२

२२ अष्टाध्यायी-१/३/११

बल से त्रिपादी के पूर्व (सपाद सप्ताध्याय में पठित) सूत्र की तथा त्रिपादी में पठित सूत्र की एक ही लक्ष्य में युगपत् प्रसक्ति हो तो पूर्व सूत्र ही बली होता है। त्रिपादी में पठित सूत्रों में कार्य निष्पादकता की दृष्टि से भी पूर्व सूत्र बली होता है और पर सूत्र दुर्बल। प्रकृत सूत्र में 'असिद्धम्' पद का विशेष प्रयोजन है। केवल पूर्व सूत्र को बली सिद्ध करना होता तो 'पूर्वकार्य' सूत्रारम्भ कर सकते थे किन्तु 'असिद्धम्' का तात्पर्य यह है कि यदि त्रिपादी के किसी सूत्र से कार्य सम्पन्न हो चुका है तो उस कार्य या विधि पर आधारित ऐसा कार्य नहीं हो सकता जो उस सूत्र से पूर्व में पठित सूत्र से प्राप्त है। वह पूर्व सूत्र चाहे सपादी का हो चाहे त्रिपादी का हो। उदाहरणार्थ 'हरे+इह' में 'एचोऽयवायावः' ^{२३} से एकार को अयादेश और 'लोपः शाकल्यस्य' ^{२४} से यलोप होकर 'हर इह' प्रयोग निष्पन्न होता है। यहां 'आद् गुणः' ^{२५} सूत्र से गुण की प्राप्ति है किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' द्वारा की गयी व्यवस्था के अनुसार 'आद् गुणः' की दृष्टि में 'यलोप' असिद्ध है अर्थात् य् यथावत् उपस्थित है। य् की उपस्थित गुण की प्रसक्ति की बाधिका है। सूत्र की विविध व्यवस्था को वृत्तिकारों ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है- 'सपादसप्ताध्यायी प्रति त्रिपाद्यसिद्धा। त्रिपाद्यामपि पूर्व प्रति परमसिद्धम्'। ^{२६}

षत्वतुकोरसिद्धः ^{२७} - षत्व अथवा तुकागम की कर्तव्यता में एकादेश शास्त्र को असिद्ध किया गया है। इस असिद्धता के दो उद्देश्य हैं- १. एकादेश के बाद प्राप्त कार्य की निवृत्ति होना। २. एकादेश के पूर्व स्थानी को प्राप्त कार्य की प्रवृत्ति होना। इस असिद्धता के कारण 'कोऽसिञ्चत्' आदि में षत्व की निवृत्ति एवं 'अधीत्य, प्रेत्य' में तुक् की प्रवृत्ति सिद्ध हो जाती है। 'आम्नाश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणीताः' न्याय का सर्वत्र प्रयोग लाघव की सिद्धि के लिए किया गया है।

असिद्धवदत्राभात् ^{२८} - सूत्र से समानाश्रय आभीय शास्त्र की कर्तव्यता में समानाश्रय आभीय शास्त्र को असिद्ध माना गया है। इस असिद्धता के द्वारा प्रयोग की सिद्धि में सम्भावित अनुपपत्तियों का निवारण हो जाता है अन्यथा एधि, शाधि' आदि प्रयोगों में 'अस्' को एत्व (घ्वसोरेद्भावभ्यासलोपश्च ^{२९}) 'शास्' को शा आदेश (शा हौ ^{३०}) करने के बाद 'हि' को धि आदेश की प्राप्ति नहीं हो सकती थी क्योंकि 'झलन्त अंग उपलब्ध नहीं थे। केवल इन आदेशों को असिद्ध करने से स्थानी सम्बन्धी कार्य (हि को धि आदेश) भी हो गए और अभीष्ट अंग (झलन्त) भी उपलब्ध हुआ।

२३ अष्टाध्यायी-६/१/७८

२४ अष्टाध्यायी-८/३/६९

२५ अष्टाध्यायी- ६/१/८७

२६ सिद्धान्तकौमुदी-५

२७ अष्टाध्यायी - ६/१/८६

२८ अष्टाध्यायी- ६/४/२२

२९ अष्टाध्यायी -६/४/११९

३० अष्टाध्यायी -६/४/३५

आ कडारादेका संज्ञा^{३१} - जहां दो भिन्न संज्ञाएं एक स्थल पर अभीष्ट नहीं हैं, उन सभी संज्ञाओं को कडाराधिकार में पढा गया है। यह अधिकार १//१ से लेकर आगामी तीन पादों तक २/ २/३८ तक चलता है। इस अधिकार के अन्तर्गत पठित संज्ञाओं में जो संज्ञा अभीष्ट है, वह नियमानुसार (परत्वादि नियम से) प्रवृत्त होती है।

अनुबन्ध योजना - अनुबन्ध से अभिप्राय 'इत्करण' ही है। अष्टाध्यायी में इत्संज्ञा प्रकरण अपना एक विशेष स्थान रखता है। इसे भी अष्टाध्यायी के सूत्रों का प्राणरूप कह सकते हैं। इसे तीन भागों में बांटा जा सकता है-

- प्रत्याहार में इत्त्व्यवस्था - प्रत्याहार सूत्रों में इत्करण के कारण शास्त्र में लघुता से प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे- अच् (सभी स्वर), हल् (सभी व्यंजन), अल् (सभी वर्ण) आदि। इसके कारण प्रत्येक वर्ण का पाठ नहीं करना पड़ता, जिससे सूत्र का स्वरूप अक्षुण्ण रहता है।
- धातुओं में इत्त्व्यवस्था- धातुओं में इत्करण के बहुत लाभ हैं। जैसे - अनुदात्तङित आत्मनेपदम्,^{३२} स्वरितङितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले,^{३३} एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्।^{३४}
- प्रत्ययों में इत्त्व्यवस्था - प्रत्ययों में भी इत्त्व्यवस्था का विधान किया गया है, जिससे कई प्रत्ययों में एक ही लक्षण से कार्य सम्पन्न हो जाता है, इससे भी शास्त्र में लाघवता आती है। जैसे- 'अचोऽङ्गिति'^{३५} सूत्र। इसका अर्थ है 'अजन्त अंग को वृद्धि हो जित् या णित् प्रत्यय के परे रहते'। अब यहां 'जित्' प्रत्यय के द्वारा 'ठञ्, कञ्, अञ्, इञ्' आदि सभी प्रत्ययों का ग्रहण हो जाता है।

सूत्रों के प्रकार - शास्त्रीय शब्दावली में सूत्रों के दो प्रकार हैं, एक 'सामान्य' दो 'विशेष'। ये दोनों क्रमशः 'उत्सर्ग' और 'अपवाद' कहे जाते हैं।^{३६} सूत्रों का यह विभाजन भी शास्त्र के सरल एवं सुगम बोध के लिए अत्यावश्यक है। भाषाशास्त्रियों ने अर्थबोध और प्रक्रिया निर्वाह की दृष्टि से इन सूत्रों को संज्ञा आदि छः वर्गों में वर्गीकृत किया है - संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अतिदेशोऽधिकारश्च च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥

(लघुशब्देन्दुशेखर-अभिनवचन्द्रिकाटीका-संज्ञाप्रकरण)

इन षोढा भेदों को निम्नानुसार परिभाषित किया जा सकता है -

संज्ञा सूत्र - जो सूत्र किसी वस्तु या पदार्थ की संज्ञा अथवा नामकरण करते हैं, वे संज्ञा सूत्र हैं (शक्तिनियामकत्वं संज्ञासूत्रत्वम्)। जैसे 'वृद्धिरादैच्'^{३७} सूत्र से 'आ, ऐ, औ' की वृद्धि संज्ञा होती है। संज्ञाओं के दो भेद हैं- १. कृत्रिम संज्ञा २. अकृत्रिम संज्ञा।

३१ अष्टाध्यायी-१/४/१

३२ अष्टाध्यायी-१/३/१२

३३ अष्टाध्यायी-१/३/७२

३४ अष्टाध्यायी-१/२/१०

३५ अष्टाध्यायी-१/२/११५

३६ किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम् । किं पुनस्तत् ? उत्सर्गापवादौ । महाभाष्य-पस्पशा

३७ अष्टाध्यायी -१/१/१

कृत्रिम संज्ञाएं लघु और निरर्थक होती हैं। जैसे 'टि, घु, भ' आदि। अकृत्रिम संज्ञाएं महती तथा अन्वर्थ होती हैं। जैसे- सर्वनाम, उपसर्जन आदि। अर्थात् अनेक अर्थों के अभिधान में समर्थ होने पर भी शब्दशक्ति का किसी विशेष अर्थ नियमन करना ही संज्ञाकरण है। वस्तुतः लाघव की सिद्धि के लिए कुछ सांकेतिक संज्ञाओं की कल्पना आवश्यक होती है, भाष्यकार के शब्दों में 'संज्ञा च नाम यतो न लघीयः, लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्'^{३८}।

परिभाषा सूत्र - विधि सूत्रों का स्पष्ट और निसन्दिग्ध अर्थ बोध के लिए अष्टाध्यायी में कतिपय परिभाषा सूत्रों का पाठ किया गया है। विधि सूत्रों की सहायता के साथ ही साथ अनियम की स्थिति में नियम का विधान करना परिभाषा का मुख्य काम है। इसीलिए काशिकार ने कहा है 'परिभाषेयं स्थानिनियमार्था, अनियमप्रसंगे नियमो विधीयते'^{३९} नागेश के अनुसार एकदेश में स्थित होकर सर्वत्र व्याप्त रहने वाली उक्ति ही परिभाषा है।^{४०} अधिकांश परिभाषा सूत्र अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में पठित हैं। कुछ अन्यत्र भी हैं। विधि सूत्रों के साथ इनका योग दो प्रकार से होता है। एक यथोद्देश पक्ष में परिभाषाएं अपने स्थान पर स्थित होकर विधि सूत्रों की उपकारक होती हैं। २. कार्यकाल पक्ष में जहां विधि सूत्रों के प्रदेश में इनकी आवश्यकता होती है वहां वे पहुंच जाती हैं। एकवाक्यता की दृष्टि से दोनों पक्षों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है क्योंकि किसी भी पक्ष में सूत्रों अध्याय पाद में परिवर्तन नहीं होता है। केवल यथोद्देश पक्ष में परिभाषा के प्रदेश में विधि सूत्रों का स्मरण होता है और कार्यकाल पक्ष में विधि प्रदेश में परिभाषाएं स्मरण की जाती हैं। इनमें विशेषता यही है कि कार्यकाल पक्ष में त्रिपादी के सूत्रों में भी परिभाषाओं का स्मरण हो सकता है। अन्यथा त्रिपादी असिद्ध होने से सपाद सप्ताध्यायी की परिभाषाओं की प्रवृत्ति में आपत्ति हो सकती थी- 'कार्यकालपक्षे तु त्रिपाद्यामप्युपस्थितिरिति विशेषः'^{४१}

विधि सूत्र - अप्राप्त कार्य का विधान करने वाले सूत्र विधि सूत्र हैं- 'विधिरत्यन्तमप्राप्त....'^{४२} गुण, वृद्धि, लोप, सम्प्रसारण आदि किसी भी कार्य का विधान करने वाले सूत्रों को विधि सूत्र कहा जाता है। जैसे- 'आद् गुणः, वृद्धिरेचि, तस्य लोपः' इत्यादि। ये विधि सूत्र लक्ष्य सिद्धि में साक्षात् उपकारक होते हैं। इसलिए 'साक्षाल्लक्ष्यसंस्कारकसाधुत्वप्रकारकबोधजनकत्वं विधित्वम्' कहा जाता है। विधि सूत्र दो प्रकार के होते हैं- उत्सर्ग एवं अपवाद। उत्सर्ग सूत्रों द्वारा सामान्य रूप से किसी कार्य का विधान किया जाता है। जैसे 'कर्मण्यण्'^{४३} सूत्र से 'कर्म उपपद पूर्वक किसी भी धातु से अण् प्रत्यय का विधान है'। 'आतोऽनुपसर्गे कः'^{४४} के द्वारा सामान्य विधान का अपवाद कहा गया है, इसके अनुसार 'उपसर्गरहित आकारान्त धातु से अण् नहीं होता अपितु क प्रत्यय होता है'। निषेध सूत्रों को भी सामान्य बाधक होने से अपवाद के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है।

३८ महाभाष्य - १/१/२३

३९ काशिका- १/१/३

४० एकदेशस्थिता शास्त्रभवेन याति दीपताम्। परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते। महाभाष्य उद्योत- २/२/१

४१ परिभाषेन्दुशेखर-२-३

४२ तन्त्रवार्तिक - १/२३४

४३ अष्टाध्यायी - ३/२/१

४४ अष्टाध्यायी - ३/२/३

नियम सूत्र - एक विधि सूत्र के द्वारा किसी कार्य का विधान होने पर यदि दूसरा सूत्र किसी कारणवश पुनः उसी कार्य का विधान करता है तो वह नियम सूत्र कहा जाता है। इसलिए 'नियमः पाक्षिके सति'^{४५} तथा अन्यनिवृत्तिफलकत्वे सति सिद्धार्थप्रतिपादकत्वम् नियमसूत्रत्वम् कहा गया है। उदाहरणार्थ 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' नियम सूत्र है। किसी प्रसंग में पूर्व शास्त्र से कार्य प्राप्त है और पर शास्त्र से भी प्राप्त है, इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से पर सूत्र को कार्य हेतु नियमित किया गया। जैसे- 'वृक्षेभ्यः' प्रयोग में वृक्ष+भ्यस् इस स्थिति में 'सुपि च'^{४६} से दीर्घ और 'बहुवचने झल्येत्'^{४७} से एत्व प्राप्त होता है। इनमें एत्व कार्य पर सूत्र से विहित है अतः विप्रतिषेधे परं कार्यम् के अनुसार एत्व ही होता है और 'वृक्षेभ्यः' की सिद्धि होती है।

अतिदेश सूत्र - सामान्यतः जो जैसा नहीं उसे वैसा मान लेना अतिदेश है। आप्टे कोश के अनुसार 'अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगादेशः' अर्थात् अन्य धर्म का अन्यत्र आरोपण करना ही अतिदेश है। उदाहरणार्थ 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'^{४८} सूत्र से आदेश को स्थानिवत् माना जाता है, अल्विधि न हो तो। यह अतिदेश सूत्र है। लोक में यह देखा जाता है कि गुरु कि अनुपस्थिति में गुरुपुत्र को गुरुवत् मानकर पूज्य माना जाता है। शास्त्र में भी अनेक बार यह प्रवृत्ति देखी जाती है। इसे अतिदेश सूत्रों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। अतिदेश सूत्रों का प्रयोजन भी मुख्यतः लाघव की सिद्धि ही है। 'गाङ्कुटादिभ्योऽणिन् डित्'^{४९} सूत्र से निरन्तर 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च'^{५०} तक अतिदेश सूत्रों का पाठ है, कहीं डित्व का अतिदेश है तो कहीं कित्व का। यद्यपि सर्वत्र अतिदेश सूचक 'वत्' का उल्लेख नहीं है तथापि सूत्रकार का आशय डित् से 'डितवत्' और कित् से 'कितवत्' है। लोक में भी इस प्रकार अभेदोपचार के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे 'यह भीम है', ऐसा कहने पर 'यह भीम के समान है' ऐसा बोध होता है। शास्त्र में भी इसीप्रकार समझना चाहिए।

अधिकार सूत्र - 'स्वदेशे वाक्यार्थशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधकत्वम् अधिकारकत्वम्', अर्थात् अपने स्थान पर वाक्यार्थ बोध न होने पर अन्य सूत्रों के स्थान पर वाक्यार्थ बोध कराने वाले सूत्र को अधिकार सूत्र कहते हैं। सामान्यतः अष्टाध्यायी का प्रत्येक सूत्र या उससे विहित कार्य एक विशिष्ट अधिकार क्षेत्र में आबद्ध है। जैसे 'धातोः'^{५१} के अधिकार में विहित सभी प्रत्यय धातु से ही विहित होंगे। प्रत्येक सूत्र में धातोः- धातोः कहने की आवश्यकता नहीं रहती। अधिकार के सामर्थ्य से लाघव की सिद्धि हो जाती है। 'समर्थः पदविधिः' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं- 'अधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थं इति योगे योग उपतिष्ठते'^{५२}। अधिकार को भाष्यकार ने तीन प्रकार का माना है -

४५ तन्त्रवात्तिक- १/२३४

४६ अष्टाध्यायी-७/३/११४

४७ अष्टाध्यायी-७/३/११५

४८ अष्टाध्यायी - १/१/५६

४९ अष्टाध्यायी- १/२/१

५० अष्टाध्यायी- १/२/२६

५१ अष्टाध्यायी- ३/१/९१

५२ महाभाष्य- २/१/१

१. जो एक स्थान पर पठित होकर सारे शास्त्र को व्याप्त करता है।^{५३} जैसे 'समर्थः पदविधिः'^{५४}
२. दूसरा अधिकार अनुवृत्ति रूप होता है, जो 'चकार' के द्वारा अनुकर्षित होता है।^{५५} जैसे - 'क्विडिति च'^{५६}।
३. तृतीयाधिकार स्वरितत्व के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। 'स्वरितेनाधिकारः'^{५७} सूत्र के अनुसार स्वरित चिह्न से युक्त शब्द को अभीष्ट सूत्रों तक अधिकृत माना जाता है। स्वरितत्व के बल से वह शब्द स्वयं ही उपस्थित हो जाता है। जैसे- 'प्रत्ययः, परश्च'^{५८}।

उपसंहार-

पाणिनि से पूर्व किसी समय में सम्भवतः शब्दों का प्रतिपदपाठ होता था। इसके आधार पर शब्द पारायण आदि व्याकरण ग्रन्थों की रचना हुई थी। शब्द ज्ञान की यह शैली किसी भी दृष्टि से उपादेय नहीं थी क्योंकि इसमें लाघव नहीं था। अतः आचार्य पाणिनि का सूत्रात्मक शैली में ग्रन्थ प्रणयन का मुख्य उद्देश्य संक्षेपीकरण ही रहा है। संक्षेप से ही कंठस्थीकरण के द्वारा शास्त्रों का ज्ञान एवं सुरक्षा सम्भव थी। इसी के परिणामस्वरूप सूत्र व्याकरण का पर्याय बन गया और पाणिनि की संज्ञा सूत्रकार हो गई।

संक्षेपीकरण के लिए जिन विधियों का आश्रय लिया गया। ये एक-एक विधि एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का आकार ले सकते हैं। अतः उन विधियों को प्रस्तुत लेख में दर्शाने का लघुप्रयास मात्र किया गया है।

५३ कश्चित् एकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति, यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्मभिज्वलयति। महाभाष्य - १/१/४९

५४ अष्टाध्यायी-२/१/१

५५ अपरोऽधिकारो यथा रज्जायसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते तद्वदनुकृष्यते चकारेण । महाभाष्य- १/१/४९

५६ अष्टाध्यायी - १/१/५

५७ अष्टाध्यायी-१/३/११

५८ अष्टाध्यायी-३/१/१-२

विद्यालय शिक्षा में नैतिक मूल्यों की आवश्यकता

डॉ. संदीप कुमार उपाध्याय^१

शोधसारांश- प्रतियोगिता के इस दौर में विद्यालय, शिक्षक, अभिभावक व छात्र का पूर्ण अवधान एक लक्ष्य निर्धारण कर उसकी सिद्धि में लगा रहता है, यह आवश्यक भी है। कुछ शोध बताते हैं कि ऐसा देखने में आता है कि यदि छात्र या छात्रा अध्ययन में अच्छे हैं अथवा परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त कर रहे हैं तो अभिभावक अथवा शिक्षक उस छात्र या छात्रा में पल्लवित-पुष्पित हो रहे अवगुणों को जानते हुए भी अनदेखा कर देते हैं। क्या यह उचित है ? हम सभी जानते हैं कि यह अनुचित है तथापि हम अपने बच्चों की त्रुटियों को सुधारने का प्रयास नहीं करते अथवा अनदेखा कर देते हैं। परिणाम ! छात्र साक्षर तो हो जाता है परन्तु शिक्षित नहीं हो पाता व जब वह सामाजिक जीवन में कार्य कर रहा होता है बहुत अच्छी आय होने पर भी छात्र जीवन में संकलित अवगुण के कारण वह अपने कार्यस्थल पर अनुचित व्यवहार, अनुचित प्रकार से धन संग्रहण आदि में लिप्त पाया जाता है। अतः इस प्रकार की समस्याओं को समझने व निस्तारण हेतु इस लेख में हम विद्यालयीन शिक्षा में नैतिक मूल्यों की आवश्यकता पर विचार-विमर्श करेंगे।

शब्द-संकेत - विद्यालय शिक्षा , नैतिक मूल्य , पारिवारिक परिवेश , जीवन मूल्य , दैनिक जीवन, मानसिक परिवर्तन , आयुवर्ग।

१ परिचय - कहा जाता है कि बालक मन एक कच्चे घड़े के समान होता है। जिस प्रकार कच्चे घड़े को जिस प्रकार का आकार अथवा उस पर जिस प्रकार की रेखाएं खींच दी जाती हैं पकने पर वह घडा उसी आकार व रेखाओं के साथ जब तक टूटता नहीं तब तक वैसा ही रहता है। उसी प्रकार विद्यार्थी काल में छात्र अपने जीवन में जिस भी प्रकार के गुणों को धारण करता है उन्ही गुणों को लेकर वह आगे बढ़ता है। विद्यार्थी काल मानव जीवन के १०० वर्षीय जीवनचक्र का आधार है। यदि इस मानव जीवन रूपी नींव की आधारशिला ही कमजोर होगी तो मानवजीवन रूपी भवन १०० वर्षों तक कैसे स्थिर खडा हो पाएगा?

विद्या ददाति विनयं, विनयात् याति पात्रताम्। पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥^२

इस श्लोक में बताया गया है कि विद्या केवल धन प्राप्ति का साधन मात्र नहीं है अपितु विद्या सबसे पहले हमें विनम्रता देती है, उसी विनम्रता से हम योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, योग्यता के कारण ही हम धनार्जन करते हैं, उस प्राप्त धन से हम धर्म के कार्य करते हैं व अच्छे कार्य करने पर ही हमें सुख की

१ डी.ए.वी पब्लिक स्कूल राजेन्द्र नगर साहिबाबाद, गाजियाबाद उत्तर प्रदेश, E-Mail : sandeepdoc18@gmail.com

दूरभाष- ९८९९८७५१३०

२ Author's Name- नारायण पंडित, Name of the Book -हितोपदेश Name of Publisher-निर्णय सागर मुद्रणालय
the City of Publication- मुंबई Year of Publication-१९४४ and Page number/s. पृष्ठ संख्या २ श्लोक संख्या ६
<https://epustakalay.com/writer/82696-narayan-pandit/>

प्राप्ति होती है। वास्तव में विद्या का परम लक्ष्य तो सुख की प्राप्ति ही है। यदि धन है व जीवन में सुख नहीं तो उस धन का क्या लाभ ?

२ कार्यपद्धति -

प्रस्तुत शोध पत्र में बदलते वर्तमान परिवेश में नैतिक मूल्यों का छात्र जीवन में समावेश क्यों आवश्यक है ? इस पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। जिसको हम विभिन्न भागों में अध्ययन कर सकते हैं।

२.१ शोध का प्रारूप-

शोध पत्र के प्रारूप के अंतर्गत यह सुनिश्चित किया गया है कि १२ वर्ष से १५ वर्ष तक आयु वर्ग के छात्र छात्राओं का मानसिक विकास होने में वह किन-किन अवस्थाओं से गुजरता है व उस आयु में उसका चिंतन किस प्रकार का होता है? यह बहुत आवश्यक है कि इस अवस्था में छात्र सुसंगती का ही चयन करें क्योंकि कहा भी गया है-

जाड्यं धियो हरति संचति वाचि सत्यं, मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं, सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

अर्थात् सत्संगति के कारण बुद्धि की जड़ता (मूर्खता) दूर हो जाती है, वाणी में सत्य का संचार होता है, मान और उन्नति को बढ़ाती है और पाप से मुक्ति मिलती है। चित्त प्रसन्न रहता है और हमारी कीर्ति भी सभी दिशाओं में फैलती है। सत्संगतिः मनुष्यों हर प्रकार से भला ही करती है।^३

शोध पत्र अध्ययन का विषय छात्रों में नैतिक मूल्यों का वर्धन करना है। इस प्रकार हम इस पत्र में छात्रों के नैतिक मूल्यों के विकास के साथ-साथ उनके अवस्था के अनुसार मानसिक परिवर्तनों का अध्ययन भी कर सकेंगे।

२.२ शोध अध्ययन के विषय -

छात्रों में नैतिक मूल्यों का समावेश हो यह जानने के लिए हमने सर्वप्रथम अपने विद्यालय डीएवी पब्लिक स्कूल राजेंद्र नगर साहिबाबाद में ४ शिक्षकों की एक टोली का निर्माण किया जिसमें दो महिला शिक्षक व दो पुरुष शिक्षक सम्मिलित थे। हमारे विद्यालय में प्रतिदिन नैतिक मूल्यों के समावेश को लेकर दैनिक यज्ञ, दैनिक ईश्वर प्रार्थना व नैतिक शिक्षा विषय को पढ़ाया भी जाता है। समय-समय पर लिखित मूल्यांकन भी होता है व पाठ्य योजना के अनुसार मौखिक चर्चाएं भी होती हैं परंतु शोध की दृष्टि से इन सब का मूल्यांकन करना अत्यंत आवश्यक था। छात्रों में नैतिक मूल्यों का समावेश हो रहा है अथवा नहीं इस हेतु हमने १२ वर्ष आयु वर्ग से लेकर १५ वर्ष आयु वर्ग के छात्र छात्राओं को चिह्नित किया। मौखिक रूप से हमने छात्रों से सामान्य प्रश्न ही पूछे जैसे क्या वे प्रातः उठकर माता-पिता को प्रणाम करते हैं ? क्या वे

३ Author's Name- भर्तृहरि, Name of the Book-नीतिशतक Name of Publisher- धर्म दिवाकर प्रेस the City of Publication- मुरादाबाद Year of Publication-१९९० and Page number/s. पृष्ठ संख्या ३१ श्लोक संख्या २३

<https://epustakalay.com/writer/२४-bharthari/>

घर के कार्यों को करने में सहयोग देते हैं? क्या वे घर पर संध्या वंदन आदि करते हैं ? क्या वे घर में अपने छोटे भाई बहनों को पढ़ाते हैं? क्या वे वर्ष भर में किसी न किसी रूप में दूसरों की सहायता करते हैं? इस प्रकार के लगभग २० प्रश्न मौखिक रूप से छात्रों से पूछे गए थे। इसी प्रकार छात्रों को विश्वास में लेकर हमने एक छोटे से कार्य पत्र का निर्माण भी किया था उसमें भी लगभग २० प्रश्नों को रखा गया था। जैसे वे दिन भर में कितना समय फोन का प्रयोग करते हैं? व उसमें किस किस प्रकार की विषयवस्तु को खोजते हैं ? क्या ऑनलाइन कक्षा के दौरान वे वीडियो गेम भी देखते थे? क्या गुस्सा आने पर वे अपशब्दों का प्रयोग करते हैं? क्या वे अपने मन की सभी बातों को अपने अभिभावकों से बताते हैं? क्या आपने अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया है? हमें बड़ों का सम्मान क्यों करना चाहिए? आप एकल परिवार में रहना पसंद करते हैं या संयुक्त परिवार में? और क्यों?

किस प्रकार का शोध करते हुए आवश्यकतानुसार छात्र अपनी पहचान गोपनीय रख सकते थे यह उनकी इच्छा पर निर्धारित था।

२.३ दत्तसामग्री का संग्रह व अनुसंधान उपकरण का प्रयोग -

प्रस्तुत शोध को करते समय कक्षा ७ व ८ के विद्यार्थियों का चयन किया गया क्योंकि यह एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें छात्र का मानसिक विकास न तो युवावस्था को प्राप्त हुआ होता है और न ही बाल्यावस्था में होता है बल्कि यह एक ऐसा समय होता है जब बच्चा बाल्यावस्था से युवावस्था में प्रवेश कर रहा होता है। देखने में आया है कि इस समय छात्रों में मानसिक परिवर्तन होते हैं। यही वह समय होता है जब छात्रों में सामूहिक मित्रता के साथ-साथ एकल मित्रता के भाव भी जागृत होने लगते हैं। वह अपने आप को बड़ा महसूस करने लगते हैं। यह भी देखा गया है कि इस अवस्था के छात्र अपने शिक्षक अथवा अभिभावकों से झूठ भी बोलने लगते हैं व उन्हें गुमराह करने की कोशिश भी करते हैं। सर्वप्रथम इस आयु समूह के लगभग ६०० छात्र छात्राओं का चयन किया गया व शोध प्रक्रिया को पूर्ण करने में २० से २५ दिन का समय लगा। चारों शिक्षकों जिसमें दो महिलाएं व दो पुरुष सम्मिलित थे ने अपने अपने स्तर पर सभी कक्षाओं में पहले सामूहिक चर्चाएं की व उन चर्चाओं के निष्कर्ष के आधार पर हर कक्षा से लगभग १०-१० छात्रों का चयन किया। पुनः छात्रों को एक कार्य पत्र दिया गया व जिसमें जीवन मूल्यों पर आधारित २० प्रश्न दिए गए थे। जिसका सभी चयनित १२० छात्रों ने उत्तर दिया। चारों शिक्षकों द्वारा छात्रों द्वारा दिए गए उत्तरों का मूल्यांकन किया गया व जिन छात्रों में नैतिक मूल्यों का अभाव दिखाई दिया पुनः उन सभी छात्रों से एक-एक करके व्यक्तिगत रूप से विचार विमर्श किया गया। उनकी मानसिक अवस्था को जानने का प्रयास किया गया।

२.४ प्रदत्त सामग्री का विश्लेषण-

प्रस्तुत शोध के लेखक द्वारा छात्रों के नैतिक स्तर का मूल्यांकन करने के लिए उनको आयु वर्ग के अनुसार विभिन्न वर्गों में बांटा गया था जिसमें वर्गीकरण प्रणाली का प्रयोग किया गया था। छात्रों का मूल्यांकन करने के लिए अध्यापकों की एक टोली का निर्माण किया गया था। छात्राओं से बात करने के लिए विशेष कर महिला अध्यापिकाओं का चयन किया गया व छात्रों से वार्तालाप करने के लिए पुरुष अध्यापकों का चयन

किया गया था जिससे छात्र खुलकर अपनी बातों को शिक्षक के सम्मुख रख सकें। वातावरण को अनुकूलित बनाने के लिए छात्रों से समूह में चर्चा की गई थी। पुनः छात्रों का मूल्यांकन एक कार्य पत्र के माध्यम से भी किया गया था। छात्रों के कार्य पत्र का मूल्यांकन शिक्षकों द्वारा किया गया व मूल्यांकन के आधार पर जिन छात्रों में नैतिक मूल्यों का अभाव दिखाई दिया उन छात्रों से व्यक्तिगत रूप से शिक्षकों द्वारा विचार विमर्श किया गया था।

३. परिणाम-

छात्रों के लिखित व मौखिक मूल्यांकन के पश्चात जब छात्रों से व्यक्तिगत रूप से परिचर्चा की गई तो पाये गया कि छात्रों में नैतिक मूल्यों के अभाव का कारण उनका पारिवारिक परिवेश रहा है। छात्रों ने बताया कि अक्सर उनके माता-पिता के बीच में झगड़ा होता है व अपशब्दों का प्रयोग भी होता है जिसका प्रभाव उनके ऊपर भी पड़ता है और वास्तव में यह सत्य तथ्य है कि छात्रों की प्रथम पाठशाला उसका घर ही होता है वह अपने घर में जैसा दिखता है जैसा सुनता है वैसा ही वह व्यवहार भी करता है। कहा भी गया है -

न कोई किसी का मित्र होता है, न कोई किसी का शत्रु। व्यवहार से ही मित्र या शत्रु बनते हैं।^४

कुछ छात्रों ने बताया कि उनके मित्रों का समूह अच्छे स्तर का नहीं है जिसके कारण उनमें भी कुछ अवगुणों का समावेश हो गया है। कुछ छात्रों ने बताया कि उनका विपरीत लिंग की ओर आकर्षण बढ़ रहा है लड़कों का लड़कियों की ओर व लड़कियों का लड़कों की ओर। देखा भी गया है कि यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है की इस अवस्था में छात्रों का विपरीत लिंग की ओर आकर्षण बढ़ता ही है जिसके कारण उनको अध्ययन करने में भी कठिनाई का सामना होता है। इस समय छात्रों को सबसे ज्यादा अपने अभिभावक व शिक्षकों की आवश्यकता होती है क्योंकि यही वह समय होता है जब छात्र सही व गलत का निर्णय नहीं कर पाते इसलिए आवश्यक है कि इस आयु वर्ग के साथ अभिभावक व शिक्षकों का उन्मुक्त मनसे विचार-विमर्श हो। छात्र अपने मन की बातों को तभी अपने अभिभावक व शिक्षकों के सामने रख पाएगा जब वह सहज होगा और छात्रों को सहज करने का दायित्व अभिभावक व शिक्षकों का ही है। छोटी-छोटी गलतियों पर बार-बार छात्रों को डांटना नहीं चाहिए। विभिन्न अध्ययनों में पाया गया है कि जो अभिभावक अथवा शिक्षक छात्रों से प्रेम पूर्वक व्यवहार करते हैं छात्र उनकी बातों को अधिक सम्मान देते हैं। एक कक्षा नौ के छात्र ने बताया कि जब वह पढ़ता है तो उसे अक्सर कक्षा में पढ़ने वाली एक छात्रा का ख्याल आता है मैं उसके प्रति आकर्षित हूँ। उस छात्र ने यह भी बताया कि एक अध्यापक की सहायता से वह इस अवस्था से

४ न कश्चित् कस्यचित् मित्रं न कश्चिद् कस्यचित् रिपुः। व्यवहारेण जायन्ते, मित्राणि रिपवस्तथा।। हितोदेशः।।

गुजरने में सहयोग प्राप्त कर रहा है। छात्र ने बताया कि अध्यापक के द्वारा बताया गया है कि वह सामान्य रूप से कक्षा में उस छात्रा से भी बात करें जैसे वह अन्य छात्राओं से बात करता है व अध्यापक के द्वारा समझाया गया कि यह एक स्वाभाविक आकर्षण होता है और यह सब के साथ होता है। परंतु हर कार्य को सकारात्मक दृष्टिकोण के साथ किया जाए तो वह कभी भी हमारे अध्ययन में बाधक नहीं होता अपितु साधक ही होता है। निश्चित रूप से हम यह कह सकते हैं कि जब इस प्रकार के शोध किए जाते हैं तब हमें वास्तविकता का पता चलता है कि अध्ययन के साथ-साथ छात्रों में नैतिक मूल्यों की भी परम आवश्यकता है। तभी एक स्वस्थ समाज व स्वस्थ मानसिकता के राष्ट्र का निर्माण संभव हो सकता है। इस प्रकार के प्रयोगों के माध्यम से हम उन छात्रों को भी चिह्नित कर सकते हैं जिनके कारण विद्यालय में अनुशासनहीनता का वातावरण दिखाई देता है व उचित परामर्श द्वारा उन छात्रों के मानसिक परिवर्तनों को समझते हुए उन्हें सही दिशा निर्देश भी प्रदान किए जा सकते हैं।

३.१ चर्चा-

‘विद्यालयों में नैतिक मूल्यों की आवश्यकता’ इस प्रकार के विषयों पर चर्चाएं तो बहुत होती हैं परंतु विद्यालयों में इनका क्रियान्वयन बहुत ही मुश्किल से देखने में आता है। क्योंकि विद्यालय प्रशासन पर अभिभावकों का दबाव रहता है कि विद्यालय उनके बच्चों को अच्छे अंक दिलाने में सक्षम हो। इस कारण से कई बार विद्यालयों का ध्यान अकादमिक गतिविधियों पर ज्यादा रहता है व विद्यालय का ९०% समय पाठ्यक्रम को पूरा कराने, शिक्षा विभाग द्वारा प्रेषित गतिविधियों को पूरा कराने, विद्यालय द्वारा पूर्व में निर्मित अकादमिक कैलेंडर को पूरा करने में ही पूर्ण हो जाता है। जब हम इस तरह के विषयों को लेकर शोध करते हैं तो छात्र समूह के बीच में नैतिक मूल्यों की बातों को रखना तो बहुत आसान होता है। छात्र उसको ध्यानपूर्वक सुनते भी हैं। व संभव है कि कुछ छात्र उनमें से कुछ बातों को अपने जीवन में धारण भी करते होंगे परंतु सबसे बड़ी समस्या तब आती है जब छात्र अपने मन में हो रहे परिवर्तनों को शिक्षक के सम्मुख रखने में डर को महसूस करते हैं अथवा अपने मन की बातों को बताने में असहज दिखाई देते हैं। अतः हम इस प्रकार के शोध दो- चार या १० दिनों में पूरा नहीं कर सकते। हो सकता है अच्छे परिणाम पाने के लिए यह शोध हमें ४ से ५ महीने भी करना पड़े क्योंकि छात्र को धीरे धीरे ही अपने विश्वास में लिया जा सकता है व जब छात्र को लगने लगता है कि हां शिक्षक मेरे विषय में सही सोच विचार रखते हैं तभी वह अपने मन की बातों को शिक्षकों के सम्मुख रख पाता है। जब हम पारिवारिक दृष्टि से इस पर विचार विमर्श करते हैं तो पाते हैं कि बहुत से परिवारों में माता-पिता दोनों ही नौकरी करते हैं ऐसे में छात्र के दिग्भ्रमित होने की संभावनाएं और भी बढ़ जाती हैं व अभिभावक व शिक्षकों का दायित्व अधिक बढ़ जाता है ऐसे में छात्रों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है क्योंकि माता पिता के साथ कम समय व्यतीत करने के कारण छात्र अपना अधिक समय मोबाइल, टीवी अथवा अपने सहपाठियों के साथ अथवा पास पड़ोस के बच्चों के साथ ही व्यतीत करता है ऐसे में छात्र शिक्षा से विमुख हो सकता है। इस प्रकार के छात्रों के साथ निरंतर संप्रेषण की आवश्यकता रहती है। यही वह अवस्था होती है जब छात्रों को सही मार्गदर्शन, वात्सल्य, स्नेह व प्रेम की आवश्यकता होती है वह इसे ही अपने शिक्षकों, अभिभावकों व सहपाठियों में ढूंढता है इसे वह जहां भी प्राप्त हो जाता है उसी के साथ उनका लगाव बढ़ जाता है। ऐसे में शिक्षकों को चाहिए कि वह

मनोवैज्ञानिक रीति से छात्रों के मुख- मंडल को देखकर उसको समझने का प्रयास करें यदि छात्र लिखित अथवा मौखिक कार्य नहीं कर पा रहा है तो उसको जानने का प्रयास करना चाहिए। यदि छात्र परेशान दिखाई दे तो शिक्षक का कर्तव्य बनता है कि वह उसे एक अभिभावक का एहसास दिलाए। छात्र को लगे कि जिस प्रकार से घर में उसके माता-पिता उसका ध्यान रखते हैं उसी प्रकार शिक्षक भी विद्यालय में उसका ध्यान रखें। ऐसा करने पर छात्र निश्चित रूप से उन्नति को प्राप्त होता है। शिक्षक व अभिभावकों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हम केवल एक छात्र में ही नैतिक मूल्यों का संचार नहीं कर रहे हैं अपितु हम एक भावी समाज व राष्ट्र का निर्माण भी कर रहे हैं हम कक्षा-कक्ष में जिस प्रकार के नैतिक मूल्यों का संप्रेषण छात्रों में करेंगे उसी का दिग्दर्शन भविष्य में हमें समाज व राष्ट्र में दिखाई देगा। हमें छात्रों को छोटी-छोटी बातों से अवगत कराना चाहिए। जैसे- जो व्यक्ति सुशील और विनम्र होते हैं, बड़ों का अभिवादन व सम्मान करने वाले होते हैं तथा अपने बुजुर्गों की सेवा करने वाले होते हैं। उनकी आयु, विद्या, कीर्ति और बल इन चारों में वृद्धि होती है।^५

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः। न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥^६

परिश्रम से ही कार्य पूरे होते हैं, केवल इच्छा करने से नहीं। जैसे सोये हुए सिंह के मुख में हिरण स्वयं प्रवेश नहीं करता अपितु सिंह को स्वयं ही प्रयास करना पड़ता है।

प्रदोषे दीपकः चन्द्रः, प्रभाते दीपकः रविः। त्रैलोक्ये दीपकः धर्मः, सुपुत्रः कुलदीपकः॥^७

संध्या-काल मे चंद्रमा दीपक है, प्रातः काल में सूर्य दीपक है, तीनों लोकों में धर्म दीपक है और सुपुत्र कुल का दीपक है।

प्रियवाक्य प्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः। तस्मात् तदैव वक्तव्यम वचने का दरिद्रता॥^८

५ अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

Author's Name- स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती (टीकाकार), Name of the Book -मनुस्मृति Name of Publisher- पुस्तक मंदिर the City of Publication- मथुरा Year of Publication-१९६२ (सम्बत २०१९) and Page number/s. पृष्ठ संख्या ५४ श्लोक संख्या २/१२१

<https://epustakalay.com/writer/२९८६०-darshanaand-saraswati/>

६ Author's Name- नारायण पंडित, Name of the Book -हितोपदेश Name of Publisher-गोपाल नारायण & co the City of Publication- मुंबई Year of Publication-१९२४ and Page number/s. पृष्ठ संख्या ४ श्लोक संख्या ३६

७ Author's Name- काशीनाथ शर्मा Name of the Book -सुभाषितरत्नभाण्डागारम् Name of Publisher-निर्णयसागर मुद्रणालय the City of Publication- मुंबई Year of Publication-१८९१ and Page number/s. पृष्ठ संख्या २४४ श्लोक संख्या २१५

<https://epustakalay.com/writer/२९०६७-kashinath-sharma/>

प्रिय वाक्य बोलने से सभी प्राणी संतुष्ट हो जाते हैं, अतः प्रिय वचन ही बोलने चाहिए। ऐसे वचन बोलने में कंजूसी कैसी।

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छाया समन्वितः। यदि देवाद फलं नास्ति, छाया केन निवार्यते॥^९

विशाल वृक्ष की सेवा करनी चाहिए क्योंकि वो फल और छाया दोनो से युक्त होता है। यदि दुर्भाग्य से फल नहीं हैं तो छाया को भला कौन रोक सकता है। अर्थात् हमें अपने बड़ों का आदर करना चाहिए।

दुर्जनःपरिहर्तव्यो विद्यालंकृतोऽपिसन्। मणिना भूषितो सर्पः किमसौ न भयंकरः॥^{१०}

दुष्ट व्यक्ति यदि विद्या से सुशोभित भी हो अर्थात् वह विद्यावान भी हो तो भी उसका परित्याग करदेना चाहिए। जैसे मणि से सुशोभित सर्प क्या भयंकर नहीं होता?

हस्तस्य भूषणं दानम्, सत्यं कंठस्य भूषणं। श्रोतस्य भूषणं शास्त्रम्, व्यर्थं स्वर्णस्य भूषणम्॥^{११}

हाथ का आभूषण दान है, गले का आभूषण सत्य है, कान की शोभा शास्त्र सुनने से है, तो अन्य आभूषणों की क्या आवश्यकता है ?

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः॥

सत्य बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय लगने वाला सत्य नहीं बोलना चाहिए। प्रिय लगने वाला असत्य भी नहीं बोलना चाहिए।

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमतां। व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥^{१२}

८ Author's Name- पंडित राधाकृष्ण श्रीमाली (सम्पादक), Name of the Book -चाणक्यनीति Name of Publisher- अनुराग प्रकाशन the City of Publication- महरोली दिल्ली Year of Publication-१९८६ and Page number/s. पृष्ठ संख्या १५५ श्लोक संख्या १५

९ Author's Name- काशीनाथ शर्मा Name of the Book -सुभाषितरत्नभाण्डागारम् Name of Publisher-निर्णयसागर मुद्रणालय the City of Publication- मुम्बई Year of Publication-१८९१ and Page number/s. पृष्ठ संख्या २५५ श्लोक संख्या ४९६ <https://epustakalay.com/writer/२९०६७-kashinath-sharma/>

१० Author's Name- भर्तृहरि, Name of the Book-नीतिशतक Name of Publisher- रामनारायण लाल विजय कुमार the City of Publication- इलहाबाद Year of Publication-१९७५ and Page number/s. पृष्ठ संख्या ७० श्लोक संख्या ४३

<https://epustakalay.com/writer/१३६८३-tarinish-jha/>

११ Author's Name- काशीनाथ शर्मा Name of the Book -सुभाषितरत्नभाण्डागारम् Name of Publisher-निर्णयसागर मुद्रणालय the City of Publication- मुम्बई Year of Publication-१८९१ and Page number/s. पृष्ठ संख्या २४७ श्लोक संख्या २९१

<https://epustakalay.com/writer/२९०६७-kashinath-sharma/>

१२ Author's Name- नारायण पंडित, Name of the Book-हितोपदेश Name of Publisher- निर्णय सागर मुद्रणालय the City of Publication- मुंबई Year of Publication-१९४४ and Page number/s. पृष्ठ संख्या ११, श्लोक सं० १

बुद्धिमान् लोग काव्य-शास्त्र का अध्ययन करने में अपना समय व्यतीत करते हैं, जबकि मूर्ख लोग निद्रा, कलह और बुरी आदतों में अपना समय बिताते हैं।

इसलिए छात्रों में नैतिक मूल्यों के विकास के लिए चाणक्य नीति, नीतिशातक, मनुस्मृति, हितोपदेश पंचतंत्र आदि पुस्तकों को विद्यालय के पुस्तकालय व अभिभावकों द्वारा अपने घरों में इस प्रकार की पुस्तकों को संग्रहण रखना चाहिए जिससे छात्रों में नैतिक मूल्यों का विकास हो सके।

४. निष्कर्ष व नीति का क्रियान्वयन-

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान परिदृश्य को देखते हुए पहले की अपेक्षा अब और अधिक विद्यालयों में मूल्य शिक्षा देने की आवश्यकता है। पहले संयुक्त परिवार में सभी रहते थे जिसके कारण छात्रों का स्वभाविक ध्यान बच्चों के दादा दादी, चाचा चाची, ताऊ ताई जी व घर पड़ोस के अन्य सदस्य भी कर लेते थे। परंतु बदलती परिस्थितियों के कारण अब एकल परिवार में लोग रहने लगे हैं उसमें भी माता-पिता दोनों के नौकरी करने के कारण बच्चों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। जिसके कारण उनमें नैतिक मूल्यों का कुछ अभाव सा दिखाई देता है। वास्तव में छात्रों में नैतिक मूल्य उनकी दिनचर्या का निर्धारण कर भी दिए जा सकते हैं। परिवार व घर के वातावरण को उस प्रकार निर्मित किया जाए जिससे छात्रों में स्वाभाविक रूप से नैतिक मूल्यों का विकास हो सके। नैतिक मूल्य कुछ इस प्रकार की वस्तु नहीं है कि उसको समय विशेष देकर किसी को दिया जा सके अपितु नैतिक मूल्य व्यक्ति के दैनिक जीवन से संबंधित है। यदि घर का वातावरण आध्यात्मिक है तो निश्चित रूप से बालक के मन मस्तिष्क पर उसका प्रभाव पड़ता है। बच्चों के खानपान पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है महात्मा आनंद स्वामी जी लिखते हैं कि हम जैसा अन्न खाते हैं हमारा मन वैसा ही बनता है।^{१३} शुद्ध शाकाहारी व सात्विक होना चाहिए मांसाहारी भोजन करने से बच्चों में पाशविक प्रवृत्ति बढ़ती है। विद्यालय के कोरिडोर आदि में इस प्रकार की शक्तियों को लिखा जाना चाहिए जिससे बाल मस्तिष्क पर उसका प्रभाव पड़ सके। विद्यालय में इस प्रकार के महापुरुषों के चित्र भी लगे होने चाहिए जिसे देखकर छात्र उनसे अपने जीवन में प्रेरणा पा सके व उनके पद चिह्नों पर चलने का प्रयास करें। अभिभावकों को भी यह ध्यान रखना चाहिए कि घरों में इस प्रकार का वातावरण हो की बालक एक अच्छा नागरिक बन सके व अपने कर्तव्यों का ठीक से पालन करते हुए समाज व राष्ट्र के उत्थान में अपना योगदान दे सकें।

शब्दब्रह्म-सायुज्य-मोक्षमीमांसा

सचिन^१

समस्त भारतीय दर्शनों के सदृश ही व्याकरण दर्शन का भी चरम लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष ही है इसलिए पतञ्जलि कहते हैं कि 'शास्त्र द्वारा समर्थित एक भी शब्द को हम अच्छे से जान लें तो वह स्वर्ग लोक में कामधुक् होता है'^१ इस प्रकार व्याकरण की परम्परा में भी शब्दार्थ का ज्ञान होना अत्यावश्यक है किन्तु उसके ज्ञान का लक्ष्य शब्दब्रह्म की प्राप्ति ही है इसलिए महाभारत में कहा है कि शब्दब्रह्म में निष्णात होकर ही परब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है।^२ महाभाष्य में व्याकरण के प्रयोजन का प्रतिपादन करते हुए पतञ्जलि ने कहा कि उस महान् देव शब्द से हमारा साम्य हो, हम उस चरम की प्राप्ति कर सकें इसलिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए।

इसी शब्दब्रह्म की परम्परा का संवर्द्धन भर्तृहरि ने किया है, उन्होंने भी शब्दब्रह्म का सायुज्य ही इस दर्शन का परमलक्ष्य स्वीकार किया है। सत्त्व एवं असत्त्व से अनिर्वचनीय भेदाभेद से रहित समस्त प्रपञ्च जिसका विवर्त है, ऐसे एकमात्र ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय वेद है, ऐसा स्वीकार किया है। भर्तृहरि ने ब्रह्मकाण्ड की आरम्भिक चार कारिकाओं में ब्रह्म का स्वरूप एवं समस्त विश्वप्रपञ्च उसका विवर्त है, ऐसा प्रतिपादित किया है। पाँचवी कारिका में उन्होंने उस ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय बताया है।

उस ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय एवं उसका अनुकार वेद है। वह वेद भी एक ही है किन्तु सामान्यजनों में विद्याग्रहण की वह शक्ति नहीं है। उस शक्ति विकलता के कारण वेदों को अनेक मार्गों के समान ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद इत्यादि एवं शाखादि भेदों से विभक्त किया है। दर्शनों में ब्रह्म की प्राप्ति के दशविकल्प स्वीकार किये गये हैं।^३

अद्वैतदर्शन में एक ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता ग्रहण की गई है, अन्य सभी सत्ता का आश्रय यही है इसलिए अन्यत्र जो विकल्प परिकल्पित है, उससे कोई विरोध नहीं है क्योंकि सभी विकल्पों का आश्रय वही एकमात्र परब्रह्म ही है। वेदों में सभी वादों का प्रतिपाद्य प्रणव ही है, जिस भी रूप में दर्शनादि भेद परिकल्पित होते हैं, उसी उसी रूप में प्रणव का ही प्रतिपादन होता है। क्योंकि प्रणव ही वेदों का विवर्त है। समस्त अर्थवादों का विकल्प समस्त विद्याओं का निमित्त एकमात्र वेद ही है और जिस प्रकार से समस्त दर्शन भेद ब्रह्मरूप के विकल्प हैं, उसी प्रकार प्रणव ही वेदों का विवर्त है।^४

१ शोधछात्रसंस्कृतविभाग, दि. वि. दिल्ली, ईमेल - grsachinb@gmail.com

२ एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति। महा.भा. ६.१.८४

३ शब्दब्रह्मणिनिष्णातः परब्रह्माधिगम्यते। महाभारत

४ महता देवेन नः साम्यं यथास्यादित्यध्येयं व्याकरणम्। महाभाष्य पस्पशाह्निक

५ यथाबिम्बप्रतिबिम्बयोरभेदः, तथा शब्दार्थभेदाद् ब्रह्मवेदयोरपि न भेद इति ब्रह्मानुकारत्वोपचारो वेदे इति। अम्बा.वा. १.५. पृ. -१८

इसलिए स्पष्ट करते हैं कि प्रणव ही वेद है और वही समस्त शब्दों एवं अर्थों की प्रकृति है। शब्दाद्वैत दर्शन में समस्तविद्याभेद प्रणवात्मकतया ही स्थित रहते हुए वेदों का अतिक्रमण नहीं करते हैं क्योंकि प्रणव वेदस्वरूप ही है और श्रुतियों में प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं कि 'समस्त वाणी वेद में ही अनुप्रविष्ट है'। जो वेदों को नहीं जानता, वह ब्रह्म को भी नहीं जान सकता।^६

ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय, जो प्रणवात्मक वेद है, जो शब्दस्वरूप है, उसका साक्षात् उपकारी व्याकरण है। वेद शब्दों का स्वरूप संस्कार करने से प्रकृति एवं प्रत्यक्षादि से अन्वाख्यान करने से व्याकरण उपकारक है न कि कोई विशेष उत्पत्ति के कारण क्योंकि वेद अपौरुषेय एवं नित्य स्वीकार किये गये हैं। ऊहा भी व्याकरण के द्वारा ही सम्भव है इसलिए पतञ्जलि ने भी रक्षा, ऊहा, आगम, लघु, असन्देह ये व्याकरण के प्रयोजन बतलाए गये हैं। ऊहा के कारण भी व्याकरण वेद का विशेष उपकारक है। जैसे प्रकृति सौर्य याग में वचन है 'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि' किन्तु विकृत आग्नेय याग में 'प्रकृति के समान ही विकृति करनी चाहिए इस अतिदेश के कारण 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इस ऊहा से ही सम्भव होने से व्याकरण वेद का आसन्न है।^७

संसार में जितने भी तप अभिख्यात हैं जैसे - ब्रह्मचर्य, अधःशयन, उदवास, चान्द्रायणादि और जो पवित्रतम स्वाध्याय, पुरुषसूक्त वे सभी अदृष्ट फल के कारण होने से तप कहे गये हैं किन्तु व्याकरण दृष्ट एवं अदृष्टविशेष फलों का हेतु होने से प्रसिद्धतम सभी तपों में उत्तम स्वीकृत किया गया है। व्याकरण का दृष्ट प्रयोजन पद-पदार्थ का निश्चय करना है और अदृष्ट प्रयोजन पतञ्जलि ने जो स्वर्गलोक में कामधुक् स्वीकार किया है, वही है।^८ यह छः अंगों में प्रधान होने से प्रथम अङ्ग है, जिसके अक्षरसमाम्नाय के ज्ञानमात्र से ही सर्ववेदपुण्यफलों की प्राप्ति हो जाती है। व्याकरण वेदों का साक्षात् उपकारक होने से प्रधान है और महाभाष्यकार ने भी स्पष्ट ही किया है कि 'प्रधान में किया गया यत्न फलवान् होता है।^९ अम्बाकर्त्रीकार स्पष्ट करते हैं कि 'फलवान्' में अतिशय अर्थ में मतुप् प्रत्यय हुआ है जिसका अर्थ हुआ कि अतिशय फल प्रदान करने वाला।

व्याकरण ही समस्त पुण्यतम शब्द ज्योति को प्राप्त करने का सरल मार्ग है। अर्थात् इस संसार में तीन प्रकाश हैं, जातवेद, ज्ञानरूप, शब्द। इसी शब्दाख्य प्रकाश में जितना भी स्थावर जड्गम जगत् कार्य है, वह उपनिबद्ध उसी से प्रकाशित होता है इसलिए इन तीनों प्रकाशों में यह पुण्यतम है। इस पुण्यतम ज्योति को सरलता से प्राप्त करने का उपाय व्याकरण ही है।^{१०} समस्त व्यवहार का निमित्त शब्द ही होता है।

६ यथा दर्शनभेदा ब्रह्मरूपं विकल्पयन्ति, तथा प्रणव एव श्रुतिरूपेण विवृत्तः सन्नभ्यनुजानातीत्यर्थः। वही, पृ. - २९

७ इत्यूहरूपो उपकारो व्याकरणेन वेदस्य इत्यतोऽत्यासन्नं वेदस्य व्याकरणम्।.....अम्बा.वा. १.११ पृ. - ३१

८ व्याकरणं तु दृष्टादृष्टविशेषफल हेतुत्वादभिख्याततमं तपः। व्याकरणस्य दृष्ट प्रयोजनं पदपदार्थवसायः, अदृष्टं तु स्वर्गे लोके च कामधुग् भवतीति इत्यादिनोवत्तम्। वही, पृ. - ३१

९ प्रधानं चास्य वेदरूपत्वात्। अतस्तन्मूलकं व्याकरणम् प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति' इति। फलवान् इत्यत्रातिशायने मतुप्। ' फलातिशयवान् इत्यर्थः। अम्बा.वा. - १.१२ पृ. - ३२

१० आञ्जस ऋजुमार्गो....ज्ञानोपायः। वही पृ. - ३३

क्योंकि विवक्षा से ही समस्त सांसारिक व्यवहार प्रवृत्त होता है एवं उसका कारण शब्द ही है और उस शब्द का ज्ञान व्याकरण के द्वारा ही सम्भव है।

यही व्याकरण मोक्ष का द्वार है, मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। साधु शब्द के प्रयोग से मनुष्य एक आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त करता है, जिससे अभ्युदय की प्राप्ति होती है एवं शब्द स्वरूप के अभेद को जान पाता है। इस अभेद को जानकर वह प्रत्येक प्रकार के क्रम से मुक्त होते हुए शब्दपूर्वक निर्विकल्पक योग को प्राप्त करता है, जिससे निःश्रेयस की प्राप्ति होती है एक तो यह प्रकार है। व्याकरण ज्ञान से साधु शब्दों के प्रयोग से पुण्य विशेष की प्राप्ति होती है, जिसके प्रभाव से शब्दपूर्वक योग के निरन्तर अभ्यास से शब्दतत्त्व के साथ तद्रूपता प्राप्त करके साधक इन्द्रियों से परे चले जाता है फिर शब्दविद् वैयाकरण शब्दपूर्वक योग के निरन्तर अभ्यास से कत्व खत्वादि, पदवाक्यत्वादि, तारमन्दत्वादि वर्णानुपूर्वी के धर्मों से असंकीर्ण सभी वाग्विकारों की प्रकृति प्रतिभा को प्राप्त करता है, जो समस्त शब्दार्थों की कारणभूत बुद्धि है, जिसे पश्यन्ती कहते हैं, जिससे शब्द प्राणवृत्ति को प्राप्त करते हैं, उसी प्रतिभा को वैयाकरण शब्दसाधक प्राप्त करता है^{११} और फिर शब्दपूर्व योग की निरन्तर भावना के अभ्यास से परा प्रकृति को प्राप्त करता है, जहाँ समस्त भावविकारों की प्रतीति समाप्त हो जाती है। यही व्याकरण के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का प्रकार है।^{१२}

व्याकरण मोक्ष की सिद्धि का प्रथम सोपान है, जिस प्रकार योगदर्शन में भूमिका सप्तकादि को मोक्ष का सोपान माना उसी प्रकार व्याकरण भी मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है। मुमुक्षु लोगों के लिए 'मुखं व्याकरणं प्रोक्तम्' इत्यादि शास्त्र प्रसिद्ध एवं विद्वदनुभव से सिद्ध है कि व्याकरण अत्यन्त सरल एवं सीधी मोक्ष प्राप्ति का राजमार्ग है।^{१३}

व्याकरणदर्शन में ब्रह्मप्राप्ति का शब्दसंस्कार ही उपाय इसलिए भर्तृहरि ने बार-बार इसी विषय का समर्थन किया है शब्दाद्वैतदर्शन में शब्द का महत्त्व बहुत अधिक है और उसी शब्द का संस्कार परमात्मा की सिद्धि का उपाय है। जब व्याकरण द्वारा शब्दतत्त्व का संस्कार किया जाता है तो वैयाकरण व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करके अपभ्रंशों का परिहार करता है तथा साधु शब्दों के प्रयोग से उसमें धर्मविशेष का आविर्भाव होता है जिससे उसका अभ्युदय निश्चित है। अभ्युदय से अभिप्राय है कि इहलौकिक पुत्र पशवादि एवं पारलौकिक स्वर्गादि की प्राप्ति होना। इसीलिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है -

“एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति” इति।

अम्बाकर्त्रीकार कहते हैं कि इस वाक्य में प्रयुक्त 'लोके' शब्द से इस लोक का ग्रहण होता अर्थात् वह शब्द स्वर्गलोक में कामधुक् होता ही है इहलोक में भी कामधुक् होता है।^{१४} साधुशब्दों के पुनः प्रयोग से शब्दसंस्कार के अभ्यास से धर्म की वृद्धि होगी एवं शब्दपूर्वक योग की प्राप्ति होगी। इस शब्दपूर्वक योग से

११ तथा हि येयं समस्तशब्दार्थकारणभूताबुद्धि यां पश्यन्तीत्याहुः, यतः शब्दाः प्राणवृत्तिमनुपतन्ति तां प्रतिभां क्रमेणानुप्राप्नोति

वैयाकरणः। अम्बा.वा. - १.१४ पृ. - ३७

१२ वही पृ. - ३७

१३.....अजिह्वाऽवक्रा सरला राजपद्धति राजमार्गः, मोक्षप्राप्तावित्यर्थः। वही १.१६ पृ. - ३९

१४ अत्र लोक शब्देनायं लोको गृह्यते। वही पृ. - २००

प्रतिभा या पश्यन्ती को जान पाता है। यह प्रतिभा तत्त्वप्रभ है अर्थात् प्रतिभा के भी अनेक भेद असत्य हैं। यह प्रतिभा ही छः भावविकारों जायते, अस्ति, वर्द्धते, अपक्षीयते, नश्यति इनकी प्रकृति या मूलकारण है यह साध्य एवं साधन रूप शक्ति से युक्त है। इस साध्य एवं साधन रूप जगत् से अभिन्न संसार की सर्गस्थितिलय की शक्ति से सम्पन्न परब्रह्मरूप सत्ता को अच्छे प्रकार जानकर परब्रह्म प्राप्तिरूप क्षेम प्राप्ति या अपवर्ग प्राप्ति निश्चित है।^{१५}

व्याकरण दर्शन में शब्द संस्कार के माध्यम से ब्रह्मप्राप्ति का जो मुख्य कारण है वह यह है कि वैयाकरण ब्रह्म को शब्दात्मक मानते हैं एवं समस्त जगत्प्रपञ्च उसी परब्रह्म का विवर्त है ऐसा स्वीकार करते हैं। इसलिए समस्त सृष्टि का आधार शब्दब्रह्म ही उसके बिना कोई भी व्यवहार क्षणमात्र भी प्रयोग में नहीं आ सकता। वही स्वप्रकाशरूप होने से समस्त संसार का प्रकाशक है अगर वह न हो तो ज्ञानरूप प्रकाश का भी सामर्थ्य नहीं है कि वह किसी भी वस्तु को प्रकाशित कर सके इसलिए उस शब्दब्रह्म की प्राप्ति ही मोक्षप्राप्ति है जिसका द्वारा व्याकरण ही है। इसलिए उस अन्तरस्थित आत्मा को महान शब्दवृषभ कहा गया है। उसी के सायुज्य की प्राप्ति ही मोक्ष है।

इस संसार में दो शब्दात्मा है। इनमें स्थान, करणादि से अविवृत्त नित्य है एवं जो उनका विवर्त है वह अनित्य है। इनमें जो व्यावहारिक वैखरीरूप कार्य है जिससे समस्त व्यवहार सम्पन्न होता है वह नित्यपुरुष या परावाक् तत्त्व का प्रतिबिम्ब है छाया है क्योंकि विकार अपने मूलकारण से अन्वित होते हैं। यह भी नित्यपुरुष के प्रतिबिम्ब को स्वीकार करता है क्योंकि प्रकृति रूप से अनुगत होने के कारण। परावाग्रूप नित्यशब्दात्मा ही समस्त साध्यसाधन रूप व्यवहार का तथा प्रत्येक सिद्धान्त में आये हुए पदपदार्थों के भेदव्यवहार का वही कारण है। क्योंकि समग्र प्रवाद या सिद्धान्त उसी में आबद्ध रहते हैं। कार्य शब्द समस्त व्यवहार का निमित्त कारण है।^{१६}

भर्तृहरि ने अपनी वृत्ति में इसी को प्रतिपादित करते हुए एक मन्त्र उद्धृत किया है -

चत्वारि श्रुङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्य आविवेश॥ इति।

अम्बाकर्त्रीकार इसकी व्याख्या करते हैं कि - इस अलौकिक शब्दवृषभ के चार सींग नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपातरूप अथवा परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरीरूप हैं। इसके तीन पैर भूत, भविष्यत्, वर्तमानकाल रूप हैं जिनके द्वारा शब्दवृषभ प्रतिष्ठित होता है। दो शिर अर्थात् दो शब्दात्मा नित्य एवं कार्य। प्रथमादि सात विभक्तियाँ इसके हाथ हैं। उर, कण्ठ, शिर इन तीन स्थानों में बन्धा हुआ है तीन स्थानों से उच्चरित होने के कारण, अन्य स्थानों का भी इन्हीं तीनों में ही अन्तर्भाव समझना चाहिए। प्रयोक्ता एवं ज्ञाता की कामनाओं की वर्षा करने के कारण वृषभ है। रोरवीति अर्थात् अत्यधिक शब्द करता है। ऐसा स्वप्रकाश

^{१५} जगतः सर्गस्थितिलयानुकूलशक्तिसम्पन्नां परब्रह्मरूपां सत्तां सम्यगवबुध्य नियता परब्रह्म प्राप्तिरूपस्य परस्य क्षेमस्य प्राप्तिरिति।

वही पृ. - २००

^{१६}कार्यस्तु शब्दः सर्वस्य व्यवहारस्य निमित्तकारणम्। अम्बा.वा. - १.१३० पृ. - १९८

चित्स्वरूप महान देव शब्दवृषभ मरणधर्मा मनुष्यों में प्रविष्ट हो गया। उस महानदेव शब्द वृषभ के साथ हमारी एकता हो हमारा सायुज्य हो हमारा ऐक्य हो इसलिए व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।^{१७} व्याकरणशास्त्र के द्वारा उसके साथ सायुज्य की प्रक्रिया का विवेचन पहले ही कर दिया गया है। इसलिए व्याकरणदर्शन के अनुसार यही मोक्ष का उपाय है।

१७ वही पृ. - १९९

कालिदाससाहित्ये तपःस्वरूपम्

डॉ. विजयलक्ष्मी:^१

शोधपत्रसारांशः -

संस्कृतसाहित्ये महाकविकालिदासस्य अन्यतमं स्थानम्। अयं हि भारतीयसंस्कृतेः प्रतिनिधिभूतः कविर्मतो मतिमद्भिः। अस्य कविश्रेष्ठस्य समस्ताः कृतयः यत्र कुत्रचित् तपः, तपोवनं, तापसं वर्णयन्ति। कालिदासानुसारं किं तपःस्वरूपम्, कथञ्च तपस्तपनीयम्, किं प्रयोजनं तपसः, सत्याञ्च तपःसिद्धौ सिद्धेन संसृतौ कथं संसरणीयं व्यवहरणीयमियमेव विचारणा पत्रस्यास्योद्देश्यम्। रघुकारस्य कृतीनामध्ययनेनेदं सुस्पष्टं भवति यत्तापसेन जनेन तपसे कृतनिश्चयेन भाव्यम्। “अयाचितारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपः समाधये” स्थिरव्यवसायायाः पार्वत्याः निश्चयोऽयं न केवलं तापसेभ्यः अपितु निर्धारितलक्ष्येभ्यः सर्वेभ्यः प्रेरणामुत्साहं विधिं व्यवस्थां दिशञ्च विनिर्दिशति। केवलं सिद्धीनां समुपलब्धये साधकेन साधना न साधनीयापितु विशेषतो विकाराणामपि प्रशमनमनेन विधिना विधेयम्। (सहैव प्रासङ्गिकतया अद्यत्वे समाजे तपोविषये, तत्प्रयोजनविषये तथा तपसो विधाने येऽपि मिथ्याचाराः समायाताः तेषामपि चर्चा कृता वर्तते पत्रे) सिद्धयः तपसः परिणामभूता वर्तन्ते, अतः तास्तु अपरिहार्यत्वेन आगमिष्यन्त्येव, परमेतासामुपयोगे, प्रयोगे च जागरूकेण भाव्यं जिज्ञासुना। अस्मिन् प्रकरणे कामदेवस्य उदाहरणं प्रस्तूय कविना प्रबोधितः तापसवर्गः यत् सिद्धीनां दुरुपयोगेन विनाशमपि भवितुमर्हति, तत्रैवविहितविधिना विहितेन तपसा तापस आप्नोति परमं पदम् इत्यपि सन्देशः कविवरस्य।

भूमिका-

धातुपाठे तपःपदं त्रिषु अर्थेषु पठितं विद्यते। तद्यथा- तप- सन्तापे इति भ्वादिगणे, तप-ऐश्वर्ये अदादिगणे, तप-दाहे चुरादिगणे। किं तप इति अभीप्सायामुच्यते- “ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतद् उपास्वैतत् तपः”^२ वाचस्पत्याभिधेये कोशे पदस्यास्य अष्टादश अर्थाः दर्शिताः। यथा- ईश्वरज्ञानभेदे, स्वाश्रमविहितकर्मणि, वैधक्लेशजनके कर्मणि, क्षुत्पिपासाशीतोष्णादि द्वन्द्वसहने, चित्तप्रसादहेतुभूते व्रतनियमोपासनादिकर्मणि, मौनादिव्रते, कायेन्द्रियमनसां समाधाने, शास्त्रीयमार्गेण कायेन्द्रियमनसां शोषणे, वानप्रस्थस्यासाधारणधर्मे, मनः-इन्द्रियाणामेकाग्रये, माघे मासि, धर्मे, नियमे, अग्नौ तपोजाः आदयः। अथर्ववेदे तपोलाभं प्रतिपादयता ऋषिणोदीरितम्- सुखस्वरूपं याथार्थ्येन वेत्तारः, भद्रभावभाविता ऋषयश्च तपसा, अनुशासनेन च उच्चतां लभन्ते।^३ प्रत्यक्षमिदं समेषां यत् जीवने जनेन किमपि प्राप्तव्यं भवेत् तत्सर्वम् अनुशासितेन आचरेण अधिगतम् भवति, भवेन्नाम लक्ष्यमुच्चं, निम्नं,

१ संस्कृतविभागः एस. डी. कालेज मुजफ्फरनगरम्।

२ तैत्तिरीयाण्यक १०.८

३ अथर्ववेदः १९.४१.१ भद्रमिच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदस्तपो

लौकिकं पारलौकिकं वा सर्वत्र तपस्तु आचरणीयमेव, नियमास्तु निश्चेतव्याः। लक्ष्यप्राप्तये नियमस्थेन साधकेन अभ्यासो विधेयः। अभ्यासः^४ बहुमतः मतिमद्भिः। “कोऽभ्यास इति परिभाषयन् प्रोवाच पतञ्जलिः- तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः^५ अर्थात् अभीप्सिते तस्मिन् एकस्मिन् उद्देश्ये सर्ववृत्तीनामेकीकरणस्य प्रयास अभ्यासः। सूत्रममुं भगवान् भाष्यकारो वेदव्यासो व्याख्याति-“(तदर्थः) प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः तत्सम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः”।^६ मुनिः व्यासानुसारं लक्ष्यावाप्तये प्रसन्नमनसा प्रयत्नः, शक्तिः, अध्यवसाय आवश्यकः। किं कारणं यत् शास्त्राणि अधीतस्य, श्रुतस्य, ज्ञातस्य पौनःपुन्येन अभ्यासाय निर्दिशन्ति? जिज्ञासाया अस्याः समाधानं विदधता कपिलमुनिनोक्तम्- “ न श्रवणमात्रात् तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात्”।^७ एकैकस्य कर्मणः, विकारस्य च विविधेषु तलेषु बहूनि बन्धनानि, विविधा वासना वर्तन्ते। बन्धनानि तनूकरणाय, वासना उन्मूलनाय ज्ञातस्य शास्त्रोपदेशस्य जागरूकतया अभ्यासः नितरामावश्यकः। वासना एतावती बलवती यत् जानन्नपि जनः अस्याः मोहादिपाशान् छेतुमपाकर्तुं पराजेतुं तनूकर्तुं प्रभवति। अनेनैव तप अपरिहार्यम्। लोके प्रायशः सर्वे जनाः जानन्त्येव दैनिकं कार्याकार्यम् परं व्यवहारे तस्य योगो न दृश्यते, अतः समये समये शास्त्राध्ययनस्य, सिद्धानामुपदेशस्यापि विधानं विहितं विद्वद्भिः।

कालिदासमते तपःस्वरूपम्-

उच्चतरोद्देश्योपलब्धये जनेन केचन इतोऽपि दृढाः नियमाः सेवनीयाः भवन्ति। सन्दर्भेऽस्मिन् पार्वतीमुखेन संदिशति कविवरः- इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः। अवाप्यते हि कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।^८ अर्थात् यावती उत्कृष्टा समीहा, यावदुच्चं लक्ष्यं तथाविधमेव तपस्तपनीयं भवति तापसेन। तत्र पार्वत्याः तपःस्वरूपं प्रतिपादयतोक्तं ग्रन्थकारेण यत् सा सर्वान् आश्रमस्थान् पक्षिणः, पशून्, पादपांश्च आत्मानमतिरिच्य सिषेवे।^९ प्रकृतिं प्रति प्रेमपूर्णा कृतादरा चासीत् शिवानी। अस्य फलं विनिर्दिशता कथयति महाकविः- “ दिदृक्ष्वस्तामृषयोऽभ्युपागमन् न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्षते अथ च- विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं दुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि। नवोटजाभ्यन्तरसंभृतानलं तपोवनं

४ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (योगदर्शनम् १.१२) अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना। परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।

(गीता ८.८), गीता ६.३५, १२.९। (ख) महाभाष्यम् ६.१.४९ तपस्तापसं साधयति, ज्ञानमस्य प्रकाशयति। स्वान्येवैनं कर्माणि सेधयन्ति, ज्ञानमस्य प्रकाशयन्ति।

५ योगदर्शनम् १.१३

६ तदेव व्यासभाष्यम्।

७ साङ्ख्यदर्शनम् २.३, (ख) आचार्यव्यासस्यापि मतमवलोकनीयमस्मिन् सन्दर्भे- नातपस्विनो योगः सिध्यति।

अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानम्। योगदर्शनम् २.१।

८ कुमारसम्भवम् ५.२

९ तदेव ८-१५। (ख) आश्रमाणां तपः प्रधानत्वाद्, अहिंसा प्रतिष्ठानाच्च तत्रत्याः मृगाः विगतभयाः जायन्ते इति शाकुन्तले अपि वर्णितम्- विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः। अथ च- एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भाङ्कुराणां नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति। शाकुन्तलम् १.१४, १५।

तच्च बभूव पावनम्”।^{१०} गिरिसुतायाः तपसः फलं वैरनाशनरूपेण प्रेम्णः प्रसाररूपेण समायातमथ च तत्तपोवनं पूर्वापेक्षया अधिकं पावनं जातम्। विवरणनेनानेन विवृतं भवति यत् यथा तपोवनस्थं बाह्यं वातावरणं पूतं जातं तथैव पार्वत्याः आन्तरिकमपि अन्तःकरणमनाविलमभवत्। तपसि संलग्नेन धार्मिकेण जनेन विगतरागेण अपगतद्वेषेण भाव्यमिति सन्देशः। नियमस्थस्य मानवस्य कामक्रोधालोभेष्याहङ्कारादयो विकृतयः क्रमशोन्यूनाः भवन्ति, पार्वतीमाध्यमेन प्रसारितोऽयं सन्देशः साधकानामुत्साहाय कल्पते यतोहि साधनासमये साधकसम्मुखे बाह्या आन्तरिकाः नैकविधाः प्रत्यवायाः समायान्ति। मनीषिणां महानुभावानां भावा अनुभावा अनुभवाश्च प्रेरणाप्रदा उत्साहवर्धकाश्च भवन्ति जिज्ञासूनां कृते।

भारते काले काले विधीयमानानि नैकानि उपवास-व्रतानि च भूयोभूय उद्बोधयन्ति सामाजिकान् आत्मकल्याणकरणाय पारस्परिकसौहार्दसम्पादनाय च। सामाजिक प्रगतेः आध्यात्मिकोन्नतेर्वा नैकाः पन्थानः दृष्टिपथमायान्ति अद्यत्वे, यतोहि अनेके उपदेष्टार उपदिशन्ति उत्तमान् अनुत्तमान् नैकान् पारस्परिकविरुद्धान्, विपरीतांश्च मार्गान्। एकैकस्यापि मार्गस्य ग्रन्थस्य च विविधा व्याख्यातारो विद्यन्ते। तत्र कथं जानीयाज्जनो यत् तेन कस्यपदमनुविधेयम्, कतमो वा मार्गः, कतमो वा विधिः तस्य कल्याणाय कल्पते, श्रेयसे समीहते। अत्र वक्तुं शक्यते यत् प्रथमं तु स्वोद्देश्यो विवेकचक्षुषा चिन्तनीयः चयनीयश्च, ततः सर्वात्मना विचारितमनुविधेयं यतोहि महति अस्मिन् मार्गे स्वात्मानुभवः^{११} एव निकषेति कथयितुं शक्यते। अनुभवव्याजेन कापि पूर्वधारिता धारणा भ्रमं तु नोत्पादयति, इत्यत्रापि साधकेन सर्वथा सावधानेन स्थातव्यम्। अध्यात्मनि तु विशेषेण विधिरयं प्रशस्यते। येनापि मार्गेण नियमेन तपसा वा तापसस्य कामक्रोधलोभेष्याहङ्कारभयादयः शमतामुपयान्ति, स्वल्पामपि समतां समश्नुते स्वान्तम्, तदाचरणीयम्। परं तदेव सौख्याय सम्पद्यते नान्य इति मनसि विधायकस्मिन्नपि मार्गे, गुरौ, विधौ दुराग्रहेण आग्रहेण निरुद्ध अवरुद्धो वा न भवेत् सुधीः। मत्कृते मार्गोऽयं सुखावहः किन्तु अन्येऽपि विविधा विधयः विश्वस्मिन् विश्वे व्याप्ता विख्याता विद्यन्ते इति विचार्य मुदितमनः तिष्ठेत्। सम्यगुदीरितं सत्कविना “पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्षायान्तरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः”।^{१२} विचारणायं वर्तमाने काले अतीव महत्त्वमवधारयति यतोहि वैज्ञानिकानामथकैः अभिनन्दनीयैः अनुसन्धानैः साम्प्रतं संसाधनानां सुविधानाञ्च सौविध्यं संसाराय समुपलब्धम्। जनः स्वल्पेनैव प्रयासेन गृहे निवसन्नेव स्वाभीष्टं जनं श्रोतुं पठितुं वा शक्नोति परमनेन सौविध्येन धर्माणां नियमानां व्रतानां तपसां प्रकारा अपि परिवर्तिताः, कालेन तत्र किञ्चित् परिवर्तनं स्वीकार्यमेव, परिवर्तनं दोषाय एव भवति इत्यपि न किन्तु संसाधनानामुपयोगः सुविचार्यकरणीयः। महाकविकालिदासस्य इष्टदेवस्य^{१३} भगवतो महादेवस्य शिवस्य नाम्ना प्रथितं श्रावणमासे प्रतिवर्षं सम्पद्यमानं “कावड” आख्यमुत्सवं विचारयामः। भारतीयपरम्परायां चातुर्मास्यम् (चौमासाइति लोकभाषायाम्,) विशिष्टं महत्त्वं धत्ते। अस्यामवधौ कस्यापि

१० तदेव १६, १७

११ नीतिशतकस्यादिमे श्लोके आचार्येण भर्तृहरिणा समाचीनं समीहितम्- स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे।

१२ मालविकाग्निमित्रम् १.२

१३ रघुवंशम् १.१ वागर्थाविव सम्पृक्तौ। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। अथ च - या सृष्टिः स्रष्टुराद्या..... प्रत्यक्षाभिः

प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः। अभिज्ञानशाकुन्तलम् १.१। अपि च मेघदूतम्- पूर्वमेघे ३३, ३४, ३५, ३६ श्लोकाः।

कुमारसम्भवम् महाकाव्यं तु प्रत्यक्षनिदर्शनं महाकवेः आस्थायाः।

सुविज्ञस्यसद्गुरोः सान्निध्यसमवाप्य स्वाध्यायसम्पादनीयमासीद् साधकेनसद्ज्ञानसोपानरूपेण।स्वाध्यायेन मानवः सांसारिकेषु समस्तेषु सम्बन्धेषु, वस्तुषु, पदार्थेषु च सत्यस्य, तथ्यस्य दर्शनं कर्तुं पारयति, येनास्यकर्मबन्धनानिक्षीणतां यान्ति।^{१४}स्वाध्यायस्येयं सुप्रथिता परम्परा आसीदिति तथ्यं भगवतः वाल्मीकेः उल्लेखात् ज्ञायते।^{१५} मनीषिभिःस्वाध्यायस्य तपसश्च महिमोररीक्रियते गीयते च। यतोहि नान्तरेण स्वाध्यायं किं तप इति सुविज्ञातुं शक्यते। आदिकविना आदिकाव्यस्य आदावेव अलेखि-“ तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्। नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्”।^{१६} श्रावण-भाद्रपद-आश्विन-कार्तिकाभिधेयेचातुर्मास्यान्तर्गते श्रावणमासे भवन्-कावड- उत्सवस्य रूपं यथा अद्यत्वे पश्यामस्तथा एतस्य परिकल्पना कृता भवेत् इति तु बुद्धिपथं नाधिरोहति।वातावरणपरिवर्तनेन अद्यत्वे यद्यपि समस्तेचातुर्मास्ये देवो न वर्षति परन्तुपुरा प्रायशःएषु चतुर्षु मासेषु वर्षाः वर्षन्ति स्म,विशेषेण तु श्रावणभाद्रपदमासयोः। आवागमनावरोधेन व्यापारसंबद्धानि कार्याणि अन्यानि च कार्यजातानिनिरुद्धानि जायन्ते स्म अतः एतस्मिन् काले विशेषेण स्वाध्यायस्य विधानमासीत्, केचन जनाः यत्र कुत्रापि एकान्तस्थाने उपविश्य आत्मशोधनात्मकेतपसि, योगे, ध्यानेच प्रवृत्ताः भवन्ति स्म। अस्मिन् समये खाद्यपदार्थाः सपदि विकृतिमायान्ति इत्यवधार्य भोजनसम्बन्धीनां नियमानां विशिष्टं विधानं कृतं प्रतिभाति।जैनसमाजे, बौद्धसमाजे अपि प्रायशात्तादृशा एव नियमा मिलन्ति। तत्रापि ध्यानं, योगः, एकस्मिन् स्थाने उषित्वा स्वाध्यायः,प्रवचनम्, आत्मचिन्तनम्, आत्मशुद्धिः, भोजनसम्बन्धिनियमाः, उपवासा विधेया इति निर्देशः। कावडइत्यस्य संबन्धः केचन जनाः श्रावणस्य नेत्रहीनाभ्यां पितृभ्यां सह स्वीकुर्वन्ति अर्थात् पितरः, ज्येष्ठाः, वयोवृद्धाः, विद्यावृद्धाः श्रद्धया परिसेव्याः, परमद्यत्वे तद्भावः परिवर्तित इव पश्यामः। पूज्यानां पूजायाः, अर्चनीयानामर्चायाः इमे भव्यभावा भूयो भूयिष्ठतया भवन्तु भवे, इति कावडमाध्यमेन स्मरणीयमस्माभिः। डाककावडतुल्या गतिः चेतनाया उन्नयनाय जायेत इत्यपि अवधेयम्। अस्तु चातुर्मास्यस्य विधिरयम् आत्मशोधनायासीदिति निश्चप्रचम्। चातुर्मास्ये आदिमो मासः श्रावणमासः, स्वाध्यायतपःसंयमसमाधिसाधनानां मासेऽस्मिन् सोत्साहेन साधकाः संलग्ना अभवन् इत्यत्र नास्ति संशीतिलेशोऽपि।स्वाध्यायाभावेआधुनिकाः न जानन्ति अस्य श्रावणमासस्य तपसःतथाविधं माहात्म्यम्। यतः तपस्तु उच्चप्रगतेः सोपानम्, वपुरात्मनोःउत्थानं, व्यष्टिसमष्टयोः निर्माणं करोति। तैत्तिरीयोपनिषदनुसारं स्वाध्यायप्रवचने एव तपः।^{१७} आदिकविना वाल्मीकिना नारदस्य यत् स्वाध्यायसंवलितं, तपःपूतं, ज्ञानदीप्तं, विद्याविभूषितं स्वरूपं वर्णितं तत् अनुकरणीयमेवअखिलैः।तादृशं तपःस्वाध्यायसम्पन्नेतपस्विनि नारदविषये साम्प्रतिके समाजेसर्वथा भिन्नैव धारणायत् नारदस्तु यत्र तत्र भ्रमणे तत्परः, अन्येषां जनानां विषये देयानामदेयानां वा सूचनानां

१४ मनुस्मृतिः ६.७४ सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते। (ख) महाभाष्यम् ४.१.३ दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः।

१५ किष्किन्धाकाण्डम् २८.५४, ५५- मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम्। अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः।

विवृत्तकर्मायतनो नूनं सञ्चितसञ्चयः। आषाढीमभ्युपगतो भरतः कोसलाधिपः।

१६ रामायणम् १.१.१, अपि च वह्निपुराणे- ब्राह्मणस्य तपोमूलं यज्ञः स्वाध्याय एव च। तस्मादग्ने फलं ब्रूहि तपसोध्ययनस्य च।

१७ तैत्तिरीयोपनिषद् १.९.१, स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः। अथ च १.१.११- स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

अन्येभ्यः प्रदायक इति। ईदृशी क्षुद्रा, तुच्छा अवधारणा जनानां नारदविषये, कस्य सुमनसः, शोमूषीजुषः, सचेतसः विदुषः चेतः चिन्तापरो न भावयति। अस्या अधोगतेः को हेतुरिति विमृशामश्चेत् अनध्ययनमेकतमं कारणमत्र इति कथने नास्ति कापि संशीतिः। पठन-श्रवण-मननाभावेतपसो मूलस्वरूपापरिज्ञानमपि न संभवति।

श्वेताश्वतरोपनिषदि को जन आत्मानमात्मनि अवाप्नोतीति ज्ञापयन् कथयति ऋषिः- “ तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वर्णीषु चाग्निः। एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति”^{१८} यो जनः सत्यं वदति अर्थात् विश्वस्य विश्वेषां व्यक्तीनां वस्तूनां वरीयसे (वरीयस्-अत्यन्तं वरः=अमरकोशे) वाचं विप्रयुङ्क्ते, तथा च तपसा अर्थात् इन्द्रियाणि मनश्च एकाग्रं विधाय जागरूकः सन् करणीयानि कार्याणि करोति, एवंविधः साधको निजात्मनि आत्मानमनुपश्यति। अनुपश्यति प्रयोगोऽयं विचारणीयो विद्यते यत् सत्यपरायणः, तपोलग्नो जिज्ञासुः आत्मानं भूयोभूयः ज्ञातुमनुभवितुमवलोकयितुं शक्नोति। भावोऽयं तस्मै निर्गतकल्मषाय आत्मदर्शनम्, आत्मनः ज्ञानमवितथं भवति,^{१९} न कोऽपि भ्रमो माया वेति। आत्मदर्शनस्य अपरोऽपि अद्भुतो लाभो विज्ञापितो विज्ञैः यत्यदास्यमनसि कापि जिज्ञासा, आशङ्का, पृच्छा वोदेति तदा तस्याः समाधानं साधकः समश्नुत इति अधिगतपरमार्थानामनुभवः।^{२०} सत्येन तपसा परमेशकृपया चेदं सर्वमवाप्यते इति पुनरपि उद्घोषयति ऋषिः-“ तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्”^{२१} अस्य श्लोकस्याशयो विशेषेण अवधेयो यन्मुमुक्षुः आदौ श्रवणमनननिदिध्यासनश्रद्धासातत्येन निर्विकारो भूय स्वरूपञ्चानुभूय तत अन्यान् उपदिशेत्। धर्मे, उपदेशे च नियमोऽयमद्यत्वेयत्किञ्चिदपि न परिपाल्यते अतएव शृण्वन्तोऽपि न शृण्वन्ति जनाः उपदेष्टुन्, श्रुतमपि जीवने नानुपालयन्ति। अधिकारिणः, राजनीतिकाः तैरुक्तमवधीरयन्ति किन्तु कालिदासस्य तपस्विनामादेशं राजा प्रतिकर्तुं नोत्सहते, चक्रवर्तिनं पार्थिवं दुष्यन्तं निर्दिशति वैखानसः- राजन् साधुसन्धानं सायकं प्रत्यावृत्य नियते स्थाने संस्थापय, राज्ञे प्रदत्तं शस्त्रस्योद्देश्यमार्त्तानां रक्षास्ति, ये निरपराधाः तेषु प्रहाराय एतेषां शस्त्राणामुपयोगो नैव करणीयः।^{२२} आज्ञामिमामाकर्ण्य नृपः तथैवाचरति।^{२३} राजापि जानाति यदिमे तपस्विन

१८ श्वेताश्वतरोपनिषद् १.१५, (ख) मुण्डकोपनिषद् ३.१.५ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।

१९ महाकविना कालिदासेन प्रकरणेऽस्मिन् भगवतः शङ्करस्य साधकरूपेण कियन्मनोहरं प्रेरणाप्रदञ्च वर्णनमकारि, वर्णनममुमधीत्य प्रतिभाति यत् कवेः स्मृतौ उपनिषदियं साक्षात् समायातासीत्। तद्यथा-“ मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्। यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्” कुमारसम्भवः ३.५०

२० योगी कथामृत- एक योगी की आत्मकथा में स्वामी योगानन्द लिखते हैं- गुरुजी आपने मेरी गुल्थी सुलझा दी है। मैंने कृतज्ञतापूर्वक मुस्कराते हुए कहा “ मैं यह अनुभव करता हूँ कि मैंने ईश्वर को पा लिया है क्योंकि जब कभी कार्यशीलता के बीच मेरी अवचेतनावस्था में ध्यान का आनन्द मेरे अन्तर्मन में लौट आता है, तब हर काम में, यहाँ तक कि छोटे छोटे ब्योरों में भी मुझे सही मार्ग अपनाने का सूक्ष्म निर्देशन प्राप्त होता रहता है”। समाधि-लाभ, पृ. २१९, तेरहवां संस्करण, २००२, योगदा सत्सङ्ग सोसायटी आफ इंडिया, दक्षिणेश्वर, कोलकाता।

२१ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.२१

२२ अभिज्ञानशाकुन्तलम् १.११

अतीव तेजस्सम्पन्नाः सन्ति, सेनापतिमुद्बोधयन् आदिशति दुष्यन्तो यत् तपोवनमविघ्नमस्तु, अनावश्यकान् अतिक्रमेण ते अस्मान् दग्धुं प्रभवन्ति।^{२४} दीपशिखाकविमते^{२५} तपसि संलग्नाः, विशुद्धान्तकरणाः, विगतकल्मषाः सर्वैः सम्मान्याः वन्दनीयाश्च यतोहि येन यत्किञ्चिदपि महार्घं वस्तुजातं दीयते उपहारीक्रियते, परं तत्सर्वं तापसैः निर्मितं प्रसारितममृततुल्यं वातावरणस्य तुलां नाधिरोहति^{२६}। पूतानां जनानां पावनानां स्थानानां च सान्निध्यं समवाप्यानुभूतं सुखमनुपमेयं खलु। पार्थिवः दुष्यन्तः मारीचमुनेराश्रमे संप्रविश्य अमन्दमानन्दमनुभवन् अवदत्- “ स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतहृदमिवावगाढोऽस्मि”।^{२७} कथनमिदं बहु महत्त्वमवधारयति यतोहि नृपः दुष्यन्तो मघोनःनिदेशं साम्प्रतमेव सम्पूर्य साक्षात् स्वर्गादेव समागतः, तस्येदं वक्तव्यंतपसः महत्तां पावनतामुच्चताञ्च द्योतयति अर्थात् तपसि, तपःस्थल्यां च कापि अवाच्या अनिर्वचनीया अनुभूतिः या हि अतिशेते समस्तानि स्वर्गस्थानि सुखानि।

तपः आरभमाणेन जनेन विरोधिन उत्कण्ठाजनकाः प्रसङ्गाः परिवर्जनीया इति सङ्केतितं कविवरेण।^{२८} अपरतश्च ये खलु आत्मसंयमने सिद्धाः, कोऽपि अन्तराय आकर्षणं वा तेषां विकाराय न कल्पते। तद्यथा- “ श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसङ्ख्यानपरो बभूव। आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति”।^{२९} कुमारसंभवस्य एतेन शिवस्मरप्रसङ्गेन इदमपि विज्ञातं भवति यज्जनेन अवाप्तसिद्धिना सिद्धीनां प्रदर्शनं दुरुपयोगो वा न कार्यः, अनेन सिद्धयस्तु विलुप्ताः जायन्त एव, तस्य प्राकृतनियमभङ्गकस्य जीवनमपि संशयपदवीमधिरोहति। अत्रापि स्मरः सर्वथा विनाशमाप्नोति।^{३०} पूर्वमेघेऽपि “ के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः”^{३१} अयमेव सङ्केतो दत्तः सत्कविना। अपरतश्च सिद्धिदाने समर्थोऽपि गुरुर्वशिष्ठः निजाश्रमे समायातं राजानं दिलीपं वनयोग्यामेव परिचर्यां निर्दिशति, यथा- “सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः। कल्पवित् कल्पयामास वन्यमेवास्य संविधाम्”।^{३२} सिद्धं यत् जगत्कल्याणाय

२३ तदेव, राजा- एष प्रतिसंहतः (इति यथोक्तं करोति)

२४ तदेव २.७

२५ रघुवंशम् ६.६७ सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ....

२६ अभिज्ञानशाकुन्तलम् २.१३

२७ तदेव - सप्तमाङ्के राजामातलिसंवादे।

२८ कुमारसम्भवम् ३.२४ तस्मिन्वने संयमिनां मुनीनां तपःसमाधेः प्रतिकूलवर्ती।

२९ तदेव ३.४०। तथा च- विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। तदेव १.५९

३० तदेव ४.७४ तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी.....। (ख) वर्तमान प्रकरण में योगी की आत्मकथा में एक मुस्लिम चमत्कार-प्रदर्शक नामक अध्याय में इस चमत्कार-प्रदर्शक की स्वीकारोक्ति भी द्रष्टव्य है, वे लिखते हैं - मैं अफजल खाँ, पश्चात्ताप के रूप में और अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त करने के इच्छुकों को चेतावनी देने के लिए यह सब लिख रहा हूँ। भगवान् और मेरे गुरु की कृपा से मुझे जो अद्भुत क्षमता प्राप्त हुई थी, उसका मैं वर्षों तक दुरुपयोग करता रहा हूँ। अहङ्कार के नशे में चूर होकर मैं अपने को नैतिकता के सामान्य नियमों से कहीं परे समझने लगा था। अन्त में मेरे न्याय का दिन आ पहुँचा। पृ. २७०

३१ पूर्वमेघः ५७

३२ रघुवंशम् १.९४

सिद्धीनां प्रयोगः करणीयः, न प्रदर्शनाय, न च अहङ्कारपोषणाय, न चापि आत्मलाभाय। ऋषेः वशिष्ठस्य अनेन प्रसङ्गेन तपःप्रयोजनं प्रयोगश्च स्फुटं जायते।

तपोविषये जगति जनानामवधारणा विद्यते यत् जागतिकानां पदार्थानां प्राप्तये तपो विधेयम् अर्थात् रूपं यौवनं धनमैश्वर्यं पद-प्रतिष्ठावाप्तितपःफलत्वेन विचारयन्ति लोकाः, जनानामिमामेव धारणां ब्रह्मचारिमुखेनप्रतिपादयति कविः, तद्यथा-“ कुले प्रसूतिः प्रथमस्यवेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः। अमृग्यमैश्वर्यं नवं वयस्तपः फलं स्यात् किमतःपरं वद”।^{३३} शाकुन्तलेऽपि कविना प्रकरणमिदमुत्थापितम्, परं तत्र इतोऽपि प्रगुणिता अवस्था वर्णितास्ति योगिनाम्।^{३४} निष्कल्मषचेतसा प्राज्ञेन सर्वमभिज्ञातं भवतीति अभिधाय उपनिषद्भिः दर्शनैश्चउद्धोदिताः लोकाः उच्चतरोद्देश्येपलब्धये अर्थात् तपसा ऐहिकमेव साधनीयं न भवतिप्रत्युतनिर्विकारता प्राप्तव्या भवति, विकाररहितः सन् क्रमशः^{३५} न केवलमामुष्मिकमालभते मुमुक्षुः अपितु जीवन्नपि जीवन्मुक्तः सन्^{३६} अत्रैव अनवरतमानन्दमवाप्नोति।

निष्कर्षः-

इत्थं महाकवेः काव्यानि पश्यामश्चेत् प्रायः सर्वेषु काव्येषु तपोवर्णनं समुपलभ्यते। तपो वर्तते चेत्तापसाः तपोवनानि अपि सन्त्येवातपसे नगरापेक्षया^{३७}आश्रमाः,तपोवनानि श्रेयस्कराणि अभिमतानि कविवरेण। कविपुङ्गवस्य विश्वविख्यातस्य नाटकस्य नायिका शकुन्तला तु जीवनारम्भे, जीवनमध्येऽपि बहुकालं यावत्, जीवनान्ते चतपोवन एव निवसति।रोचते च तस्यै तपोवनम्। कथमिति चेत् ?वनस्थानिकन्दमूलानि, फलानि, वन्यानि च साधकाय आहारशुद्धौ अनायासेनैव सहायकानि भवन्ति, शुद्धतापूर्णं अरण्यस्य वातावरणमपि साधनायै अनुकूलं भवति। मतिमतामभिमतं मतमिदं यत् साधना आरभमानायसाधकाय उत्तमा स्थली वनस्थली। कामक्रोधादीनामपि कृते तत्र न तथा अवकाशः यथा गृहे, नगरे, समाजेविद्यते। अपि च गृहे तु भोजनाच्छादनव्यवस्था सुकरतया प्रचलति, वने तथा न सुकरा अनेन जिज्ञासोः तितिक्षा परिवर्धते। परिवारे सम्पत्तेः, सन्तानस्य तन्तुषु भूयसा सूत्रितः सत्त्व एकाकिजीवनं याथातथ्येनपरिकल्पितुं न शक्नोति, जीवितुं न जानाति, किन्तु एकान्तवासेन क्रमशः सम्पत्तिमदेन, सन्तानमोहेन, शरीररागेण, पद-प्रतिष्ठा-यशोलोभेन परं पारं प्रयातुं प्रयतते यतिः। कालेन विगतकल्मषः सन् तपःप्रभावात् प्रत्यक्षमिव सर्वं पश्यति।^{३८}

३३ कुमारसम्भवम् ५.४१

३४ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ७.१२ प्राणानामनिलेन..... तपस्यन्त्यमी।

३५ योगदर्शनम् ४.११ हेतुफलाश्रयालम्बनैः सङ्गृहीत्वादेशामभावे तदभावः।

३६ महोपनिषद् २.४४ हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः। न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते।

३७ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५.११, शारद्वतः- जाने भवान्युरप्रवेशादित्थंभूतः संवृत्तः। अहमपि-अभ्यक्तमपि स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्। बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनवैमि।

३८ तदेव सप्तमेऽङ्के मारीचोक्तिः।

व्याकरणशास्त्रस्य दर्शनत्वम्

डॉ. रवीन्द्रकुमारः^१

व्याकरणशास्त्रस्य मुख्यं लक्ष्यं लोके प्रयुक्तानाम् अभीष्टशब्दानाम् अन्वाख्यानानेन तेषां साधुत्वासाधुत्वस्य ज्ञानमिति दरीदृश्यते। अनया दृष्ट्या व्याकरणशास्त्रं द्विधा विभाजयितुं शक्यते जिज्ञासुभिः। प्रथमतः प्रक्रियापक्षमवलम्ब्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागद्वारा शब्दानां संस्कारं प्रकृत्य साधुत्वं सम्पाद्यते शब्दानाम्। अनया दिशयैव साधुत्वं पारिभाषयन् नागेशो ब्रूते यत् “साधुत्वञ्च प्रकृतिप्रत्ययान्वाख्येयत्वं पुण्यजनकतावच्छेदकधर्मवत्त्वञ्च”^२ अर्थाद् येषु शब्देषु प्रकृतिप्रत्ययरूपेणान्वाख्येयता स्यात्तथा येषु पुण्योत्पादनक्षमता, ते शब्दाः साधु भवन्ति। एतदेव प्रयोजनं महाभाष्यकारेण पतञ्जलिनाऽपि प्रोक्तं यद् “व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्”^३ अनेन प्रयोजनेन केवलं भाषायाः शरीरे एव केन्द्रीकृतम्, न चार्थरूपे आत्मनि। अत एव यदा व्याकरणशास्त्रं शब्दानामात्मनि अर्थेषु वा गम्भीरं चिन्तनं प्रकरोति, तदैव व्याकरणशास्त्रं दर्शनस्वरूपं धारयति। यथा - किन्नाम धातुः ? तस्य कोऽर्थः? तिङ्प्रत्ययाः केषु अर्थेषु भवन्ति ? स्थानी अर्थस्य वाचक आहोस्विद् आदेशः? समासे पृथक्शक्तिरस्ति न वा? ध्वनेः किं स्वरूपम् ? स्फोटस्य किं तात्पर्यम् ? शब्दस्य किं स्वरूपम् ? उपसर्गा वाचका द्योतका वा ? इत्यादिषु विषयेषु चिन्तनकरणमेव व्याकरणस्य प्रमुखतया दर्शनत्वं भवति।

व्याकरणदर्शने शब्दा अर्थाश्चाभिन्नत्वेन भवन्ति, यतो हि अर्थो न कुतोऽप्यन्यतः समायाति, स शब्द एवार्थरूपे विवर्तते परिवर्तते वा। पुनरपि यथा व्याकरणशास्त्रं शब्दानुशासनं भवति, तथा नार्थानुशासनं व्याकरणमभिधीयते किमत्र हेतुः? शब्देभ्योऽर्थाभिधानं क्रियते। व्याकरणशास्त्रं तु केवलं लोकप्रसिद्धमर्थवन्तं शब्दमुपादायैवान्वाख्यानं करोति। अत्र प्रसङ्गे इदमपि ध्यातव्यं यद् यदि शब्दैरर्थाभिधानं स्वाभाविकं चेद् चार्थे द्वन्द्वे^४, तेन निर्वृत्तम्^५, अनेकमन्यपदार्थे^६, इत्यादिभिः सूत्रैः चादीनामर्थेषु समासविधानं कुतः? गहनमीमांसया चिन्तनेनात्रोत्तरमेवं भवितुं शक्नोति यदाचार्यः पाणिनिरत्र न किमपि अपूर्वमर्थम् अभिधत्ते। पाणिनेः कथनमात्रेणैव न चार्थेषु द्वन्द्वसमासः, अपितु पूर्वत एव लोके सिद्धत्वात् प्रयुक्तत्वाद् वाऽत्रान्वाख्यानमात्रमेव पाणिनिः कुरुते। यथा - नभसि चन्द्रं पश्यतु एवं वचनेन न वक्तुरभिधानकारणाद् नभसि चन्द्रो गतः। चन्द्रस्तु पूर्वत एव विद्यमानो नभसि। विद्यमानं चन्द्रमेव विलोक्य वक्ता अन्याख्यानमात्रं करोति। तथैवात्रापि समवधेयम्।

१ सहायकाचार्यः, व्याकरणविभागः, श्रीभगवानदासादर्शसंस्कृतमहाविद्यालयः, हरिद्वारम्

२ द्र० - परमलघुमञ्जुषा- शक्तिप्रकरणम्

३ द्र० - महाभाष्य- पस्पशाह्निकम्

४ द्र० - अष्टाध्यायी - ०२/०२/२९

५ द्र० - अष्टाध्यायी - ०४/०२/६८

६ द्र० - अष्टाध्यायी - ०२/०२/२४

व्याकरणशास्त्रे दार्शनिकचिन्तनं नार्वाचीनकालतः प्रारब्धम् अपितु प्राचीनकालादेव समारब्धमिदम्। यथा - ओङ्कारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकम्^७ इत्यादिवचनैः शास्त्रीयसमस्यासु चिन्तनं प्रकाशितम्। शब्दो नित्योऽनित्यो वा?^८ कति पदजातानि?^९ उपसर्गं वाचका द्योतका वा?^{१०} सर्वाणि नामानि आख्यातजानि न वा?^{११} किन्नाम निपातः?^{१२} कथं पदानां निर्वचनं कर्तव्यम्?^{१३} इत्यादिषु गम्भीरेषु प्रश्नेषु विस्तरेण मीमांसा यास्केनापि निरुक्ते समुपस्थापिता। अनेन प्रतीतिर्भवति यद् व्याकरणशास्त्रीयं दार्शनिकचिन्तनं प्राचीनकालत एव समारब्धम्।

निरुक्तशास्त्रे प्रोच्यते यद् इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते.....^{१४} एतादृशमेव चिन्तनं वाक्यपदीये भर्तृहरिणाऽपि प्रकाशितम्। तद्यथा -

वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च शाश्वतम्।

दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ।^{१५}

अनेन प्रतिपत्तिर्जायते यद् दार्शनिकमीमांसा व्याकरणशास्त्रे प्राक्तनकालत एव विधीयमाना वर्तते।

व्याकरणशास्त्राणामनुशीलनेनेदमवगम्यते यद् व्याडिकृतः सङ्ग्रहाभिधानग्रन्थोऽपि व्याकरणदर्शनस्याद्वितीयो ग्रन्थः। यत्र विविधविषयानवलम्ब्य गहनं विवेचनं व्याडिना कृतम्। उक्तं चापि महाभाष्यकारेण श्रीमता पतञ्जलिना यत् चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् सङ्ग्रहग्रन्थे परीक्षितानि^{१६} व्याकरणग्रन्थेषु व्याडिनाम्ना ध्वनिवर्णपदवाक्योपसर्गनिपातादीनां सम्बन्धिता नैके सिद्धान्ता उल्लिखिताः। यथा - व्याडिः व्यक्तिपक्षमतावलम्बी वाजप्यायनश्च जातिपक्षमतावलम्बी। एतदेव महाभाष्ये प्रोक्तं यद् द्रव्याभिधानं व्याडिः आकृत्याभिदानादवैकं वाजप्यायनः।^{१७} शब्दानां नित्यानित्यत्वविषयेऽपि व्याडेर्विशिष्टं चिन्तनमासीद्। तद्यथा - सङ्ग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितं शब्दो नित्यो वा स्यात् कार्यो वा। तत्रोक्ता दोषाः प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयो यद्येव

७ द्र० - गोपथब्राह्मणः - ०१/०१/२४

८ द्र० - निरुक्तम् - ०१/०१

९ द्र०- तत्रैव - ०१/०१

१० द्र०- तत्रैव - ०१/०१

११ द्र०- तत्रैव - ०१/०४

१२ द्र०- तत्रैव - ०१/०२

१३ द्र०- तत्रैव - ०२/०१

१४ द्र०- तत्रैव - ०१/०१

१५ द्र० - वाक्यपदीयम् - ०२/३४३

१६ द्र० - महाभाष्यदीपिका-पस्पशाह्निकम्

१७ द्र० - महा० सू० - ०१/०२/६४

नित्योऽथापि कार्यः, उभयथाऽपि लक्षणं प्रवर्त्यमिति।^{१८} एवमेव प्रथमतया व्याडिरेव प्रतिपादितवान् यत् पदस्य वाक्यस्य च निर्णयो भवत्यर्थाधारेणैव, न च रूपाधारेण। यथा -

न हि किञ्चित्पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।

पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते।^{१९}

एतद् हि तत्र व्याडिनाम्ना समुद्धृतम्। इममेव भावं भर्तृहरिरेवं प्रकाशयति। तद्यथा -

वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्। रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते।^{२०}

व्याडिकृतस्य सङ्ग्रहग्रन्थस्येदं विलक्षणं महनीयत्वमवलोक्य भाष्यकारः पतञ्जलिरपि प्राह यद् - शोभना खलु दाक्षायणस्य सङ्ग्रहस्य कृतिः।^{२१} भर्तृहरेरनुसारं सङ्ग्रहनामकोऽयं मूल्यवान् ग्रन्थो व्याकरणं प्रति अत्यल्पनिष्ठानां वैयाकरणानां हस्तयोः सङ्गम्योपेक्षितो भूत्वा विनष्टः। उक्तमपि -

प्रायेण सङ्क्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्। सम्प्राप्य वैयाकरणान् सङ्ग्रहेऽस्तमुपागते।^{२२}

स्वयमेव सूत्रकारोऽयं पाणिनिरपि दार्शनिकविषयेषु सूत्रशैल्यामेव स्वाभिमतं सङ्केतयति। तद्यथा - विप्रतिषेधे परं कार्यम्,^{२३} प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्,^{२४} एवमेव शब्दैः केवलं जातेः व्यक्तेर्वा बोधो न भूत्वा जातिविशिष्टव्यक्तिरथवा व्यक्तिविशिष्टजातिरवगम्यते। स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा^{२५} अनेन सूत्रेणापि रूपग्रहणसामर्थ्यात् शब्दद्वाराऽर्थेन सह तस्य रूपं स्वरूपं वा गृह्यते। इत्थं नैकसूत्रेषु पाणिनेश्शब्दविषयकदार्शनिकदृष्टिरूपलभ्यते,

वार्तिककारः कात्यायनोऽपि नैकवार्तिकैस्साक्षाद् व्याकरणदर्शनं प्रकाशयति। यथा - सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे,^{२६} आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्, एकतिङ् वाक्यम्,^{२७} उभयथा वाक्यपरिसमाप्तिः,^{२८} लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वान्लिङ्गस्य^{२९}। वार्तिकैरेभिरवगम्यते यद् वार्तिककारेणापि यथास्थानं व्याकरणे दार्शनिकचिन्तनबीजानि स्थापितानि।

१८ द्र० - महाभाष्यदीपिका- पस्पशाह्निकम्

१९ द्र० - वाक्यपदीय- हरिवृत्तिः - ०१/२४-२६

२० द्र० - वाक्यपदीयम् - ०१/१२६

२१ द्र० - महाभाष्यम् - ०२/०३/६६

२२ द्र० - वाक्यपदीयम् - ०२/४७६

२३ द्र० - अष्टाध्यायी - ०१/०४/१२

२४ द्र० - अष्टाध्यायी - ०१/०१/६२

२५ द्र० - अष्टाध्यायी - ०१/०१/६८

२६ द्र० - महाभाष्यदीपिका- पस्पशाह्निकम्

२७ द्र० - महाभाष्यम् - ०२/०१/०१

२८ द्र० - महाभाष्यम् - ०८/०४/०२

२९ द्र० - महाभाष्यम् - ०२/०१/३६

भाष्यकारः पतञ्जलिस्तु व्याकरणदर्शनस्य चिन्तनं स्वशास्त्रे पदे पदे करोति। एतस्य चिन्तनं विशुद्धं दार्शनिकं विद्यते। यथा - सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्, तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्^{३०} अस्य सिद्धान्तस्याचरणं कुर्वाणो भाष्यकारः पदे पदे व्याकरणस्य दार्शनिकत्वमुपस्थापयति। तद्यथा - नैतन्मन्तव्यं समुदाये आश्रीयमाणेऽवयवो नाश्रीयते इति। अभ्यन्तरो हि समुदायस्यावयवः। तद्यथा - वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति।^{३१} पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेनेति नैतत् सारम्। पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, पश्चादुपसर्गेण। साधनं हि क्रियां निवर्तयति, तामुपसर्गो विशिनष्टि। अभिनिवृत्तस्य चार्थस्य उपसर्गेण विशेषः शक्यो वक्तुम्। सत्यमेवैतत्। यस्त्वसौ धातूपसर्गयोरभिसम्बन्धस्तमभ्यन्तरं कृत्वा धातुः साधनेन युज्यते। अवश्यं चैतदेव विज्ञेयम्।^{३२} अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारो दृश्यते।^{३३} सति प्रयोजने न ज्ञापकं भवति।^{३४} प्रयोजनं नाम यन्नियोगतः स्यात्।^{३५} इत्यादिषु महाभाष्यस्थलेषु भाष्यकारो दार्शनिकचिन्तनस्य बीजारोपणं करोति। महाभाष्यकारस्य चिन्तनमेतावदुत्कृष्टं गम्भीरं सूक्ष्मं च वरीवर्ति यद् ये व्याकरणसिद्धान्ता महाभाष्ये उद्धृतास्ते एव लोके मान्याः सन्ति, अपरे त्वमान्या एव। वैयाकरणनिकाये महाभाष्यमेव परमं प्रमाणम्। येषां सिद्धान्तानां कृते इष्टमेवैतत् सङ्ग्रहीतं भवति^{३६} इत्युच्चार्य सङ्ग्रहणं कृतं भाष्ये, ते एव मान्याः प्रामाणिकाश्च। अपरे सिद्धान्तास्तु दृष्टिपथमेव नायन्ति तथा च वैयाकरणनिकाये प्रामाणिका अपि न। अत्र यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्^{३७} एतद् वाक्यमेव प्रमाणरूपम्। अत एव सूत्राणां पुरस्ताद् भाष्येष्टीनां स्थानमधिकं प्रामाण्येन स्वीक्रियते। गाम्भीर्याददलब्धगाधरूपं व्याकरणाकरं भाष्यं सर्वेषां न्यायबीजानामुद्भवस्थलं विद्यते। भर्तृहरिरपि महाभाष्यविषये ब्रूते यद् -

अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्। तस्मिनकृतबुद्धीनां नैवावस्थितिनिश्चयः॥

बैजिसौभवहर्षक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः। आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे सङ्ग्रहप्रतिकुञ्चके॥

पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्ये बीजानुसारिभिः। स नीतो बहुशाखात्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥^{३८}

व्याकरणदर्शनस्य प्रारम्भस्तु प्राक्कालादेव दरीदृश्यते परञ्च व्याकरणशास्त्रं दर्शनरूपे व्यवस्थितरूपेण भर्तृहरिणैव प्रतिष्ठापितम्। भर्तृहरिणा यदपि प्रोक्तम्, तत्सर्वमपि पाणिनिसम्मतमेव। अपाणिनीयवचनं तु वैयाकरणनिकाये सर्वदाऽमान्यमेव। उक्तमपि भाष्यकारेण यद् सिद्धयति.....सूत्रं तु

३० द्र० - महाभाष्यम् - ०२/०१/५८

३१ द्र० - महाभाष्यम् - ०१/०१/५६

३२ द्र० - महाभाष्यम् - ०६/०१/३५

३३ द्र० - महाभाष्यम् - ०४/०३/८६

३४ द्र० - महाभाष्यदीपिका, प्रत्याहाराहिकम्

३५ द्र० - महाभाष्यम् - ०१/०१/०३

३६ द्र० - महाभाष्यम् - ०४/०१/७४

३७ द्र० - व्याकरणसिद्धान्तकौमुदी - ०१/०१/२९

३८ द्र० - वाक्यपदीयम् - ०२/४८०-४८१, ४८३

भिद्यते.....अपाणिनीयं तु भवति.....। यथान्यासमेवास्तु।^{३९} अनेन प्रतीयते यद् व्याकरणदर्शनविचारेऽपि पाणिनिसम्मतविचाराणामेव समादरो न चापाणिनीयस्य। उक्तमपि यथा -

सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके। सूत्रं योनिरिहार्थानां सूत्रे सर्वं प्रतिष्ठितम्।^{४०}

एवं च परम्परया क्रमेण च व्याकरणदर्शनस्य गम्भीरं स्वरूपमस्माकं पुरतः समायाति। व्याकरणदर्शनेन व्याकरणशास्त्रस्य सूक्ष्मतया चिन्तनं प्रस्तूयते। व्याकरणस्य सिद्धान्तानां सतर्कं समुपस्थापनं गम्भीरदार्शनिकदृष्ट्या व्याकरणदर्शने विधीयते। व्याकरणदर्शनपरम्परां संवर्धयितुं पुण्यराज-हेलाराज-धर्मकीर्ति-कुमारिलभट्ट-मण्डनमिश्र-वाचस्पतिमिश्र-जिनेन्द्रबुद्धिकैयटहरदत्तभोजदेवपुरुषोत्तमदेव-सायणाचार्य-भट्टोजिदीक्षित-कौण्डभट्टनागेशभट्टादीनां प्रयासोऽविस्मरणीय एव। एतेषां सत्प्रयासैरेवाद्यापि व्याकरणदर्शनस्य ग्रन्था व्याख्याश्च समुपलभ्यन्ते, तदध्ययनं प्रकृत्यैव व्याकरणदर्शनपरम्पराऽद्यापि जीवति श्वसिति च।

व्याकरणदर्शनस्य गाम्भीर्यं स एव जिज्ञासुरध्येता ज्ञातुं शक्नोति, यश्च व्याकरणशास्त्रे निष्णातः। यो हि व्याकरणं सम्यग् नाधीतवान्, असौ व्याकरणदर्शनस्य गम्भीरेऽरण्ये न प्रवेष्टुं शक्नोति। तस्य कृते तु व्याकरणदर्शनं सर्वदा हेयमेव। व्याकरणदर्शनेन शब्दस्य सर्वस्वमपि दृढतया सूक्ष्मतया च ज्ञातुं शक्यते। यो जनः शैशवास्थायां न सम्यग् व्याकरणं पठति, स न व्याकरणदर्शनमवगन्तुं शक्नोति। अनेन स्पष्टप्रतीतिर्यत् पूर्वं सम्यक्तया व्याकरणं पठनीयम्। सूत्राणां सार्थं सोदाहरणं सप्रत्युदाहरणं च व्याख्यानं बुद्धिस्थं करणीयम्, तदनु भाष्यं समस्तमपि गुरुमुखात् पठनीयम्, तदनु एव व्याकरणदर्शनारण्ये प्रवेशः कर्तव्यः। यद्येवं न करिष्यामश्चेद् व्याकरणदर्शनमपि न ज्ञास्यामस्तथा च व्याकरणस्य प्रारम्भिकं ज्ञानमपि न कर्तुं शक्नुमः। अत एव व्याकरणदर्शनं व्याकरणस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मतममध्ययनं विद्यते। शब्दस्यात्मतत्त्वं ज्ञातुं व्याकरणदर्शनस्य ज्ञानमावश्यकम्। अद्यत्वे व्याकरणस्य दार्शनिकपक्षं प्रति जिज्ञासूनाम् औदासीन्यं प्रतीयते। तस्य हेतुः कः? तत्र व्याकरणस्य मूलभूतसिद्धान्तानां ज्ञानाभावः। छात्रावस्थायां यदि गुरोः समीपे वसन् सादरम् अध्ययनं व्याकरणस्य क्रियते चेत् तदनु व्याकरणदर्शनं सुगममेव स्याद्।

लोके व्याकरणस्य दर्शनत्वं किम्? किञ्च तस्य स्वरूपम्? इत्यादीनां सरलानां प्रश्नानामपि ज्ञानं प्रायेण छात्राणां पार्श्वे न भवति। अनेन लेखनेनेदमेव ज्ञानं कार्यते यद् व्याकरणदर्शनं कीदृशं भवति? तस्य किं स्वरूपम्? येन जिज्ञासवो व्याकरणदर्शनेन सह परिचिता भवेयुः।

व्याकरणमेव सर्वेषामपि शास्त्राणां मूलभूतम्। व्याकरणं विना नान्येषां शास्त्राणां सम्यग् बोधं कर्तुं शक्योऽध्येता। महाभाष्ये प्रोक्तं यत् प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।^{४१} पाणिनीयशिक्षायामपि प्राह यद् मुखं व्याकरणं स्मृतम्।^{४२} भर्तृहरिरपि वाक्यपदीये व्याकरणमहत्त्वं

३९ द्र० - महाभाष्य- पस्पशाह्निकम्

४० द्र० - तन्त्रवार्तिकम् - ०२/०३/११

४१ महाभाष्य- पस्पशाह्निकम्

४२ पाणिनीयशिक्षा - ४२

निर्दिशन् प्राह यत् प्रथमं छन्दसामङ्गम्।^{४३} तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।^{४४} तथा च पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते।^{४५} इत्यादिभिराप्तवचनैरिदं सुतरामवगम्यते यद् व्याकरणमन्तरा नास्ति गतिः शास्त्रं पिपठिषूणाम्। अतो हेतोर्व्याकरणं सर्वैरपि समधीत्यैव व्याकरणदर्शनं विज्ञेयम्, तदनु चान्यानि शास्त्राणि सारल्येनावगम्यानि भवितुमर्हन्ति।

४३ वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्डम् - ११

४४ वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्डम् १३ -

४५ वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्डम् १४ -

मन्त्राणाम् अर्थानुशीलने सम्प्रयोगे च ऋषिदेवताछन्दसाम् उपादेयत्वम्

डॉ० वेदव्रतः^१

वेदाः न केवलं वैदिकसंस्कृतेरपितु विश्वस्य सर्वासामपि संस्कृतीनां मूलस्रोतांसि सन्ति। सृष्टेरादौ गतकल्मषाणां करुणहृदयानाम् ऋषीणां पावनान्तःकरणे वेदज्ञानज्योतिराविष्कृता। एते वेदाः सार्वभौमाः, सार्वकालिकाः, सार्वजनीनाश्च सन्ति। मानवस्य पथप्रदर्शकाः इमे वेदाः। वेदज्ञानेनैव मानवः परां शान्तिं समधिगच्छति।^२ पुराकाले वेदानामध्ययनं सर्वेषां कृते अनिवार्यमासीत्। किन्तु कालान्तरेण परम्परेयं विच्छिन्ना बभूव। परिणामतो वेदार्थावबोधने सामान्याः जनाः महान्तं क्लेशमन्वभवन्। एतस्याः समस्यायाः समाधानाय क्रान्तद्रष्टारः ऋषयः ब्राह्मणग्रन्थान् वेदाङ्गानि च प्रणिन्युः। यद्यपि एते ग्रन्थाः वेदार्थज्ञाने सहायकाः सन्ति तथापि वेदार्थावबोधनाय मन्त्रस्य ऋषेः, देवतायाः, छन्दसश्चापि महती उपादेयता विद्यते। एतैः विना मन्त्रस्य अर्थस्य ज्ञानं अथ च तस्य यथास्थानं विनियोगः साधुतया न सम्भवति। अतो वेदार्थपरिज्ञानाय एतेषां ज्ञानं नितान्तमावश्यकं भवति।

गत्यर्थकात् ऋष धातोः ऋषिः शब्दो निष्पद्यते- ऋषति, गच्छति, प्राप्नोति, जानाति वा स ऋषिरीश्वरः।^३ शब्दकल्पद्रुमकार ऋषिपदस्य निरुक्तिं कुर्वन् लिखति- ऋषति, प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान् ज्ञानेन पश्यति संसारपारं वेति ऋषिः। अस्मिन् विषये मत्स्यपुराणकारोऽपि लिखति यत्-

गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिकारणम्।

यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता मता।।^४

आचार्यसायणः ऐतरेयब्राह्मणे ऋषिपदस्य व्युत्पत्तिं प्रदर्शयन् लिखति यत्- ऋषिः अतीन्द्रियार्थमन्त्रकृत्।^५ आचार्ययास्कः ऋषिशब्दस्य निर्वचनं कुर्वन् लिखति यत्- ऋषिः दर्शनात्।^६ महर्षिदयानन्दः-यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायाम्.. इति यास्कवचनस्य व्याख्यानावसरे ऋषिपदस्य अर्थं कुर्वन् लिखति ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम्- ऋषिरीश्वरः सर्वदृग्।^७ सत्यार्थप्रकाशस्य सप्तमे उल्लासे अपि महर्षिदयानन्दः ऋषिविषये लिखति-

१ संस्कृत-विभागः, गुरुकुल-काङ्गडी (समवविश्वविद्यालयः) हरिद्वारम्

२ तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।

३ उणादि०४.१२१

४ मत्स्यपुराणम् १२०.८३

५ ऐतरेयब्राह्मणे ३.१.२

६ निरुक्ते २.१३

७ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचारः, पृ० ६३

जिस जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिस के पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित किया और दूसरों को पढाया भी इसीलिए अद्यावधि उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणीय लिखा जाता है।^८

नैकैः आचार्यैः कृतैः ऋषिशब्दस्य निर्वचनैः विज्ञायते यत् ये मन्त्रस्य दर्शनं कृतवन्तः त ऋषयः अर्थात् येन ऋषिणा यस्य मन्त्रस्य दर्शनमकारि स तस्य मन्त्रस्य ऋषिः विज्ञेयः। चरकसंहितायाः सूत्रस्थानस्य १.७तमस्य श्लोकस्य व्याख्यायां भट्टारहरिश्चन्द्रो ऋषीणां चतुर्विधान् भेदान् मनुते-

मुनीनां चतुर्विधो भेदः। ऋषयः ऋषिकाः ऋषिपुत्राः, महर्षयश्च।

पुराणकारः पञ्चविधान् ऋषीन् मनुते-

अतीतानागतानां च पञ्चधा ह्यार्षिकं स्मृतम्।

अतस्त्वृषीणां वक्ष्यामि तत्र ह्यार्षिसमुद्भवम्॥

इत्येता ऋषिजातीस्ताः नामभिः पञ्च वै शृणु॥^९

न केवलं वेदार्थावबोधनाय अपितु वेदकालविनिश्चयाय अपि ऋषीणां ज्ञानमत्यधिकमावश्यकम्। प्रस्तुतप्रसङ्गे एतस्य विषयस्य परिचर्चा अपि अनिवार्या प्रतीयते यत् ऋषयो मन्त्राणां द्रष्टारः उपदेष्टारः, व्याख्यातारः सन्ति न तु वेदमन्त्राणां रचयितारः। महर्षिवात्स्यायनोऽपि आप्तपदस्य अर्थं प्रकटयन् अस्मिन् विषये लिलेख-

आप्ता खलु साक्षात् कृतधर्मा।^{१०}

य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च।^{११}

केचन आधुनिकाः विद्वांसः लिखन्ति यत् वेदे नैकेषां मन्त्राणां पुनरावृत्तिः दृश्यते, अयन्तु दोषो वर्तते। किन्तु आर्याः जानन्ति यत् एतादृशाणां मन्त्राणाम् अर्थे भिन्नता भवति। पश्यामः वयं ब्राह्मणग्रन्थेषु यत् भिन्नेषु भिन्नेषु सूक्तेषु समागतानां सममन्त्राणामपि भिन्नाः भिन्ना अर्थाः दरीदृश्यन्ते। एतेषां मन्त्राणां विनियोगोऽपि भिन्नेषु भिन्नेषु प्रसङ्गेषु भवति। मन्त्रस्य ऋषेः ज्ञानं विना श्रौतस्मार्तकर्मादयोऽपि पूर्णतां न गच्छन्ति। अस्मिन् विषये आचार्यकात्यायनो लिखति-

न ह्येतत् ज्ञानमृते श्रौतस्मार्तकर्मप्रसिद्धिः।^{१२}

८ सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास

९ ब्रह्माण्डपुराणम् ३२.७०

१० न्यायदर्शनम् १.१.७

११ न्यायदर्शनम् २.२.६७

१२ कात्यायनसर्वानुक्रमणी १.१

स्वामिदयानन्दो लिखति यत् स्मरणार्थम् ऋषीणां नामानि मन्त्रैः सह प्रयुक्तानि। भावोऽयं वर्तते यत् मन्त्रद्रष्टृन् ऋषीन् प्रति श्रद्धाभावान् समर्पयितुं ते ऋषयःस्माभिस्मर्तव्यः। यतो हि यदा यदा ऋषयो जायन्ते तदा तदा वेदार्थो लोके प्रसरति। सृष्टेः आदिकालात् ऋषयः अस्यां प्रवृत्तौ प्रवृत्ता भवन्ति अतस्ते श्रद्धास्पदम्।

वैदिकवाङ्मये देवशब्दः अतीव महत्त्वपूर्णः प्रसिद्धश्च। ऋचामर्थपरिशीलनं मुख्यतया एतदाधृत्यैव भवति। देवतापरिज्ञानार्थं निरुक्तशास्त्रस्य ज्ञानम् अतीव महत्त्वपूर्णं वर्तते। निरुक्तशास्त्रस्य ज्ञानं विना देवतापरिज्ञानं कथमपि न सम्भवति। अतएव निरुक्तस्य प्रयोजनानि प्रतिपादयता आचार्येण यास्केन उच्यते-

अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशाः भवन्ति।

देवशब्दः दिवु धातोः घञि प्रत्यये कृते निष्पद्यते। अस्य धातोः दश अर्थाः सन्ति। आचार्यसायणः आचार्यदयानन्दश्च देवशब्दस्य क्रीडादीन् दश अर्थान् स्वीकुरुतः। आचार्ययास्कः देवशब्दस्य निरुक्तिं कुर्वन् लिखति-

देवो दानाद् वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा।^{१३} देवशब्दस्य यद्यपि नैकाः निरुक्तयः नैकाः परिभाषाश्च शास्त्रेषु शास्त्रकृद्भिराचार्यैः प्रतिपादिताः। मन्त्रस्य देवता विषये अपि आचार्यैः विस्तरेण विवेचना अकारि नैकत्र। आचार्ययास्कः निरुक्ते लिखति यत् यं पदार्थं कामयमानाः ऋषिः यं देवं स्तौति स तस्य मन्त्रस्य देवता भवति-

यत् काम ऋषिः यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः स मन्त्रो भवति।^{१४}

अयं नियमः वेदमन्त्राणाम् ऋषीणां परिज्ञानाय लिखितः आचार्ययास्केन।

निर्दिष्टदेवतामन्त्रेषु अयमेव नियमः सर्वैः आचार्यैः स्वीक्रियते।

आचार्यस्य यास्कस्य एतस्य वाक्यांशस्य व्याख्यां कुर्वन् आचार्यः दयानन्दो लिखति- ऋषिरीश्वरः सर्वदृग् यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्देवतो भवति। किञ्च यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति, स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योऽस्तीति विज्ञायते।^{१५}

ऋक्सर्वानुक्रमण्यामपि आचार्यो लिखति यत्- यत् तेनोच्यते सा देवता अर्थात् मन्त्रस्य प्रतिपाद्यो विषयः तद्देवतः। आचास्य यास्कस्य देवताविषयकं भावमेव सङ्गच्छते आचार्यकात्यायनस्य वचनम्।

यत्र मन्त्रेषु देवतानिर्दिष्टः तत्र तु समस्या नास्ति किन्तु यत्र स्पष्टतया देवतायाः उल्लेखो नास्ति तत्र देवतायाः ज्ञानं कथं भविष्यति? इति विषये अपि आचार्यो यास्कः निरुक्ते लिखति-

१३ निरुक्ते ७.१५

१४ निरुक्ते ७.१

१५ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचारः, पृ० ६३

तद्येऽनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्देवताः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्त्यथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिका नाराशंसा इति नैरुक्ता, अपि वा सा कामदेवता स्यात् प्रायो देवता वा अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यं याज्ञदैवतो मन्त्र इति।^{१६}

अर्थात् यत्र देवता न निर्दिष्टस्तत्र यज्ञ एव देवता स्वीकर्तव्यः। यैः साधनैर्यज्ञो विधीयते तानि साधनानि अपि अनिर्दिष्टदेवतामन्त्राणां देवता स्वीकर्तव्यानि। अस्मिन् प्रसङ्गे स्वामिदयानन्दो लिखति यत्-

मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद्याज्ञदैवता एव सन्तीति निश्चीयते।^{१७}

अत्र परिगणनम्। गायत्र्यादिच्छन्दोऽन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञा, यज्ञाः यज्ञाङ्गं, प्रजापतिः, परमेश्वरः, नराः, कामः, विद्वान्, अतिथिः, माता, पिता, आचार्यश्चेति कर्मकाण्डादीन् प्रत्येता देवताः सन्ति। परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः।^{१८}

निरुक्तटीकाकारः दुर्गस्तु मनुते यत् वेदज्ञो मनीषी कामनानुकूलं देवतां निश्चिनुतात्- कामतो देवताः कल्पयाः।^{१९}

एवमेव अन्यत्रापि निरुक्ते ३.१६ स्थले ऋग्वेदस्य ऋचः देवताप्रसङ्गोऽपि दुर्गः लिखति यत् यथाभिमतं देवता कल्पनीया-

स एष सर्वथाप्येवं दुरवधार देवतो मन्त्रः.... एवमेव यथाभिमतं.... दैवतं योज्याः।^{२०}

निष्कर्षरूपेण वक्तुं शक्यते यत् मन्त्रस्य प्रतिपाद्यः विषय एव देवता। वेदमन्त्रेषु देवताया निर्देशः किमर्थं भवति? अस्मिन् विषये महर्षिदयानन्दो लिखति-

जिन मन्त्रों में जिन-जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की गई है, उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहिए अर्थात् जिस-जिस मन्त्र का जो-जो अर्थ होता है, वही उसका देवता कहलाता है। यह देवता मन्त्रों के साथ इसलिए लिखा जाता है कि मन्त्रार्थ का यथार्थ ज्ञान हो सके।^{२१}

वस्तुतः देवस्तुत्यर्थमेव वेदमन्त्राणां रचनाकारि परमेश्वरेण। तत्र महाभारतकारोऽपि लिखति अस्मिन् प्रसङ्गे-

स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयंभुवा।^{२२}

तदेवं स्पष्टं यत् वेदानां मन्त्राणां सम्यगर्थानुशीलनाय देवताविज्ञानं विदुषा साधुतया विज्ञेयम्।

१६ निरुक्ते ७.४

१७ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचारः, पृ० ६४

१८ तत्रैव

१९ निरुक्त दुर्ग टीका पृ० ७२८

२० निरुक्त दुर्ग टीका पृ० २३२

२१ तत्रैव पृ० १९०

२२ महाभारतम् शा०पर्व ३३५/४९

मन्त्रस्य तृतीयं प्रमुखम् अङ्गं छन्दो वर्तते। छन्दस्शब्दः छदि संवरणे धातोः निष्पद्यते। शतपथब्राह्मणकारो लिखति यत् मृत्योः भीताः देवाः आत्मानं छन्दोभिः आच्छादितवन्तः अतः छन्दसां छन्दस्त्वम्-

यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।

ऋग्सर्वानुक्रमणीकारो निगदति यत् यत्र अक्षराणां सङ्ख्या नियता भवति तच्छन्दः- यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः।^{२३}

ज्ञानमयानां, कर्ममयानां, यज्ञमयानाम् उपदेशमयानां परमकारुणिकानां वेदानां मन्त्राः छन्दोमयाः सन्ति। यद्यपि यजुर्वेदे केचन मन्त्राः गद्यमयाः अपि लभन्ते किन्तु वेदेषु प्रधानता छन्दसामेव (पद्यस्य) वर्तते। वेदानाम् अर्थपरिज्ञानाय छन्दसाम् उपादेयत्वविषये आचार्यः कात्यायनः कथयति-

मन्त्राणामार्षेयच्छन्दो दैवतविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति।^{२४} अर्थात् मन्त्रस्य देवतां छन्दश्च विज्ञाय एव मानवः श्रेयः प्राप्नोति।

मानवस्य शरीरे जीवने चापि पादयोः अतीव महत्त्वपूर्णा स्थितिः। पद्भ्यां विना मानवस्य गतिरसम्भवा। छन्दांसि अपि वेदस्य पादोपमानि सन्ति। पाणिनिशिक्षायाम् आचार्यपाणिनिः वेदाङ्गानां महत्त्वं प्रतिपादयन् लिखति-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।

ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

तस्मात्साङ्गमधीत्येव ब्रह्मलोके महीयते॥^{२५}

यथा पद्भ्यां विना मानवस्य गतिः सम्भवा नास्ति तथैव छन्दोज्ञानं विना विदुषो वेदे गतिः सम्भवा नास्ति अर्थात् वेदस्य अर्थाधिगमो न सम्भवति।

उपर्युक्तेन विवेचनेन सुष्पष्टमिदं यत् ऋषिदेवताछन्दसां ज्ञानं विना वेदमन्त्राणामर्थानां यथार्थाभिप्रायो नैवाधिगम्यते। अत एव अनुक्रमणीकाराः लिखन्ति यत् देवतर्षिज्ञानं विना ये यज्ञादिषु मन्त्राणां विनियोगं कुर्वन्ति, यज्ञं सम्पादयन्ति स मन्त्रः कण्टकः सः यज्ञः कण्टकः अस्ति। उव्वटाचार्यः यजुर्वेदभाष्यस्य आरम्भे लिखति यत् गुरोः तर्कम्, तर्केण शतपथब्राह्मणं विज्ञाय शतपथब्राह्मणानुसारं देवताविषयं, ऋषिविषयं छन्दोविषयं च निरुपयिष्यामि।^{२६} मन्त्रार्थवबोधने एतेषां महत्तां विज्ञाय एव आचार्याः मन्त्रविनियोगकाले ऋषि-

२३ ऋग्सर्वानुक्रमणी २६

२४ ऋक् सर्वानुक्रमणी १४

२५ पाणिनीयशिक्षा ४१-४२

२६ गुरोस्तर्कः तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः।

ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताछन्दसं च यत्॥ यजुर्वेदभाष्यम् पृ० १

मन्त्राणाम् अर्थानुशीलने सम्प्रयोगे च ऋषिदेवताछन्दसाम् उपादेयत्वम्

देवता-छन्दसां उच्चारणम् आवश्यकं मन्वते। यथार्थतया यदि ब्रूमस्तर्हि मन्त्राणां शक्तिस्तदेवताधीना, मन्त्राणाम् आधाराः तच्छन्दांसि तथा मन्त्राणां द्रष्टारः ऋषयस्सन्ति। अतः एते त्रयोऽपि वेदार्थे प्रमुखाः सन्ति।

वस्तुतः देवतां विज्ञाय एव मन्त्रेषु प्रतिपादितस्य अर्थस्य प्राप्तिः सम्भवति। यत्काम ऋषिः यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्.. इत्यत्र समागतस्य अर्थपत्यम् पदस्य व्याख्यायाम् आचार्यो दुर्गो लिखति-

अमुष्याः देवतायाः प्रसादेन अमुष्य अर्थस्य पतिर्भविष्यामि इति।

अतः यदि वेदमन्त्रमधीत्य तदर्थं विज्ञाय मन्त्रप्रतिपादितान् भावान् पदार्थान् वयमीप्सामः तर्हि ऋषिदेवताछन्दसां ज्ञानं नितान्तमावश्यकम्।

The *Gita*- the healing Holy Book and Chanderkant in *Campus:
Predicaments of Vice -Chancellor*

Prof. Ambuj Sharma, Dr. Parnav Kumar Vaidik

Gmail- parnaveng@gmail.com

Abstract:-

The *Gita* is the most respected, deified, referred and holiest text and scripture of India. It is the divine talk between Lord Krishna and Arjuna at the battleground of Kurukshetra when Arjuna had become emotionally frail and refused to fight the war, Krishna acts as his teacher and motivates him to do actions as the battlefield demands. Shri Krishna's motivational talks in the form of divine verses completely change and transform Arjuna. Now he becomes sincere and dedicated warrior of battlefield. The *Gita* is responsible for this sea change and transformation in his outlook about life. So, the *Gita* the hallowed wisdom book of India is the great guiding force of the youth as well. It gives essence to life, acts as a lighthouse for those who feel defeated in the battlefield of life. It is the eternal river of philosophical and practical knowledge. It guides us by showing various spiritual paths through which we can gain self-knowledge as well as inner strength. Chanderkant is the main character of the novel *Campus: Predicaments of Vice -Chancellor*^१. It has autobiographical traces. The present paper tries to trace the effect of the *Gita*^२ on the personality of Chanderkant. This paper shows how the *Gita* has strengthened the personality of a man who in the beginning feels low. This paper also elaborates the various dimensions which the *Gita* teaches and reveals for the success and development of an Ideal human life.

Key words: -

Predicaments, the *Gita* Campus, Confidence, Shloka, Solace, Waves, Healing etc.

The *Gita* is the essence of Spirituality and Karma is the basis of the *Gita*. Karma is the one who elevates man, enhances his honour and hoists the flag of

१ A famous Novella by K.L Kamal who was a former V.C. of Jaipur University.

२ The holy Indian wisdom book spoken by Shri Krishna.

man in all the ten directions. A person without action is like a dead person even though he is alive. That is why karma is the identity of vitality and the proof of life. Aristotle has also talked about the importance of Karma in his great work *Politics* and his ideal tragic hero is the man of action. It seems that even Aristotle is not untouched by the knowledge of the *Gita*. Similarly, Matthew Arnold is also influenced by the knowledge of the *Gita*. So now the question arises, what type of Karma men should do? It can be said without confusion that man should do good deeds. These Good deeds will develop the personality of man and at the same time will make the society self-respecting and moral. The Karma principle propounded by Shri Krishna in the *Gita* is the moral current that acts as a force against injustice. It was this wonderful Karma principle that inspired Arjuna to fight against injustice.

The *Gita* the song of Yogiraj Shri Krishna is the essential Indian ancient wisdom-book. It is a great guiding force of Indian Youth as well as whole mankind. The relevance of The *Gita* has become more important for modern human society. The *Gita* can guide those who are misguided by the tempest of materialistic gadgets. Great thinkers like Swami Dayananda Saraswati^३, R.W. Emerson^४, T.S Eliot^५, Swami Vivekananda^६, and Albert Einstein^७ etc. were greatly influenced by The *Gita*.

Campus: Predicaments of Vice -Chancellor is a short but soulful and practical novel written by K.L. Kamal. It is a wonderful composition containing the wisdom light of the *Gita*. In its own way it is giving the knowledge of The *Gita* to its listeners and readers.

Chandrakanta is a person who is surrounded by adversity but he does not compromise his karma principle and keeps on moving forward, fights adversity

३ He was an Indian philosopher, social leader and founder of the Arya Samaj, a reform movement of the Vedic dharma. He was the first to give the call for Swaraj.

४ Ralph Waldo Emerson (May २५, १८०३ - April २७, १८८२) was an American essayist, lecturer, philosopher, abolitionist, and poet who led the transcendentalist movement of the mid-१९th century.

५ Best known for *The Waste Land*, Nobel laureate and great modernist thinker.

६ He was an Indian Hindu monk, philosopher and author.

७ He was a German-born theoretical physicist.

and fights till he finds circumstances suitable. Campus is like a battlefield for him and he is like Arjuna on the battlefield and the *Gita* becomes his life-blood that saves him from falling and continues him to grow in adversity. In a war like *Mahabharata*^८, so many bad people are torturing Chandrakanta, but he proceeds without stopping, following his great principle of action. This true Karma believer modern-day Arjuna wins his personal and socio-religious war in a brilliant manner.

Chanderkant is the main character of the novel *Campus: Predicaments of Vice -Chancellor* by K.L. Kamal. He is the mouthpiece of the author himself. He is tortured and tormented by his own people. As a Vice -Chancellor he wants to change the system; he just wants to perform his duty honestly, but he is not able to exercise his honesty because of the people like Roopchand and Promod. They are the embodiments of evil and synonyms of corruption. They have dirty mind and bleak ugly intentions. They are tempted by greed and want to make easy money without performing their given assignments. They often pose hindrance in the way of good people. They are making a tuff zone for Chandrakant^९; for this they do ill-deeds. They have made campus an adverse state where people like Chandrakant feel disheartened. Even his wife Ratna wants to lead a smooth life; she tries to persuade her husband to walk with the waves and enjoy his life. But like a warrior, Chandrakant is engaged in making things right even in adverse circumstances. He does not want to surrender his holy active soul in front of evil. He wants to walk against the waves and wants to become a real warrior of his battlefield. A power that motivates him is the *Gita*. The *Gita* contains the bottomless ocean of knowledge and this knowledge can rebuild and uplift any broken person. It helps in winning the war of life, a broken person Chandrakant rose from the knowledge of the *Gita* and moved ahead knowing his power.

He just knows the philosophy of the *Gita* and gets solace from its great Sholaka-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥^{१०}

८ It is a Great Sanskrit epic of ancient India, written by Ved Vyasa.

९ Main character of Novella.

१० Shloka of *Gita* २.४७

After reading this Sholka from the *Gita* Chanderkant has realised the value of Karma and wants to perform his duty (Karma) without having the pressure of result. He has become the real Karmyogi who wants to celebrate his “Karmyoga” (४९)

Now he is self- motivated and his inner voice calls him:

“Remain detached, let the mind continue to function, keep on working uninterruptedly, let not a single wave affect you. Work in the world as if you are a transitory being, you are here only for a short period. Go on working continuously without any attachment since this is very dangerous. This world does not belong to us; this is one of the phases through which we have to pass. Do not forget that great sentence of Sankhya Darshan that the entire nature is for soul and the soul is not for nature.”(४९)

It is true that he has seen so many ups and downs in his life. He has faced mental torture, poverty and so many other hurdles in his early life and still he is in the web of pessimism and futility, but, with the help of the *Gita Gyan* he is able to find optimism and positivity in his life. With the help of it he kills the web of evil. Whenever he feels so weak that he is not able to distil happiness then again he goes in the lap of the *Gita* and recalls the sholka:

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥^{११}

After reading this sholka he gets ready for his personal war for noble cause. This shloka gives him strength to achieve the heights. In achieving the height sometime he feels like Arjuna who feels fed up, sometime he puts his weapons down like a defeated soldier then again recalls the Shloka from the *Gita*:

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥^{१२}

After reading the above Shloka he becomes the real worrier who has no adverse reactions about opposite happenings. He feels like a stoic and has a deep faith in:

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।

११ Shloka of Gita २.३

१२ Shloka from Gita २.७०

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।^{१३}

Now his mind is totally awakened and his soul is purely enlightened and detached from worldly Maya. Feelings and emotions of happiness and sorrow, gain and loss, victory and defeat are same for him.

Like Arjuna^{१४}, Chanderkant is totally unaffected by the feelings of success or failure. He just wants to lead an active carefree purposeful life and tries hard to change the system of his campus surrounding. With the passage of time he feels the signs of positive change in his campus. This gives new self-confidence in him. After some time the whole campus picture has been changed positively. The image of his campus is emerging. In this new campus atmosphere negatively oriented teachers like Pramod Kumar and Roopchand seem ineffective. The whole environment seems favourable to Chanderkant expect a few opposite winds but these winds do not have power to uproot trees. Padmini, Shivani, Reshama, Savita, Sushmita, Sumati, Kalpana, Tribhuvan, Santosh, Sudarshan and Ankur are not only the students of Chanderkant but they are the real back bone of him. Their presence gives him a sense of peace. Still there are some enemies of Chanderkant but he values these enemies. In this respect he recalls Ghalib^{१५} who has said once that:

Enemies are better than friends, who take your name often,
Thorns are better than flowers who hold your mantle often (५७).

At last his campus becomes real work-zone where work has become worship and dignity of labour becomes the mantra of campus people. Concept of work culture is established in the university. Values, norms, responsibilities, holistic viewpoints, belongingness, holistic growth have become the developing key terms in this new changed atmosphere. The atmosphere is completely changed now. Now there are no strikes, no slogans, no dogged retaliation, no gheraos, threats or self-immolation, but there one can find values, morality, confidence, skill, dedication, performance, regularity, idealism, realism and high standards of teacher-taught traditions.

१३ Shloka from Gita २.३८

१४ Great character of Mahabharata

१५ He was a great Indian poet.

Likewise his campus, India the country, is decaying because of dishonest and inactive people. There are dearths of such people who have positivist attitude like Chanderkant. The *Gita* can inspire them and can infuse new energy into them. It is the era where spirituality is trailing due to the mastery of pragmatism. Because of this, most of the young individuals are confused and have no potential to make a positive change in the society. For development a positive change is essential and for this change one has to perform his duty as Krishana had said to Arjuna:

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥^{१६}

The *Gita* is the mother of all teachings. The central teaching of the *Gita* can be beautifully potted through the following sentences of Annie Besant^{१७}:

It is meant to lift the aspirant from the lower levels of renunciation, where objects are renounced, to the loftier heights where desires are dead, and where the yogi dwells in the calm and ceaseless contemplation, while his body and mind are actively employed in discharging the duties that fall to his lot in life.

In this way the *Gita* and the teachings of the *Gita* are the Divine solutions for all the human problems. The *Gita* pulsates man's divine energy to do something magical. It has the power to shape and mould precious asset of our nation, the youth. The wisdom of the *Gita* can kill their stress, tensions and worries. It can enhance their personalities and purely purify their hearts. Everyone has a divine potential in his inner consciousness and the *Gita* is a tool through which one can realize this potential and can uplift one's self and the nation.

One can clearly say that the *Gita* is relevant even in today's time and even today it is uplifting so many troubled and broken hearted people. It is still able to reunite people as well as nations. The *Gita* can motivate students who are the budding leaders of present and the real managers of future. Students are tomorrow's key contributors. For them the *Gita* can be the real protector and can act as a driving force to achieve something extraordinary. The *Gita* is not only an

^{१६} Shloka from The *Gita* २.३३

^{१७} She was a British socialist, theosophist, women's rights activist, writer, orator, political party member, educationist, and philanthropist. She is regarded as a champion of human freedom..

ardent need of our country, but it is also the great need of world community. World can enrich its philosophical, sociological^{१८}, anthropological^{१९} and psychological^{२०} understanding through the readings of the *Gita*. Thus Gita is the ultimate remedial solution of mankind^{२१} that builds strong character and acts as a path maker of human society.

REFERENCES

Dasgupta, S., १९९१. A History of Indian Philosophy, Vol१. Delhi: MotilalBanarsidas. Published १९२२

Dharmaratnam, K. (१९८७) Bhagavad-Gita in Action, Nathan Publishing, Klang, Malaysia

Kamal, K.L. Campus: Predicaments of Vice -Chancellor. Jaipur: University Book House, २००२. Print.

“Wikisource”. Bhagavad-Gita (Besant ४th)/Preface”. Web. १७ April २०१९.
[https://en.wikisource.org/wiki/Bhagavad-Gita\(Besant_४th\)/Preface](https://en.wikisource.org/wiki/Bhagavad-Gita(Besant_४th)/Preface)

१८ Dealing with social questions or problems, especially focusing on cultural and environmental factors rather than on psychological or personal characteristics'

१९ related to the study of the human race, its culture and society, and its physical development.

२० connected with the mind or the way that it works

२१ all the people in the world

Impact of Maternal Employment on Self Concept of School Going Adolescents

Dr. Shyam Lata Juyal[‡]

Abstract

With the emergence of a new economic pattern, increasing opportunities for education, rising standard of living and increased modernization, women from the middle and upper middle class families have also started coming out from their traditional role and the number of working women has been increasing every year. On the other hand the contributions of mothers in developing self concept in their children cannot be ignored.

In this study, the effects of maternal employment on self-concept of adolescents identified as measured by १६०, ८th to १०th standard school going adolescents. ८० adolescents were of employed mothers and ८० were of homemakers included in the sample. Each group of above bifurcated into gender of adolescents (४० boys and ४० girls). Self-Concept Questionnaire constructed and standardized by Saraswat (२०००) was administered for collecting data.

Results revealed that the adolescent of employed mothers possessed high self-concept than homemakers. Boys of homemakers showed high self-concept than the girls of the same group. It was also noticed that boys as far as girls of employed women have better self-concept in comparison to boys and girls of counter group. However, interaction effect between the two (women status & gender of adolescents) did not found significant but the main effect of status of women (employed & homemakers) and gender of adolescent found significant on self-concept of school going adolescents.

Key Words: employed women, homemakers, adolescents, self concept, gender of adolescents.

[‡] Professor, Department of Psychology, K.G.C., Gurukul Kangri (Deemed to be University)

Haridwar, (Uttarakhand), India. Mobile No. ७८३०२११०२२ E-Mail : shyam.latajuyal@gmail.com

Introduction

Mother plays a vital role in development of each stage of life of her child and also she change herself according to the need of child. She is the one who guides their children as they grow up and helps them to meet the battle of life with understanding and also with courage so that she can provide a tune of life to the new generations. Reynolds, et al (२००३) reveals that many mothers become more dedicated towards their work identity, work skills and their feelings about work than their family which affect their family relationships and home life too. Bowlby, (२००४) has found that the quality of interaction between the mother and child is more important than the amount of time spent together whether the mother is working full-time or part-time.

It was complained that the rise in juvenile delinquency could also be attributed to women who are working. The rush of married women into the workforce runs against traditional thinking that women must choose between family and career. Many observers condemned working women as selfish, unnatural and even dangerous to their children and society William (२००६).

The increasing number of maternal employment has led to increased concern about the effects of maternal employment on adolescents' psychological development. In these days women assuming that the professional roles have become more important than others either due to financial constraints or as a cause of search for identity. (Boorooah & Kotoki, २०१७, Fischer and Hout २००६, Goldin २००६).

Bernal (२००८) sought to seek relationship between working mothers and cognitive development of their children. It was hypothesized that mothers who were working, their children would hinder in cognitive development.

Adolescent is a transition stage, during this stage adolescents typically experience significant changes in their physical, cognitive, and social domain functioning Tanti et al., (२०१०). It has been commonly regarded as a sensitive period for the development of self and identity in the society.

The relationship an adolescent has with his mother is most important to form his self-concept. Empirical researches have strongly substantiated the implications of mothers' antecedent variables as of invaluable contributions to formation of self-concept of their adolescents. Self-concept is a single effective determinant to shaping the personality, attitudes and behaviour of the adolescents.

Among the public at large, the assumption that maternal employment has negative effects on children appears to be widely accepted. However, working mothers less often reported that they felt good about how well they were doing in raising their children. In most previous research on maternal employment, the central question was whether parent-child relationships differ, on the average, when mothers do and do not work outside the home.

The quality of the relationship between mother and child plays an important role for developing healthy personality and other psychological traits in later stage of their children, with the role of a good mother in providing care, can have a good effect on them. Today's most of mothers have dual roles as housewives and as workers due to that mothers do not spend full time to take care of their children. The relationship's quality is influenced by the interaction and time together between mother and child (Handayani et al., 2019).

Working mothers have a positive and negative impact on the parenting process that they carry out. Singh (2019) argues that the positive impact of working mothers affect improving the family economy and supporting children's welfare, especially in fulfilling nutrition, providing quality care, and the best education. On the other hand Korabik (2014) states that working mothers often feel unable to carry out parenting roles properly and are overwhelmed by feelings of guilt for leaving their children to work.

From working mothers' own accounts, it appears that the adaptation of employment outside the home can be difficult because these mothers have major responsibilities as both employees and as parents ((Kammerman, 1982). Data from large-scale surveys suggest that working mothers regard their lives as more stressful than nonworking mothers, although maternal employment has little effect on fathers' stress (Booth, 1999; Pleck et al., 1980). These data also suggest that conflicts between work and family life can make mothers fatigued and irritable at home. Coleman & Karraker (2003) state that the most challenging parenting phase is when the child is in toddlerhood because it is very active, attractive, and difficult to define boundaries. Murdiningsih and Komariah (2019) also suggest that toddlerhood is a golden age, so in this age, children need more attention. Child development will be optimal if the interaction is made according to the child's needs at the stage of development.

Stress loads can be quite high amongst working woman and these may often reflect in their relationships at home. She is stressed to reach work on time, to look after and also watch activities of her young child and to reach all the children's deadlines on time including food and dress and she is also pressed for time to look after her home simultaneously. Therefore, working women's shoulders bear additional responsibility of the work place as well as at their domestic front.

.There is an underlying assumption that the roles of mother and wife have relatively less stress, as they are natural roles, whereas the role of employee, being unnatural is highly demanding. This may question the ability of a woman to handle multiple roles without significant ill effects. There is also considerable rhetoric on the relationship of this unnatural employment to many social evils including juvenile delinquency and drug addiction (Barnett, २००२).

Can a working woman do justice to both her work and her motherhood? The answers vary from a firm yes to a vehement no and more often than not, the answer lies not in the ability or competence of the woman as much as it does on her support system. The question of a support system is very relevant because traditionally all support systems have revolved around men ever since the times when women were believed to be capable of only "kuche, kirche and kinder" [German for kitchen, church, and children].

The effects of women employment on children are sometimes positive and sometimes negative (Youngblut *et al.*, १९९८). Parents in non-employed mother families were more satisfied with their families than parents in employed mother families (Youngblut *et al.*, १९९४).

The families' emotional climate and mothers' mental health are both important factors that determine the effect of employment of mothers on the family unit.

Researchers have been interested in finding out whether mothers who are working develop better understanding with their children in comparison to homemakers. However, the child will suffer from maternal deprivation, behaviour problems, and a drop in academic performance etc. It is also believes that the mothers, adolescents and families as a whole have adjusted well to changing parental work roles. Families with working mothers have learned to share many household responsibilities or simply relax standards concerning

meals and housework. It is suggested that these changes in role expectations have decreased the stress associated with maternal employment.

The relationship an adolescent has with his mother is most important to form his self-concept. Self-concept is a single effective determinant to shaping the personality, attitudes and behaviour of the adolescents.

According to a studies, if a woman stays busy in her work or job for longer duration in a day and interact lesser with her adolescents then this may hinder the holistic growth because they need the strongest connection with her mother but if the mother is not giving time to them then there are chances that they may indulge in bad habits or join bad company which would ultimately affect their personality.

Moreover the child may start arguing with the family members on nominal things and turn rebellious and rude in nature (Almani et al., २०१२).

Understanding the significance of the role of mothers' in terms of development of children's self concept considering that children are a nation's future makers whose well-being significantly affects a society's health in the years to come. The present study embarked on examining the effect of the maternal employment on the self concept of adolescents by comparing the adolescents of homemakers. Most of researches have focused on losses of self-concept during adolescence but relatively little is known about self-concept during the transition to adulthood in terms of maternal employment.

Maternal responsibility and maternal guilt are the two sides of a coin (Priya, २०१८) and all working women face it at one or the other time of child rearing. Borg (२०१७) points out that there is a gender bias towards the 'long ice berg of guilt' and working mothers believe that it is their responsibility to make their child happy and fix any problem they face, and be with them when they need them most (Adhikari, २०१२).

Quite a large number of empirical studies have yielded conflicting evidences regarding the impact of maternal employment on their children (Hangal & Aminabhavi, २००८). This study based on previous research works, especially two theories regarding the impact of maternal employment have been emerged i.e., the guilt-over protection theory and the neglected theory. According to the first theory, the employed mother feels guilty about leaving her children and tries to compensate with love and over protection. The second theory presumes that the

dual role creates role strain and leads to child neglect (Hangal S.A.A,Vijaylaxmi २००७).

Objectives

This study considers two major aspects regarding self concept of adolescents:

- १) To know the self-concept of adolescents in terms of maternal employment.
- २) To assess self-concept of adolescents in respect of gender as an impact of employment of mothers.

.Hypotheses

१. Significant difference would be found in the self concept of adolescents of employed mothers and homemakers.
२. Adolescent girls and boys will differ significantly on self concept in terms of maternal employment.
३. Significant interaction effect would be found between status of women (employed & homemakers) and gender of adolescents on adolescents' self-concept

Method

Sample: Total १६० adolescent participants were consisted for this study. ८० were those whose mothers were employed and ८० were whose mothers are homemakers. Each group of above was further bifurcated into gender of adolescents (४० girls and ४० boys). Data were collected from different private schools of District Haridwar, Dehradun and Roorkee of Uttarakhand State.

Inclusion Criteria:

- Adolescents who were studying in ८th to १०th standard
- Only urban areas' schools adolescents were included in the sample
- Mothers who were working with १०-०५ duty schedule included in the sample.
- Adolescents belong to nuclear families and have more than one child were included in the study sample.

Exclusion Criteria:

- Less than ८th and more than १०th standard adolescents were not included in the sample.

- Rural areas' schools adolescents were not included in the sample.
- Haphazard duty scheduled mothers of adolescents were excluded from the sample.
- Single child families and joint families' adolescents were excluded from the sample.

Tools: Self-Concept Questionnaire constructed and standardized by Saraswat (२०००) administered on adolescents for measuring self-concept on six dimensions of self-concept such as; Physical, Social, Intellectual, Moral, Educational and Temperamental Self-Concept. Each dimension contains eight items with five alternatives ranging from most acceptable to least acceptable description of self-concept. The summated score of all the forty-eight items provided the total self-concept score of adolescents. A high score indicates a higher self-concept, and low score indicates low self-concept.

Procedure: Prior to collecting data on adolescents, researcher personally contacted the Principal/ authority of the schools and convinced them for collecting data by explaining the purpose of the research. Then developed rapport with the participants and provide them already prepared covering letter with required information. Afterwards, researcher proved them self-concept inventory by given instructions written in front page of the inventory.

Results:

Table १- Comparison of Self-Concept of Adolescents of Employed mothers and Homemakers (Mean, SD and t)

Dimensions of Self-Concept	Adolescents of employed mothers (N=८०)		Adolescents of homemakers (N=८०)		t - value
	Mean	SD	Mean	SD	
Physical	३२.५०	३.२०	२९.२८	३.९०	४.५९**
Social	३१.४६	३.२१	२९.४८	४.३४	२.६९**
Temperamental	३२.४४	३.२२	३०.४८	४.६९	२.४४*
Moral	३३.०४	२.९१	३२.६४	२.९१	०.६९

Intellectual	३१.०४	३.५७	२७.२८	३.८९	५.०३**
Educational	३३.०८	३.१९	३२.६२	३.८०	०.६६
Total	१९३.५६	९.५७	१८१.६	१७.१७	४.३०**

Table-१, depicted that mean scores of adolescents of employed women showed high self-concept and found significant results on the dimensions of physical ($t=४.५१, p<०.०१$), social ($t=२.६९, p<०.०१$), temperamental ($t=२.४४, p<०.०५$), and intellectual ($t=५.०३, p<०.०१$), and on total ($t=४.३०, p<०.०१$) self-concept. No significant difference was shown on moral and educational dimensions of self-concept.

Table २-Comparison of Self-Concept between gender of adolescents of Employed mothers and Homemakers (Mean, SD and t)

Dimensions of self concept	Employed women N = ४०					Homemaker N = ४०				
	Boys		Girls		t-values	Boys		Girls		t-values
	Mean	SD	Mean	SD		Mean	SD	Mean	SD	
Physical	३२.७६	३.६०	३२.२४	२.८०	०.५७	३०.५२	३.९६	२८.०४	३.४९	२.३५*
Social	३१.३६	२.९३	३१.५६	३.५४	०.२२	३०.५६	३.९३	२८.०४	४.४४	२.१३*
Temperamental	३२.९२	२.९१	३१.९६	३.५०	१.०५	३१.१२	४.३१	२८.८४	५.०६	१.७१
Moral	३३.२०	२.६१	३२.८८	३.२३	०.३८	३३.२८	२.५१	३२.००	३.१९	१.५८
Intellectual	३१.२८	३.७३	३०.८०	३.४६	०.४७	२८.४०	३.६३	२६.१६	३.८९	२.११*
Educational	३२.८८	३.९३	३३.२८	२.३०	०.४४	३२.८०	३.२०	३२.४४	४.३८	०.३३
Total	१९४.४	७३.९	१९२.७२	११.०८	०.११	१८६.६८	१४.६९	१७६.५२	१८.२३	२.१७*

No significant difference was found on any dimensions as well as on total self-concept between boys and girls of employed women. However, boys of homemakers possessed high mean scores than the girls and showed significant

difference from the girls on the dimensions of physical ($t=2.34, p<0.05$), social ($t=2.13, p<0.05$), and intellectual ($t=2.11, p<0.05$), and on total self-concept ($t=2.19, p<0.05$).

Table 3- Comparison between Boys of Employed mothers and Homemakers as far as Girls on Self-Concept (Mean, SD and t)

Dimensions of Self-Concept	Boys (N=80)					Girls (N=80)				
	Employed Mothers		Homemakers		t-values	Employed Mothers		Homemakers		t-values
	Mean	SD	Mean	SD		Mean	SD	Mean	SD	
Physical	32.96	3.49	30.42	3.96	2.10*	32.28	2.6	26.08	3.89	8.69**
Social	31.36	2.93	30.46	3.93	0.62	31.46	3.48	26.08	4.83	3.10**
Temperamental	32.92	2.91	31.12	4.31	1.93	31.96	3.41	29.68	4.04	1.92
Moral	33.2	2.61	33.26	2.41	0.11	32.66	3.23	32.01	3.19	0.97
Intellectual	31.26	3.98	26.8	3.63	2.96**	30.60	3.86	26.16	3.69	8.86**
Educational	32.66	3.93	32.6	3.20	0.06	33.26	2.3	32.88	4.37	0.64
Total	198.8	7.92	166.66	18.69	2.31*	192.92	11.06	166.42	16.23	3.60**

Table 3, clarified significant difference between self-concept of boys of employed and homemakers' on physical ($t=20.10, p<0.05$) and intellectual dimensions ($t=2.96, p<0.01$), and on total ($t=2.31, p<0.01$) in favour of boys of employed mothers. The difference also showed significant in favour of girls of employed mothers on the dimensions of physical ($t=8.69, p<0.01$), social ($t=3.10, p<0.01$), intellectual ($t=8.86, p<0.01$) and on total self-concept ($t=3.60, p<0.01$).

Table 4

Interaction between status of women (employed & homemakers) and gender of adolescents on self- concept (2x2 ANOVA)

Dimension of Self Concept	Source of Variation	F - Value
Physical	Status of women	२१.२९**
	Gender	४.६२*
	Interaction	१.९७
Social	Status of women	८.३०**
	Gender	२.३९
	Interaction	३.२९
Temperamental	Status of women	५.९१*
	Gender	१.९३
	Interaction	०.०३
Moral	Status of women	०.४७
	Gender	१.८९
	Interaction	०.६८
Intellectual	Status of women	२६.०५**
	Gender	३.४१
	Interaction	१.४३
Educational	Status of women	०.४२
	Gender	०.००१
	Interaction	०.२९
Total Self Concept	Status of women	१९.५०**
	Gender	४.७८*
	Interaction	२.४५

Table ०४ showed the significant effect of status of women (employed and homemakers) on the dimensions of physical (F=२१.२९, $p < ०.०१$) social (F=८.३०,

$p < 0.01$), temperamental ($F = 4.91$, $p < 0.04$), and intellectual ($F = 26.04$, $p < 0.01$) and on total self-concept of adolescents ($F = 19.40$, $p < 0.01$).

Effect of gender of adolescents in terms of maternal employment showed significant effect only on physical dimension ($F = 8.62$, $p < 0.01$) and on total self-concept ($F = 8.92$, $p < 0.04$).

Discussion of the Results

Results of this study explore in favour of adolescents of employed mothers. The self-concept of adolescents of employed mothers found to be more positive on the dimensions of physical, social, temperamental, intellectual and on total self-concept (table-1). Gender difference did not show on any dimension of self-concept by adolescents of employed mothers. Whereas, adolescents of homemakers showed significant difference on the dimensions of physical, social, intellectual and on total self-concept (table-2). Comparison between boys Vs boys and girls Vs girls of employed and homemakers' adolescents found positive self-concept in favour of adolescents of employed mothers (table-3). No interaction effect has been found significant between status of women (employed and homemakers) and gender of their adolescents. However, main effect of women status in terms of self-concept of adolescents found significant on the dimensions of physical, social, temperamental, intellectual and on total. Main effect of gender of adolescents showed significant effect only on physical and on total self-concept (table-4).

This research has presented that employed mothers encourage independence and positive self-concept in their children more than that of homemakers do. And, mothers who cited the goal of obedience, or the goal "to be feminine", were more likely to have daughters who were shy, non-assertive and had a negative self-concept, while citing the goal of independence showed the opposite effects.

A stay at home mothers who are unhappy with her life cannot be a positive influence in her adolescents' lives. A working mother with some sense of accomplishment and satisfaction can serve as a good role model for her wards. Children can get inspired to pursue their dreams and ambition. Mothers who effectively manage work and family can instil good work ethic into their young children. They could especially help their daughters break stereotypes and work for whatever they wish to accomplish in life. Working mothers have to manage a plethora of activities. They encourage their wards to take responsibility. With

both parents working, each family member has to play a more active role. Raising independent children prepares them for the real world and inculcates in them sense of responsibility. Employed mothers spend quality time with their children to compensate for the amount of time they do not spend together. So that their wards do not take their mother's attention for granted. Children of stay-at-home mother might get used to their mother's attention round the clock and fail to acknowledge her efforts. The financial benefits that come with having both parents work, such as going to good schools and pursuing extra-curricular interests can inculcate a sense of security which develops positive self-concept and hopefulness especially in their adolescents.

Women employment plays a significant role for spreading traits of their children through the knowledge gain by interacting with many people at working place. Employment and education goes hand in hand got significant implications not only for the woman concerned herself but for her whole family too (Singh, Thind and Jaswal, २००६). Distinctively working woman performs two roles; primarily, a woman and a housewife, and secondly, a woman as an employee. Both the roles demand on her time and energy. Her employment not only affects her entire personality but also her family relationship and is also liable to face crisis of adjustment. Due to that their adolescents also face adjustment crises and many more behaviour problems. On the other hand, homemaker women are best fitted to perform the role of housewife.

Following studies supported the result of this study as well.

A study conducted by Sharma (१९८६) on the children of the working and non-working women and found that the self-concept level of the children of working women was found to be more than that of the children of non-working women. The study of Powell (१९६३) also indicated that adolescent and college age children of employed women tended to be more achievement oriented than the children of home maker women. In development of self-concept of adolescents, gender also plays a significant role in terms of parenting of employed and homemaker women. In our study, boys of employed women showed positive self-concept more than the girls of the same group as well as adolescent (boys and girls) of counter group.

It is well known that employment has positive effects on the mother (Barnett, २००४).

The effect of maternal employment on adolescent daughters was studied by Jensen and Borges and they noted that daughters of non-employed mothers had a closer relationship with their fathers, perceived them as happier and friendlier, and experienced less anger and tension in the home (Jensen and Borges, १९८६).

A study conducted by Poznanski et al. (१९७०) confirms our results by revealing that the working women being broad minded are aware of the emotional requirements of their children promote positive emotions, attachment, and lavish affection and warmth towards their wards. Stein (२०१७) also reported that college females with employed women had higher educational aspirations than those whose women were not working outside the home. A study conducted by Biabangard & Hatami (२००३) also agreed with our results. They found that working women to have positive effects on the social development and educational progress of their children especially for girls.

Bowlby, (२००४) has found that the quality of interaction between the mother and child is more important than the amount of time spent together whether the mother is working full-time or part-time, both the groups agreed that giving the child quality time is important.

Mancini and Pasqua (२०१२) have studied on mothers' actual time spending with their children. Results shown that working mothers, with respect to non-working ones, tend to reduce the "basic care" time, but not "quality care" time devoted to their children (reading stories or helping them with homework, taking their children to a museum or to theatre).

Neha (२०१४) revealed that adjustment and self concept has a profound effect on the overall behaviour of an individual whether male or female, the difference was found significant among the groups on home, health, emotion and social adjustment area as well as self-concept scores.

Some studies favour homemakers in terms of positive role towards adolescents. According to them because

working woman performs two roles distinctively primarily, a woman and a housewife, and secondly, a woman as an employee. Both the roles demand on her time and energy. Her employment not only affects her entire personality but also her family relationship and is also liable to face crisis of adjustment. Due to that their adolescents also face adjustment crises and many more behaviour problems. On the other hand, homemaker women are best fitted to perform the role of housewife.

The effect of maternal employment on adolescent daughters was studied by Jensen and Borges and they noted that daughters of non-employed mothers had a closer relationship with their fathers, perceived them as happier and friendlier, and experienced less anger and tension in the home (Jensen and Borges, १९८६).

By concluding the results of this study researcher can claim that the first theory that is the employed mother feels guilty about leaving her children and tries to compensate with “love and over protection” is more significant in developing self-concept in their adolescents than the second theory presumes that the dual role creates role strain and leads to child neglect (Hangal S.A.A,Vijyalaxmi २००७).

Significance of the study:

The main significance of this study is to spread awareness in the society as well as mothers who are employed or homemakers that no matter they provide quantity or quality time to their children as a matter of fact development of self-concept in adolescents parental self efficacy is more important than others like guilt feeling, anxiety and pessimistic attitude towards family and also isolation from the society. Self- concept is a core aspect for developing all psychological traits in adolescents. Therefore healthy attitude and positive mothering is most important which can be developed by increasing attitudes and skills of mothers. On the basis of results of this study researcher open the door for providing training for “Smart Parenting” and developing parental self-efficacy not only employed mothers but homemakers too. The "Smart Parenting" training has the principle of balancing role stress of working mothers with optimal parenting processes. Therefore, it is hoped that working mothers with toddlers can balance their roles as workers and have a high PSE in carrying out their care and carrying out the childcare process optimally. Therefore, based on some of the above explanations, the researcher is then interested in further examining the effect of smart parenting training on increasing parental self-efficacy of working mothers as well as homemakers who have toddlers in Utrakhand State.

Following facts are also important with the above:

- This study is to identifying the significance of maternal employment as related to self-concept of adolescents.
- The study may aware and teach the mothers for maintain the self-concept of their adolescents.

- Study may also help the rearing practices of mothers of their adolescents irrespective of gender differences.
- Adolescents also know the importance of self-concept and can do efforts to change their self perceptions

Coleman and Karraker (२००३) suggested that parents who have low parental self-efficacy tend to feel burdened by their parents' responsibilities and are prone to stress. On the other hand, parents with high PSE tend to be more likely to carry out the process of nurturing and stimulating children's development as a challenge rather than a threat. Rahmawati & Ratnaningsih, (२०१८) also suggested that parents with high PSE tend to be more optimistic about their parenting abilities, show persistence in facing difficulties, and can cope with stress in facing demands as parents. Oktavianto et al. (२०१९) denoted that parental self-efficacy can be increased by being influenced by supporting factors in the form of knowledge. When individuals have limited knowledge about parenting, it tends to cause self-doubt in caring, thus indicating a low PSE. Conversely, individuals who have good knowledge of parenting will improve their attitudes and skills in carrying out the childcare process.

Limitation and Suggestions: The sample size in each group was small, thus reducing our ability to evaluate differences in the self - concept of adolescents of employed and homemaker mothers. In addition, only normal duty schedule and nuclear family were included in the sample also limits the extent to which causal inferences can be drawn. Thus, further studies should include large sample size, and may include different other dimensions related to family type, occupation, socio-economic status as far as other relevant variables for development of adolescents except self- concept such as; personality, aggression, frustration and adjustment etc.

This study also advised for further researchers that smart parenting training affects increasing parental self-efficacy (PSE) of working mothers who have toddlers. Based on this study's results, it is suggested that smart parenting training in this study can be used as an educational program and intervention related to promotional efforts to increase parental self-efficacy in the surrounding community, especially working mothers. This smart parenting training is easy to understand, so it is easy to give to the general public. Future researchers interested in a similar theme suggest that they explore other factors that influence parental self-efficacy in working mothers through qualitative

research. Future researchers can also continue this research on single parents with low income and parents who have children with autism.

References

Adhikari, H. (२०१२). Anxiety and depression : Comparative study between working and non-working mothers. *Global J. Human Social Science, Sociology, Economics and Political Science* १२ : १-९.

Almani, A.S., Abro, A., & Mugheri, R. A. (२०१२). Study of the effect of working mother on development of children in Pakistan. *International Journal of humanities and social science*, (२) ७७-८४.

Barnett, R.C., & Gareis K.C., (२००२). Full time and reduce-hours work schedules and marital quality, *Journal of Work and Occupations*, २९, ३६४-३७९.

Bernal, R. (२००८). Effect of maternal employment and child care on children's cognitive development. *International Journal of Economic Review*, Vol.४९, (४) ११७३-१२०९.

Biabangard, E., & Hatami, M. (२००३). A Study on the Effects of Working Mothers on Social Development and Educational Progression of Children. *Farzaneh Journal*, (५) ५२-५४.
<http://en.farzanehjournal.com/index.php/articles/no-५/>

Booth, A. (१९७९). Social class stress and physical punishment. *International Journal of Review of Modern Societies*. Vol. ९, १०३-११७.

Booroah, I. P., & Kotoky, K. (२०१७). Self-efficacy of college students of working and nonworking mothers. *Journal of Humanities and Social Science*, २२(२), १५-१९.

Borg, L. (२०१७). Nearly ९०% of the mothers feel guilty. Is it the good news? You can conquer it. Available from : <https://www.telegraph.co.uk/family/parenting/nearly-९०-percent-mothers-feel-guilty-good-news-can-conquer>

Bowlby, J. (२००४). The origins of attachment theory: *Developmental Psychology*, (२८) ७५९-७७५.

Coleman, P.K. & Karraker, (२००३) maternal self efficacy belief, competence in parenting and toddler's behaviour and developmental studies. *Journal of Infant Mental Health*, २४(२), १२६-१४८.

Deka, N., & Kakkar, A. (१९९८). The impact of maternal employment on perceived behaviour and self-concept of Indian adolescents. *Journal of Indian Academy of Applied Psychology*, २४, ९३-९८.

Impact of Maternal Employment on Self Concept of School Going Adolescents

Handayani, A., Afiatin, T., Adiyanti, M. G., & Himam, F. (2019). Factors impacting work family balance of working mother. *Anima Indonesian Psychological Journal*, 30(4), 196-200.

Hangal S.A.A Vijyalaxmi. (2009). Self concept, emotional maturity and achievement motivation of the adolescent children of employed mothers and home makers. *Journal of the Indian Academy of Applied Psychology* 33, 103-110.

Kamerman, S. B., & C.D. Hayes, (1982), *Families that work: Children in a changing world*. Washington, D.C. National Academy Press.

Korabik, K, (2014). The intersection of gender and work-family guilt. *Journal of gender and work family experience*, In M.J. Mills (Ed), 141-149.

Mancini and Pasqua (2012). Asymmetries and Interdependencies in Time Use Between Italian Parents. *Applied Economics*, 44(32), 4243-4251.

Murdiningsih, & Komariah, N. (2019) Knowledge of parenting patterns with toddler's growth and development. *International Journal of Public Health Science*, Vol.4, (2)199-204.

Neha, Harish & Deepika (2014) A Comparative study of adjustment and self-concept of old aged male and female persons. *International Journal in Educational Development*, Vol. 3,(1)

Oktavianto, E. (2019). Pelatihan bermain pada pengasuh meningkatkan parenting self-efficacy. *Journal Keperawatan Respati Yogyakarta*, 6(1), 423-428.

Paste, G., & Aminabhavi, V. (2006). Impact of emotional maturity on stress and Selfconfidence of adolescents. *Journal of Indian Academy of Applied Psychology*, 37, 69-74.

Powell, K. (1963). Personality of children and child rearing attitudes of mothers in Nye, F.I. and Hoffman, L.W (Eds). *The employed mothers in America*, 124-141.

Poznanski, E., Maxey, A. & Marsden, G. (1970). Clinical Implication of Maternal Employment: A Review of Research. *Journal of the American Academy of Child Psychiatry*. 9, 941-949.

Rahmawati, H. & Ratnaningsih, P. (2018). Development of social and parenting self-efficacy. *Journal of parenting psychology* Vol.09, 102-109.

Reynolds, T.Callender, C. & Edwards, R. (2003). *Rosalind, librarian-at-Large, university, librian, university* (2000). *New books on the impact of mothers' employment on family relationship*. Policy Press.

Self concept Questionnaire (SCQ) (२०००) By Dr. Raj Kumar Saraswat, Reader In Psychology, Dept of Education, Psychology, Councelling & Guidance NCERT New Delhi

S. Hangal & Aminabhavi (२००८). Self concept, emotional maturity and achievement motivation of the adolescent children of employed mothers and home makers. Journal of the Indian Academy of Applied Psychology ३३, १०३-१०० Karnatak University, Dharwad.

Sharma, R. १९८६. A comparative study of the children of working and non-working mothers. Ph. D Education, M. Sukh University.

Singh, R., Thind, S.K. and Jaswal, S. (२००६). Assessment of Marital Adjustment among Couples with

Respect to Women's Educational Level and Employment Status. *Anthropologist*, ८(४), २५९-२६६.

Stein, G.L., Kulish, A.L., Williams, C.S., Mejia, Y.C., Prandoni, J.I. and Thomas, K. C. (२०१७). Parent activation in children's mental health treatment: The role of demographic and psychological factors Journal of Latina/o psychology (५) २९०-३०५.

Suneetha Hangal and Vijayalaxmi A. Aminabhavi Mittal, S. (१९९७). Self-concept and scholastic achievement of children of working mothers and non-working mothers. *Journal of Community Guidance and Research*, १४, ४७-५२.

Tanti, C., Stukas, A., Halloran, M., and Foddy, M. (२०१०). Social identity change: Shifts in social identity during adolescence. *Journal of Adolescence*. ३(१): १-१३.

William, B. (२००६). A Thesis on The central phenomenon of math confidence: why math confidence is lacking in female students, for the Degree Masters of Education in the Graduate Program at Marietta College.

Venkatalashmi, T.R. (१९९१). Perception of adolescents towards women's employment. Unpublished M.Sc. Thesis, University of Agricultural Sciences, Dharwad.

Youngblut J.M., Singer LT, Madigan EA, Swegart LA, Rodgers WL. (१९९८). Mother, Child, and family factors related to employment of single mothers, *Journal of Psychology of Women*, २१, २४७-२६३.

Youngblut JM, Loveland-Cherry CJ, Horn M, (१९९४), Maternal employment effects on family and preterm infants at १८ months, *Journal of Nursing Research*, ४३, ३३१-३३७.

Unearthing Traditions: A Case Study of Promoting Folk Educational Values Through Jagar

Dr. Usha Pathak^१, Ashmita Badoni^२

Abstract

The folk music of Uttarakhand-Jagar is a religious ritual that has been practiced since ages. There have been many medicinal and religious benefits of this folk music, as believed by the locals. But we usually find a limited amount of content when it comes to Jagar. How it originated, stories related to it are missing in our educational curriculum. The research tries to fill that gap by finding stories and origin of this popular folk music of hills of Uttarakhand. The researcher also aims to find a scholarly discourse about the educational significance of preserving any folk form with respect to Jagar in this study.

The ritual of possession by deities and local gods is an integral part of culture of the state, it has three important people - *Jagariya*, *Dangariya* and *Syonkarin* in it. The music is now at a risk of getting endangered as it requires a lot of practice and knowledge of the history and ancient traditions. Without documentation and knowledge of this folk music, younger generation is more focused towards the mashup and remix trend which possesses a big threat to this heritage.

The importance of it in the community and historical relevance it possesses needs to be culturally preserved and what better than inculcating folk as an integral part of the educational system.

Keywords: Education, Folk, Jagar, Uttarakhand, Folk music, Folk educational value

Introduction

^१ Associate Professor, Department of Teacher Education, D.A.V. (P.G.) College Dehradun- २४८००१, Uttarakhand

^२ Content Writer, Student, M.A. Folklore and Cultural Studies, Uttarakhand

Uttarakhand is well-known as home to many gods and goddesses. Carved out of Uttar Pradesh, the state is located in the foothills of Himalayas and it is blessed with rivers, forests, mountains, glaciers, temples and is also known as Dev Bhoomi (land of gods). *Skand Puran* mentions this state is *Devbhoomi*, *Gandharvbhoomi*, *Yaksh Bhoomi*, home to all the rivers that constitute together to become the Ganges.

There are many beliefs and practices to worship the nature and Hindu Gods that are prevalent in this northern state of India, especially in hills, one such form of worship is *Jaagar/Jagar*.

Folk Music

These are passed down to generations orally. It is rarely found in written documents and its origins also remain unknown, but it becomes such an integral part of society that it has been going since decades (as legends suggest). They can get diffused easily if they are not carried forward by the younger generation. Folk Music of Uttarakhand is quite rich- *Chhopati*, *Basanti*, *Mangal*^२, *Puja Folk songs*, *Jaagar*, *Bajuband*, *Khuded*, *Chhura* are few among others. The majority of folk music in Uttarakhand are either about worshipping god and goddess, enjoying festivals or women singing their plight of living in the tough geographical topology of the hills.

Jagar

Jagar is one such folk music which is prevalent in every part of Uttarakhand. While dialects in hill changes at every district, these songs are considered holy at every place. It is not only considered as a popular folk music which has a significant religious ritual in central Himalayas but also helps in seeking justice, pleasing local deities, ancestral worship, healing, possessing etc. (Bisht, २०२१). References to it can be traced back to Sam Veda, written between १५०० to १००० BCE. It can be considered as a category of ghost and spirit worship; they are also used to honour God and goddesses.^३(Anand) The folk is believed to provoke the deities by possessing human bodies. Sung by *Jagriya*, or *Jagri* with his team of २-३ people (there can be more depending on how big the

^३Mangal- Folk Music of Uttarakhand played during marriage.

Jagar is). The folk also has instruments like *Dhol*, *Damau*, *Hudka*^୩ which are played by *Auji* or *Bajgi*. As music, narrations and *puja* tradition starts, the deities wake to enhance the emotional and spiritual well-being of attendees as well as participants in the ceremony. (Kafaltia & Kafaltia, ୨୦୧୯) The one who dance are either known as *devtaor* *Dangaria*. These folklores might vary from calling local gods to valour stories of rulers who ruled ୪୨ *gadh*^୪ (another ancient name of the state). Even in ୨୧st century rural Uttarakhand, the folk music is used to evoke the deities, spirits and supernatural power, to express emotions, to seek justice and to get healed. (Negi, ୨୦୧୯).

Inculcating Educational Values through Folk

A child learns more when he/she practically experiences anything. And folk is one of the closest things if taught in family that remains etched in the memory of young minds. A study by State University of Makassar, (MAKASSAR) states that their popular folklore of the Pau-pau Rikadong helps to incantate values among the society. Few of which are loyalty, obedience to elders, keeping the promises. Another study by (Baruah, Broah, Konwar, & Dubey, ୨୦୧୪) signifies that stories that pass down from generation to generation help the young children in learning the moral values. The 'Burhi Air Xandu'^୫ is one of the examples how folk tales and culture helps cognitively by enduring the moral and psychological development of a child. Sigmund Freud also mentioned the concept of 'super ego' which helps in the overall development of any young mind.

Objectives

- a. To understand how inoculating folk into education can revive it for long.
- b. To find current situation and knowledge of this folk music.

Research Methodology

Researcher has used qualitative method to conduct this study. In order to gain better understanding of the subject Primary and Secondary data will be collected. Researcher has taken interviews of folk singers who have been

^୩Uttarakhand was earlier known as ୪୨ gadhas it constituted of ୪୨ provinces

^୫Burhi Air Xandu- Popular children text in Assamese culture which translates to Grandma's Tales

felicited Padma Shri by Government of India and head of *Sanskriti Vibhag* (Cultural Department) of the state. Their insights will provide the direction the past to present transformations are going on. The researcher will also take the already available literature into consideration. Discourse analysis of the content available is to be done. Being the Quantitative method, discourse analysis examines various dimensions of a discourse. It helps to know the way in which language is used in texts and contexts (Hasa, २०१६).

Interviews of

- Padma Shri Dr. Basanti Bisht (First woman singer of Jaagar)
- Padma Shri Dr. Pritam Bharatwan (Jaagar Samrat)
- Beena Bhatt (Director, Uttarakhand Sanskriti Vibhag).

Research Questions for Interview

१. What does 'Jagar' mean? How old are they dated back?
२. How is Jagar played/ How does it get carried out? (Who plays instruments, sings etc.)
३. When do we use this folk music or tradition?
४. Does it benefit any community?
५. Educational Significance of this folk music. Is it part of educational system, if not how can it be?
६. Any historical significance or mention that we can find or any mythological stories of folk stories associated to it?
७. How much awareness do you find in the younger generation when it comes to 'Jagar'?
८. With modernization hitting everywhere, what is the scope of this folk music?

Findings

Uttarakhand is also known as *Devbhoomi*, where every village has their own deities that have been either adapted from the Hindu scriptures, belief of locals and some are inspired from nature. There have been various methods in Hinduism to worship those deities one of which is prevalent in the hills of Uttarakhand is known as Jagar. *Jagar* have been part of Uttarakhand's culture since, the mention of it can be found in *Vedas, Puranas* other than the *Lokshahitya* (folk culture). The folk music is used to worship local and ancient deities and to

feel their power, Jagar is a folk music that is being carried out by *Auji* community or school of music. But even after the formation of a separate state, the state is crying for help to take measures to save the culture and traditions. We find a limited amount of content when it comes to Jagar, but how it started, stories related to it are missing in our educational curriculum. The research tries to fill that gap by finding stories and origin of this popular folk music of hills of Uttarakhand.

Missing Piece in Education

“Jagar is the main culture of our hills”, says Jagar Samrat Pritam Bharatwan. It is said that fire has the power to burn anything, the factor that contributing to burning was known as ‘*Jagya*’. Later this puja that included fire was known as *Jagya* or *Yagya*. The *mantras* and hymns that were sung to ignite the fire were known as literature and the way to speak them were known as ‘*Jagar*’. Later this turned into folk music, in which it is believed that deities overpower the human bodies and speak through them when the music is played. Basanti Bisht says, *“Jagar and classical music are like two sisters, two rivers.”* During the earlier times, according to known facts as stated by the interviewees, even prior to Kirat, Naag, Khas or Vedic Aryans, Koliya lineage used to reside in the Himalayan regions and they used to worship their clan-deity (*kuldevi*), from them Khas lineage learned the rituals and songs. Mention to this can also be found during the rule of Kulind and Katyuri dynasty. Source of Katyuri History is believed to in Kumaon, the earlier center of Katyuri dynasty was Joshimath in Central Garhwal and there has been mention of many rulers from this dynasty in the Jaagar. Jaagar of rulers of Katyuri dynasty namely- Dhamdev, Narsingh Dev etc., are sung till date. Ruler of Garhwal Ajay Pal, Teelu Rauteli’s Jaagar are also sung at many places in Garhwal. Later when Vedic Aryans came, they also started to sing these folk songs and adopted the rituals associated with it. Then came Nagapanthi sages who promoted the tantras-mantras, it was they who gave Dhol Sagar. There have been legends where the Jaagar are said to be from hills itself, while some legends believe that it came from South India, as same practices are also seen there but there have been no concrete proofs of any legend. But Shilpkars (architects) are the one

who sing these songs till date as is believed that they started to pray to gram devta (village god).

It is also believed that since the time, Nanda Utsav or Nanda Rajjat Yatra (organized once in १२ years and one of biggest yatra by foot) started, since then folk music- Jagar exists in this hilly region. It is sung in Garhwali, Kumaoni, Jaunsari, Jaad, Tharu, Boksa and other dialects that exist in the state. Other than that Jagar related to clan-deity Nanda; Swanool, Jakh are also popular. It is also seen that the Jagars of Nanda, Swanool, Gaura are quite similar which depicts that they all are same but prayed in their different forms in different parts in the state. The mention of it can be found in Vedas, Puranas, Shashtras, Naag and in the folk traditions of the hill- where twenty-two- and fourteen-days Jagar find the space.

Stories related to the origin of Jagar-

As it is believed to start since the time *Nanda Utsav* is practiced. The Jagars are revered as a medium to understand *Devi Nanda*, her feelings, emotions, attachments. According to popular Jagars *Nanda* is sister and daughter (*Disa-Dhyani*) of everyone who lives in the region and everyone loves her like a family member. She is also referred as Gaura in many Jaagars. Nanda had ३ sisters and she was closest to Balampha, wife to the ruler of Kannauj. One the ruler promised to call Nanda at his home but forgot, due to which she got extremely angry with his region which led to harm to crops, people residing under his rule. Later the king went on a holy trek to call Nanda and welcomed her to his home and this tradition was repeated timely and it is believed that this presently is known as the *Nanda Rajjat Yatra*. There is one more folklore that goes in *Raatharea* of Pauri Garhwal, it is believed that villagers from *Raath* went to Kotdwar to purchase their groceries (in the hills the market are around the distance of ४-५ hours). While coming back, they were tired in between the journey, they placed their bag of salt and other items on the roadside, but when they planned to resume their journey back, they are unable to pick to their bag of salt due to its sudden heavy weight. When they opened the bag, they found a shivling in it and when they again resume their journey anyhow by picking it up, it broke into ४ pieces - Villages of Dobriyal, Mamgain and two other communities found it and thus was the origin of *Bhairav* of *Raath*.

There are stories like Parvati eats *Kandali* (Nettle grass) in her home, when Shivji asks her what she had at her maternal home, she refuses to tell him as he wouldn't like it. She vomits and it turns into the ice/glaciers. It is belief which turned the Himalayas white. It is believed that this region belongs to Shiva. In Jaagar, *Shiva* is considered the supreme. We do not have culture of *Namaskar or Pranaam* but rather we say *Shiv Manya* which has modified into *Simanya* with time. But all of these stories are believed to exist due to the geographical differences in the region. One most common and prevalent myth or historical facts dates back to the 9th century. According to the available literature, known facts, myths and traditions, during 9th to 13th century, when Katyuri dynasty ruled Uttarakhand and its nearby areas. There was a king named 'Dev'. As the dynasty used to worship Lord Narsingh, they started people all around to organize big functions in his name. It's one of the reasons of popularity of this deity and his folk songs and Jaagar that goes all along in Uttarakhand from Garhwal to Kumaon.

During 1816, HG Walton publishes in 'Garhwal Gazetteer' that the last ruler of Garhwal Sudarshan Shah banned the Jaagar, *Jagariyaor Guru* were taken as prisoners and their books were thrown down in the Ganges. Due to him being only a ruler in the name of British government, he used to follow western civilization, culture and while the Britishers started to insult the Indian culture, Sudarshan Shah did the same in state by imposing ban on *Goril Dev* and *Jagar*.

Types of Jaagar

There are two types of Jagar- *Laukik* and *Paurnik*.

- In Laukik Jaagar all the (*Iokdevta*) God and Goddess who are being worshipped are related to the strong beliefs of locals, and folk stories, whose evidences can be found at various places. It can also be known as a form of music or song of the almighty which takes them to the deep subconscious state of dancing. Few names of the deities who are worshipped in this type of Jagar are -*Goljyu, Goril, Narsingh, Bhairon, Honiya, Kachyamasan, Nunmasan, Nanda, Mahasu devta among others*. These are nor found in our written literature but in the folk stories and among the folks of Uttarakhand.

- In *Pauranik* Jagar the context is taken from the available literature and *shastras*. *Draupadi Cheerharan* situation taken from Mahabharata, *Jaidrath Vadh* taken from a *Puraan*, *Hiranyakashyap* Jagar taken from *Puraanand* so on and so for. Calling these deities, with the help of local instruments and majorly *Dholsagar* is known as Pauranik Jaagar.

How do Jagar are played?

Based on the instruments that are used Jagar are divided into ४ parts-

१. *Hudkiya* Jagar- *Hudka* (Pahadi musical instrument) is used in this Jaagar and folk songs are sung on its beats. This is also known as 'Khayala'.
२. *Damriya* Jagar- This Jagar is played on the beats of *Damru*. Also known as *Damrua* Jaagar.
३. *Gadeli* Jagar- Beats of *Thali* (usually *Kanseaka* bell metal plate) are used in it only. It is played using two sticks and on that music folk songs are sung by *Jagri*.
४. *Muriyo* Jagar- In this instrument like *Jhanjh*, *Mridang* are used.

Though this is an art which usually has group singing but it always has a lead singer who starts the music and accordingly the rest of the people follow on his beats. It is also important to maintain the rhyming and a set of rhythm dedicated to every deity. This is a male dominated field where women rarely sing Jagar, but Padma Shri Dr. Basanti Bisht is the one who broke these norms and started Jaagar singing. She is also known as '*Teejan Bai*' of Uttarakhand. Anyone regardless of their caste can be part of this Jaagar.

She says, "You should know the *Gatha* (story), the *Jagariya* has to change the beat, rhythm and words of the next line instantly and this singing needs a lot of practice, it can even lead to headache if not practiced well."

There are ३ main parties in the Jagar-

१. *Jagariya*- *Jagariya* plays an important role in it, the person incarnates and wakes the spirit of God-goddess or ancestors by singing about their life happenings, characteristics and features along with beats of folk instruments. Instruments used are *Dhol*, *Damau*, *Damru*, *Daunr*, *Thali*, *Hudka*. With special beats and rhythm *Jagariya* starts to sing the Jaagar. For God or Goddess their

qualities, miracles are praised, they person who sings it usually hails from *Shilpkar* caste and *Das* or *Auji* community. They are also known as *Auji*, *Daas*, *Devsevak*, *Guru* depending upon the region. The songs are transferred from one generation to another orally and the singer remembers every word of these *Devgatha* by heart. Now people from other communities have also started to sing these Jaagars. Earlier it was only male who used to sing this, women were not allowed publicly to sing this folk music, but they were promoted, and *Basanti Bisht* was the aggregator to that. If you know how to play instruments and sing along with it on the beats or in the *Gandharva* tradition that is prevalent among *Daas* community. This is the *Laukik* heritage and estate that can lead one to conversate with God and Goddess.

२. *Dangariya*-The Person whose body is used by the spirits to incarnate is known as *Dangariya*. Because Gods and Goddess are believed to come riding on their vehicles which are usually animals (Lion, Ox, Elephant etc.), the person in whose body the spirit incarnates is known as *Dangariya*. Usually there is a special place that is made during these rituals where *Dangariyas* sit, it can be a cushioned seat or something else. Folk Gods incarnate through bodies of male and female. During incarnation *Dangariya's* power is regarded as equal to the god who awakes in that body. They help the person with solutions to their problems. *Dangariyas* also known as *Dhami*, *Paswa*, *Dhani*, *Mali*, *Autaru* in different regions. Sometimes *Dangariya* can be tree or a person. Without any wind, the tree starts to shake all of a sudden, the branches of the tree are used for making the representation of God or Goddess whose Jaagar are being held.
३. *Syonkar*- It is the person at whose whom Jaagar are held. The oldest person of the family and his wife is known as *Syonkar-Syonai*. During Jaagar, *Jagariya* starts to sing the music and plays the beat and if any person, *Dangariya*, or *Paswa* starts to shiver, then in a bowl cinder is kept and *ghee* is poured over it, which is then scented to the person, this is known as *Dhupnu*. At places on it *Gaumutra* is also sprinkled. After sniffing/scenting this *Dhupnu* the person stands and starts to dance. It is believed that *gram devta* is incarnated on that person. It is believed that *Dangariya* is full of power of that *devta*, during this period the actions, expressions, way of talking of the person is not normal, he/she feels consciousness. The person provides

solutions to problems, pain and applies the holy ashes to the people and blesses them with it, who come to get rid of their problems. *Dangariya* takes *akshat-pithiya* and takes promise from people that when they will get rid of their problems.

Jagar in Literature and Education-

There is no written literature available (till the time research was conducted), but in the folk stories and among the folks of Uttarakhand. For the first time Jagar were officially written by Basanti Bisht, in a book but a lot of work remains for documentation. It is believed that the Jagar helps the community for their general problems or when in need of medicinal ailments. While this folk music is sung in the rituals, it can incarnate the god, it can also be used to thank those deities and celestial bodies who help to provide better opportunities, it also is used to ask about ill evils in and around the life of *syonkar's* family, community or village. Jagar songs are also sung by artists to please the dead man's spirit who have still not found the salvation or to remove the evil spirits that may have caused harm to anyone. The folk music is believed to help people seek justice, solve family problems, help with problems of the community- such as disease, natural disasters, healing, possession etc.

१. Students in foreign are doing research on the topic, with Jagar Samrat Pritam Bharatwan being the visiting faculty in Cincinnati University and University of Illinois. But in Indian context the music needs to be preserved so that it does not vanishes in the thin air and remains rooted in the folk.
२. One of the toughest styles to sing, Jagar is usually sung by men but Padma Shri Basanti Bisht *aka Jagar Kokila* has broken these myths and popularized this in and around the world and became first professional Jagar singer. Since then, Hema Negi Karasi and other names have emerged as female singer to this folk music. In the younger generation, the awareness for these is not predominant. The name of these folk songs '*Jagar*' in past few years has become popular among youth that too due to the remixes and mashups.

The generation who resides in hills only knows about it as a puja tradition that is carried out once or twice in a year. The youngsters of *Auji* community

are also leaving this tradition behind due to there being no source of income in it. The people in West are getting influenced due to the music and instruments (*Dhol, Damau, Hudka, Thali, Daunretc.*) of the Uttarakhand but the Garhwali, Kumaoni and Jaunsari community in general should be the one taking a step in this direction and introduce it to their children so that the music does not go astray. Till there is no educational documentation and implementation of this folk music, there is a possibility that it will not survive for long.

Future of the Folk Music-

Dr. Pritam Bharatwan says, *“We fought a long way with government even before state partition that Dhol should be made the state instrument and finally we got that status. It is only instrument that is needed for all sixteen samskaras held in Hindu customs. Due to them Jagar will stay in existence for long. Foreigners are getting interested towards it. New generation will come when they’ll see the value this folk music holds. Beena Bhatt says, “Folk music is always a symbol of something that is constant, it is for a time that people get interested to know about western culture but in the end, one comes back to the den”.* With emerging digital communities, the social and cultural roots of the hills is taking a new turn. Digital mediums are accepted as a rather new concept that needs to be explored further (Sharma & Jaggi, २०२२). With emerging Facebook, Instagram, WhatsApp groups and communities, the perspective to indulge more in dialogue and participation to learn and making it available to larger community in the society is also important.

Jaagar are not a collection of written folk songs but oral traditions and music that are passing from generation to generation but with time there has been change in words, people pronounce some words differently and they are carrying the legacy forward. Due to it being an oral tradition reliability on memory and listening power is what has taken it forward since generations. During recreation of these folk songs, people are killing the authenticity of these songs. *“When we will start to copy the foreign beats, then what will be the difference between our cultural heritage and their songs”*, says Dr. Basanti Bisht. Dr. Pritam states an example of how things have changed, *“Earlier Dhol was (majorly) also used to call people from another village, to indicate them about forest fire at another village, inviting for dinner or any*

celebration, but as people started migrating and with phones coming it is now rarely seen in practice.”

To this Dr. Basanti adds, *“If one has knowledge of classical music, it gets easy to learn. Jagar is a form of meditation and you need to work a bit harder on it. We have learnt it for years, but if anyone wants to learn they can learn around १८ beats in ६ months with continuous practice to it”.*

Suggestions

Beside promoting it over social platforms, school is the foundation on which the building of culture and folk resides. It is important to promote this folk music in schools. While every school has a drum for their march past and other occasions, including the *Vedic* renowned *Dholn* school can do wonders for the folk culture of the state. It will generate not only awareness among the new generation but will also create employment for the people who make these instruments, for those who play this folk form to teach it to the students. If we talk about a single instrument *Dholsagar* creating it is also an art, it needs to be of specific size, use of specific material, the need of *Nagfani* and other materials are unknown to many. Thus, creating a win-win situation for all.

References

- (Ritual), W. J. (n.d.). *Jagar*. Retrieved from Wikipedia: [https://en.wikipedia.org/wiki/Jagar\(ritual\)](https://en.wikipedia.org/wiki/Jagar(ritual))
- Anand, M. R. (n.d.). Understanding the Socio-cultural Experiences of Pahari Folk: The Jagar Gathas of Kumaon and Garhwal. *IFRJ*, ११. Retrieved from <https://citeseerx.ist.psu.edu/viewdoc/download?doi=१०.१.१.७२९.९५५३&rep=rep१&type=pdf>
- Baruah, S., Broah, J., Konwar, J., & Dubey, S. S. (२०१४, September). ROLE OF FOLKTALES IN INCULCATING MORAL VALUES IN CHILDREN. *InSPA International Conference*. Retrieved from https://www.researchgate.net/publication/३०५५८६७६८_ROLEOFFOLKTALESININCULCATINGMORALVALUESINCHILDREN

Unearthing Traditions: A Case Study of Promoting Folk Educational Values Through Jagar

Bisht, M. (२०२१). Excursion in Deity Possession Rituals in Kumaon: Women mediums and viewers locked in the structures of Caste, Gender, and Religion. Retrieved May १५, २०२२, from file:///C:/Users/welcome/Desktop/Research%२०MAFCS/bishtmeera.pdf

Folklore and Culture: Conceptual Perspectives. (२०२१).

Hasa. (२०१६). Difference Between Content Analysis and Discourse Analysis. *Pediaa*. Retrieved July १४, २०२१, from <https://pediaa.com/difference-between-content-analysis-and-discourse-analysis/>

Jagars, traditional music instruments captivate audience. (२०२१). Retrieved from The Pioneer: <https://www.dailypioneer.com/२०२१/state-editions/jagars--traditional-music-instruments-captivate-audience.html>

Kafaltia, H., & Kafaltia, G. S. (२०१९). *A comprehensive study of Uttarakhand*. Notion Press.

Kothari, P. (२०२०, March ३१). *Importance of Jaagar*. Retrieved from DevBhoomi: <https://lovedevbhoomi.com/devbhoomi-jagar/>

MAKASSAR, S. U. (n.d.). EDUCATION VALUE AND FOLKLORE CULTURE PAU-PAU RIKADONG PRINCESS TADDAMPALIE. *Juanda*. doi:१०.१४७२४/०१.०८

Negi, D. S. (२०१९, ८). Understanding an Indigenous Indian Himalayan Folklore: Jagar as Emotion Discourse. *International Academic Conference on Humanities and Social Sciences*, ७. Retrieved ०४ १८, २०२२, from <https://www.dpublication.com/wp-content/uploads/२०१९/०८/२८-१२८.pdf>

Sharma, A., & Jaggi, R. K. (२०२२). Reconceptualising Digital Placemaking: A Netnographic Study from the State of Uttarakhand, India. *Journal of Creative Communications*. doi:<https://doi.org/१०.११७७/०९७३२५८६२२१०८८१३७>

Singh, G. (n.d.). *Jagar: Calling of God*. Retrieved from Himalayan Buzz: <https://www.himalayanbuzz.com/jagar-calling-god/>

Uttarakhand -Jagaron ki Utpatti (२०२१). [Motion Picture]. Retrieved from <https://www.youtube.com/watch?v=E४dcb२GXpms>

A study of Vedic education system and relevance in present era

Dr.Vineeta Chaudhary^१

Abstract:-

The present paper deals with Vedic education system & relevance in present era. Vedic education laid down the foundation of Indian education with their principles, meaning and ideals. It is the core foundation of India's culture & rich heritage. The quality of education directly influences the quality of manpower for the societal benefits. This paper presents characteristics of Vedic Education system its importance & need in present modern system of education .There is need for several reforms in present education system which can be implemented from ancient education for overall development of students as well as the societal change.

Key Points:- Vedic, Education, Spiritual , Characteristics, Modern, quality

INTRODUCTION:

As we know that education is the key factor of the any society. Vedic education laid down the foundation of Indian education with their principles, meaning and ideals. From that period of Vedic time, education imparted the knowledge & education to meet the new demands of society. Vedic education is that kinds of education in which one can attain wisdom and perceive truth. Vedas were the sources of life. Etymological meaning of education in Vedic period was :- Siksha and Adhyapana. Shiksha :- To recite and Adhyapana:- Means to go near of their Gurus. It was carried on with further post Vedic period, the period of Brahmans and the period of Dharmasastras. The system of pre & post Vedic system was known as Hindu system of education. In the entire Hindu culture the Vedas have laid the foundation for the whole society. Some of the scholars subdivided Vedic Education period in- १- Rigveda period २- Brahmin Period ३- Upanishada period ४- Sutra (Hymn) period, ५-Smriti period but all these period were due to predominance of the Vedas. Education during that period was divided into two kind of knowledge- Spiritual & worldly and the students were

^१ Associate Professor, D.W.T. College, Dehradun; E-Mail : drvineeta१७३@gmail.com

prepared for household & spiritual life. Upakurvana Brahmachari, remains a student for a limited time period after that they can enter in their 'Grasthashram' and becomes a household. The Naishtika Brahmachari who remains a student and dedicated their life to pursuit of learning.

The study of Vedas was the main aim of Vedic education. Education was open for three classes - Brahmana, Kshatriyas and Vaishya and not for the shudra and were expelled from the main stream of education. Pupil used to live with their Gurus as the member of his family and all of them constituted the school or Ashram. In the Vedic age, the central conception of education of the Indians was a source of 'Illumination' to give a correct lead in the various spheres of life and defined education as- "Sa vidya ya vimuktaye"

The Vedic period started from pre-Vedic & post-Vedic period which extends between 1800 B.C. to 600 B.C. or from the end of Rigvedic period to the arisen of Buddhism and Jainism. The Brahman gained the highest position in Indian Society in that period. The priests were divided into four categories to carry out the ritual duties as follows:-

- Hotri: They were also known as 'Hota' and used to recite the prayers of Agni, Varuna, Indra.
- Udgata: These priests recited only the 'Mantras' of 'Soma Yajana'
- Adhwarya: The priests performed different practical part of all the duties related with different rituals.
- Brahman: They supervised or look after all the activities of the rituals in the ashrams

In the Vedic era of the Indian philosophy, there were three aspects to gain & grasp the knowledge: -

1- Shravana - It is related to listening & understanding of knowledge imparted by Gurus. It was further categorized as: Upakarama (formal ceremony performed preceding the study of Veda), Abhyasa (recitation of the texts), Apurvata (ready to grasp the meaning), Phala (comprehension), Arthavada (the reading of elucidatory books) and Upapatti (attainment of final conclusion of knowledge).

२- Manan: It's the part of meditating the knowledge. It is the process of self which meant the lessons imparted to him orally by his teacher so that they may assimilate, what is taught in the ashram.

३- Nidhidhyasan : It is the process of concept formation and the realization of knowledge. This step meant the complete comprehension by the pupil, so that he may live in the world of truth & reality.

In ancient time India was a miraculous country and with the unique philosophy & spirituality. A. S. Altekar quoted:- "The knowledge is a third eye of man, which gives him insight into all affairs and teaches him how to act. In the spiritual sphere it leads to our salvation, in the mundane sphere it leads to all round progress and prosperity. The illumination given to us by education shatters illusions, removes difficulties and enables us to realize the true values of life" (Sharma, १९९६).

Sri. Aurobindo (१९४८) in his edition titled Mahabharata and Ramayana showed that the Ramayana embodied the Indian imagination to its highest and tenderness human ideals of character, made strength, courage, gentleness, purity, fidelity and self-sacrifice familiar to it in the most harmonious forms, so as to attract the emotion and the aesthetic sense. Joshua David Stone (२००३) pointed out that the Ramayana contains the essence of the more technical Vedic scripture with a simplistic treatment to reach the common men. He also asserted that the Ramayana is a textbook of morals and ideals for youth and people of all ages to enjoy and aspire. He pointed out the high educational ideals that the Ramayana focuses.

CHIEF CHARACTERISTICS OF VEDIC EDUCATION:

- The main aim of Vedic education was to attain salvation through education.
- Knowledge, intellectuality, religion was an integral aspect of education.
- Gurukul and Ashrams were the main source of education.
- Education helped in observance of celibacy, control over sense and purity of life.
- Education was free for everyone.
- Students had great respect and devotion for their teachers
- The main focus of education was on practical knowledge

- Education was based on one on one teaching (Every teacher teaches one student) . The teacher emphasized to the all-round development of the students.
- Women were given a respect and high place in society.

SOURCES OF EDUCATION:

१. Gurukula :

These were the residential and main source of education. As we know by name that -GURU. Students reside there with gurus & the family. Students used to stay during the period of study. In the prevedic era there were very small places to study but later the Gurukul were extended to include a number of buildings. The primary duty of the student was to serve the teacher and his family and the gurus were treated their students like sons and the whole institution lived like a family.

२. Parishad:

These were the higher educational institutions where teachers used to teach different subjects. Students were admitted to get higher education in different subject.

३. Sammelan:

The meaning of sammelan means - 'getting together'. In these educational institutions discussion take place. Besides the discussion Sammelan used for some debates & competitions. Discussion always the part of examination system in Vedic Education system.

NEED OF VEDIC EDUCATION IN PRESENT ERA:

१- Ceremonies:

Different ceremonies were the chief characteristics of the Vedic period. The ceremonies as- Punsvan sanskar (before the birth of child) Vidyarambh Sanskar (At the time of schooling), Upnayan Sanskar (Ygyopavit) Samawartan Sanskar (farewell) etc. In the present time the role of students & these ceremonies are changed due to modernization of society. There is need of rebirth of these rituals & ceremonies. Vidyarambh Sanskar can inculcate values among the students. In Vedic education system, the teacher used to tell their students that how to lead a life of householder or Grihastha, how to serve of the society and nation as a whole. These are the part of samavartan ceremony. In the

present system institutions should imply this form to make their students strong for the survival from the circumstances.

२- Moral education:

The principles of Vedic education have been a source of inspiration to all educational system of the world. Now a days, a big problem of the schools & institutions is that how to tackle students and how to develop moral values among the students. There is need to impart moral education in the educational institutions. The teaching of Vedic education was to teach moral based stories and the epics. There should be some compulsory part for theory and practical to develop good habits among the students. Inculcation of moral can be developed, with the help of life sketches of great people, mantras and tales. There should be separate department of moral education in the institutions. The aim of Vedic education was character formation and develop a noble soul inside every human being. In the present society we are observing the failure of moral values. Immoral activities such as rape cases, corruption and indiscipline are increasing and disrespect of parents and teachers are decreasing in our society. There is to control over the senses and follow the ideals of Vedic ideology & knowledge by applying the methodology as - Dhyana, Chintan and meditation as well as by realization of self and liberation of soul. Moral education makes a man civilized and cultured. Vedic education emphasize on self-control which was realized by following the rules of the Brahmacharya ashram. Education in Vedic system was not merely a means of earning a living. It was the initiation of human souls for truth.

३-Discipline:

The root problem of the schools and the colleges in modern era is the attraction of a materialistic mode of life which causes indiscipline among the students. Undisciplined educational environment has been getting poisonous. Sense of discipline among students disappearing now a days. Today's students are not responsible about their duties. Student's unrest is the major cause of indiscipline in the society. Development of new technology and media outreach make the society in progress but on the other way it makes it harmful by using it for entertainment purpose only. The influence of materialistic life and the negligence of family and changing family environment may be a major cause of indiscipline in the society. In Vedic period teaching considered a holy duty and

showed the world good path. The motive of the Vedic education was to enable the pupils to face the realities of life and help in social welfare. Thinking over the taught values and perception through meditation were the accepted methods of mental development in Vedic period. Disciplined and controlled life is the real basis of moral education and moral education affects the conduct of the individual. Only verbal instruction cannot improve one's conduct. Therefore, observance is necessary for good conduct. There is today's need to develop moral values by adaptation of traditional methodologies & curriculum.

⌘- Curriculum:

Vedic education system was related to the realities of life. Emphasis was laid on pronunciation, grammar and to develop thinking process. In the curriculum both theoretical and practical aspects were correlated with each other. The main aim of education was to prepare the child for truthfulness. As we know that our present curriculum is based on the principle of all round development and prepare the student for the worldly life, which fulfils the need of the time but it is unable to achieve the spiritual aims. Vocational subjects have been included in the curriculum in order to vocationalize education. Vedic period education was not only for knowledge acquisition, main aim was the character formation. Education is that process, which makes a man self-reliant and self-less. The ancient schools followed the principle of education for self-motivation. Modern education lays stress upon preparing students for their future life. Modern education is more materialistic which has no ethical or spiritual knowledge. The curriculum not emphasized for developing logical thinking. Students want to live high but their thinking are very low. There is need to make some compulsory chapter of our holy epics as 'Ramayan' and 'Shrimad Bhagwatgita', which can develop positive attitude among the students. Conventional teaching methodologies based on chintan & manan should opt to prepare students in that manner, that they understand & apply the significance of mind over matter. There is need to make Vedic education available for every one's reach. Sanskrit and other classical languages should be the compulsory part of curriculum. During the Vedic period the curriculum included Ved Mantras, Vedic grammar, astronomy, logic, philosophy, ethics, knowledge of metrics, Arithmetic, geometry and knowledge of the four Veda. conduct, etc. Curriculum

was balanced for worldly & spiritual life. There is need to develop such type of curriculum to make students a good citizen.

५- Teacher-Pupil relations:

In the Vedic system of Education pupils were residing in the house of the Gurus. The moral fitness and unimpeachable conduct of the pupils were main criteria for admission in the domestic schools of the Gurus. The chief aim of teacher was all round development of the personality of the students. The teacher-taught relationship was very cordial and intimate and student regard his teacher as his father. In Vedic period there was very good kind of mutual understanding between teacher and students. The relationship between the teachers and pupil was regarded as filial in character. Self-study Swadhyaya was considered more important during that period. The sole responsibility of teacher was to develop self-esteem, self-confidence, self-restraint, and self-respect for all round development of personality. Due to various changes such as modernization, urbanization and globalization and because of the influence of western culture, ethical values are declining in Indian education system. It is common problem of schools and colleges. There is requirement to improve teacher-taught relationship to develop healthy academic environment.

CONCLUSION:

India is the mother of truth & spirituality. The greatest contribution of ancient Indian education is its search for the truth & knowledge of 'soul' and supreme soul (Atma & parmatma). Hindu learning centers were exist as Nalanda, Taxshila, Mithila and Nadia which were the centers of intellectual activities. The total curriculum of Vedic education system was framed for the all-round development of the students. Many features of Vedic Education System that may be followed by present education system, so that they can build good character and can develop philosophical thoughts and ideological mind-set of present generation. It should get an appropriate place in today's education system. The formation of schools should be peaceful and as per good leaning environment. In modern times, there is less possibility to lead a life full of control, but we should come up with the present environment and adopt the positivity from our ancient teaching-learning processes.

REFERENCES

- Balwaria, R., & Gupta, P. (२०१४). Historical Perspective of Teacher Education in India. International Educational E-Journal, ३ (१), ५४-६५. ...Google scholar
- Chaudhary, M.V. (२०१६). Education System and Sanskrit Literature of Vedic age. Research Guru, Volume-१० Issue-३, pp. २५-२८
- Choudhary, S. K. (२००८). Higher education in India: A socio-historical journey from ancient Period to २००६-०७. The Journal of Educational Enquiry, ८(१) ..Google Scholar
- Choube, S. P., (१९५९): History of Education in India, Allahabad: Ram Narain Lal and Beni Madho.
- Dutt, T. (२०१७): Education in Vedic and Post Vedic Era. Journal of National Development, Volume ३०, Number २, १५९-१६६
- Gajbhiye, C. K. (२०१७). Vedic Education in India. Indian Scholar -An International Multidisciplinary Research e-Journal, Vol.४ (II), December, pp.१-४.... Google scholar
- Joshua David Stone (२००३) : study of Vedic education
- Mefodeva, M. A., Fakhrudinova, A. V., Ukhimenko, A. N., & Valeeva, G. F. (२०१७). Historical perspectives of spiritual and moral education in India. Man in India, ९७(८), ७१-७७.....Google Scholar
- Kumari P. (२०१७) : Education system in Vedic Period . Journal of Emerging Technologies and Innovative Research (JETIR), September २०१७, Volume ४, Issue- १ Google Scholar
- Rather, Z.A. (२०१५): Relevance Of Vedic Ideals Of Education In The Modern Education System . IOSR Journal Of Humanities And Social Science ,Volume २०, Issue १, Ver.१ (Jan. २०१५), PP ३०-३६..... Google Scholar
- Rather , Z.A. & Upadehyaya , V.(२०१५). IOSR Journal Of Humanities And Social Science (IOSR-JHSS). Volume २०, Issue १२, Ver. III (Dec. २०१५) pp. ०९-१५
- Sri. Aurabindo (१९४८) : In his essay titled __Mahabharatha and Ramayana
- Sharma, R.N., Sharma R.K (१९९६). 'History of Education in India'. Atlantic- New Delhi
- Yadav, U. (२०१८) . A Comparative Study of Ancient & Present Education System. Education, Sustainability And Society, Vol.१(१) , Pp. ०१-०३

PROTAGONIZING THE ANTAGONISTS IN ANAND
NEELAKANTAN'S *ASURA: TALE OF THE VANQUISHED*
AND JAGMOHAN BHANVER'S *THE CURSE OF BRAHMA*

Anamika Saha, Dr.Hemalatha K.

Antagonists are complex characters and remained underrated for a longer period. Many experimental characters would be found with antagonists in every art form. But in most of the cases, one idea is common: antagonists should elevate the protagonist by becoming the cause for the confusion and conflict in the latter's life. Most of the times the flawed characteristics are assigned to the antagonist, making the readers loathe and irritate it. But as there are infinite possibilities to experiment with every form of character, many writers have attempted to bring the antagonists to the limelight by changing the basic techniques of perception. With some of the modern authors, the experimentation with the untouched characters is in vogue. To understand the technique of this analysis, this paper chose the characters Ravana of *Asura: Tale of the Vanquished* and Amartya Kalyanesu of *The Curse of Brahma*.

Written in autobiographical form, the text *Asura* begins with the end, the first line of the text states "tomorrow is my funeral" (Neelakantan,१). The beginning is concentrated on presenting the multiple folds at the same time. The end of the 'mainstream' is the beginning of the unseen and unheard; the end of preaching is the beginning of the same. As Ravana thinks while dying "I didn't know it then, but I had been born to fulfil someone else's destiny. To allow someone else to become God."(Neelakantan,१५)

The Curse of Brahma begins with a prologue in which the protagonist has been introduced along with his disciples. The prologue is concentrated; along with the partial unveiling of the plot, it also unveils the multiplicity of the dimensions of the plot of this volume. The terror of the ferocious creatures was evident revealing the fact that the Dark Lord is probably more than a monster; the prologue has painted the picture that he intends to destroy all the plans of the Gods for the sake of his revenge from Brahma: "*Brahma, you shall pay for this*

and so shall every deva in Swarglok, he vowed to himself. I will have my revenge when your treasured Mrityulok is mine..." (Bhanver, xi)

In both the texts, the focus is the same: *protagonizing* the hero of the texts who are antagonists in the mainstream. The central characters, Amartya Kalyanesu in Jagmohan Bhanver's *The Curse of Brahma* and Ravana of Anand Neelakanthan's *Asura: Tale of the Vanquished* is carefully chosen from mythology to bring alternative perspectives of Rama and Krishna-*leela*-s; to redefine Evil. Discernment is a complex procedure; it demands scooping every possible angle of the scenario. But unfortunately, it is impossible to accumulate everything from a single point and that provides a vast space for multiple perspectives and hence, one finds new voices every single time of active judgment. In these two fictions, the central characters are narrating their side of the story; but in the meantime, they are developing another critical vision- *protagonizing* antagonism. Multiple similarities have been traced between Ravana and Kalyanesu to understand the pattern of *protagonizing* the Indian mythical antagonists.

As the exposition of the texts reveal, the structure of the text is similar: beginning from the present and advocating appropriateness of the current actions from flashbacks. In case of *The Curse of Brahma*, Amartya is planning to destroy Mrityulok whereas Neelakanthan's Ravana is dying in the battlefield. The former is the beginning of the end and the latter is the conclusion - the end. Without denying the existence of what already exists, Ravana is presenting the harsh truth of glory that comes with a cost. This was the moment of his *anagnorisis* to the purpose of his life, dangling between truth and lie and life and death simultaneously. He is narrating his entire life while he was dying as he could see his life in front of his eyes. Somewhere, one can also say that he is justifying his course of actions and decision before he is silenced forever. In addition, there may be a possibility of proving himself as the epitome of the one who not only struggled but won the battle- even though the world will perceive him as the evil and as Radha Viswanath stated in her fiction Ravana- Leela,

Nine heads shook together, rejecting Darshagreeve's postulations. 'you are making history, Dashagreeva. You will be remembered as the great one who secured a homeland for rakshasas from the face of the earth. If that is

what you want, so be it, ' it was as if his heads had exhausted all their arguments against the war. (Vishwanath, २३६-२३७)

Fate is something that every religion or philosophy nourishes to fill the void within chronology. Here, Ravana too, is considering fate to play against him. Fate, as is so named, is the force that makes any structure function. Ravana's failure was decided even before he was born, so was Amartya. It was not limited to the void we call 'fate'; it was more than that. For the sake of a larger cause to maintain the status quo and for the establishment of a particular ideology, Ravana was necessary to exist and to fail. Again, like Amartya Kalyanesu, Ravana too was a scapegoat to be destroyed. Ravana was etching the story of Rama and Amartya of Krishna. Amartya was wronged by Brahma. Out of anger, Brahma did not think for once before banishing Amartya to Paatallok. This gap has turned Amartya towards vengeance and hence, branded as evil. With Ravana too, the gap worked to brand him as an evil. Sita was Ravana's lost daughter; the truth that was never revealed. As a result, he was seared as the one who stole Rama's wife, instigated by desire. The agenda was linear, presented symbolically.

The laughing of baby Krishna in Kansa's dream regarding his death in *The Curse of Brahma* is the mockery; mockery on the humans to think that they are free. Here, this illusion of freedom is twofold - in *Mrityulok* and in *Patallok*. Amartya Kalyanesu believes that his plans are independent of the 'plans' that the Gods have designed. He believes that strongly as he knows about the power of Bal and Atibal and *all* the knowledge of the universe. Whatever incidents were happening in Mrityulok was controlled by Amartya, who in turn was controlled by the Gods. When Brahma showed his concern of Amartya turning the Mrityulok to wasteland, Shiva replied:

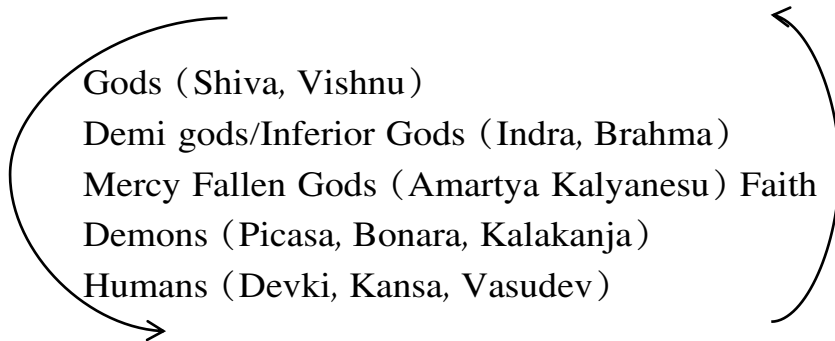
"It won't happen,' Shiva cut him short.

'It What?' Brahma stared uncomprehendingly at him.

'It won't happen,' Shiva restricted. 'Amartya will not be able to infuse the demons with the force of Brahma.' (Bhanver, ९४)

With this illusion of freedom, we see how hierarchy has been set up; the illusion of independence as well as the hierarchy goes hand in hand. The relation

becomes evidently complex when the power structures loco mote from below to the above in the name of faith.



Brahma has been included under the category of Inferior Gods because Brahma lacks knowledge as compared to Shiva and Vishnu. This has been presented in the text too as Brahma had least tolerance and caused the fall of Amartya. Also, though included in the Trinity as the creator, it was Devi who is actually the creator. As Doniger puts it,

Although the Hindu, and Indologists, often describe a trinity of Gods (Brahma the creator, Vishnu the preserver and Shiva the destroyer), in fact Brahma is hardly worshiped at all, and the other two great gods, Vishnu and Shiva, are each both creators and destroyers, as is the other great deity who forms the real quasi-trinity, Devi, the goddess. (Doniger, 22)

This inclusion of Devi is evident in the festival that Hindus celebrate called Navaratri. This festival celebrates Devi as the creator: the one with *garbh* (womb), unlike Brahma who was cursed not to be worshipped due to his uncontrollable temperament.

Similarly, Ravana too had thought that he will win; throughout his journey one could see his intellect and the boons he received from the gods. It is said that no Asura is as intellectually sound as Ravana. But like Kalyanesu, Ravana too lived in the illusion which he accepted in the battlefield just before his death.

Ravana is considered to be an Asura who gifted Lanka its golden time; he was the one to conclude the same period. He was complete as a whole when it comes to achievement. Yet, to balance this, a strong void has to be created; and this was created by Sita. In this fiction Ravana has been showcased as the father of Sita, whom he had lost with his lover Vedavati. On the other hand in the

mainstream *ShriRamcharitmanas*, Sita was just a medium for the revenge of Surpanakha, Ravana's sister. The wall in this text was clear; it has built the character Ravana as a villain from the beginning without providing a proper gap for the readers to judge before the practice of 'demythologization' arrived.

Similarly, Amartya was the favourite student of Brahma. He was perfect; so much so that he received the position of Maharishi along with the knowledge of *Bal* and *Atibal*. To prove his power, the Trinity took multiple tests during Amartya's initiation ceremony. After the attack of all the Devas, Amartya felt nothing, to which Vishnu responded, "Vishnu laughed. 'Amartya, do you know that as of this moment you are equal in strength and ability to Vashishtha and Vishwamitra- the two greatest *brahmarishi*-s of all time'" (Bhanver, १४०)

With such techniques of initial glorification, the generally accepted traits of being good, intelligent and powerful are weaved in the chronology of characters' development. Ravana was presented as an ambitious and intelligent character; Amartya as loyal and devoted. Characters with goodness wronged by the society develop the emotion of sympathy towards the character which is necessary for the protagonized antagonist to succeed. As a consequence, this contributes to the development of the plot providing a humongous space for flexibility of the perceptions.

Reading both the texts will force to rethink about the accepted notion of good and evil; both texts are the testimony of goodness turned evil. Power play worked in both the texts: Ravana dreamt of becoming the king of Lanka by uncrowning his half- brother, Kuber who was a corrupt king of Lanka. Ravana gifted Lanka the glorious period of Asura history. He was an exceptional ruler proving all the base emotions as the strongest and named himself *Dasamukha*. He, instead of abandoning what makes him Ravana, accepted all his emotions, namely, anger, pride, vanity, fear, selfishness, love, ambition, envy, sadness and happiness and lived his entire glorious life based on these emotions, creating the most recognized villain of Hindu mythology. Similarly, Amartya was a devoted student of Brahma. He could not listen to anything against his guru; his younger brothers used to mock at him but he was always humble. He had only one motto- to learn. He was naïve, unknown of the dark. He too, like Ravana, achieved exceptional excellences as a *brahmarishi*. The trinity had elevated him so much so that he preferred to inculcate goodness more and more. "Brahma read

Indra's mind and smiled, 'His looks don't do him justice, Indra. His heart is pure and his potential limitless. This is the only reason he deserves to be a deva... and more.' (Neelakantan, १२८) His naivety cost him *Paatalloka*, burning forever. In both the cases, the power is already unbalanced; neutrality is an illusion. In both the texts there is an undertone from the exposition- these are the tales of the vanquished; Vanquished through treachery and deceit. Ravana was cheated by Vibhishana who took the side of Rama to win Lanka. Unfortunately, *The Curse of Brahma* is the first text of the Krishna Trilogy and still waiting for the next segment. But in this text too, Amartya's fall was due to deceit by Indra and Brahma's rage.

Amartya has been used as a specimen; the Devas have been told by Vishnu to attack simultaneously to demonstrate the power Amartya as Brahmarishi possesses. With the success leaving everyone with awe and blinded by the brilliance of the achievement glorifying and celebrating to the extent that everyone including Amartya forgets the fact that what is given can be taken away too. This celebration of initiation is the presentation of the 'giving' and cursing by Brahma and throwing Amartya to *Paatallok* is the presentation of 'taking away'. Calling Amartya an antagonist is a lot more problematic here; he is a vessel for the execution. He does not hold any power on his own, rest is nothing but illusion. To make it clearer let us focus on Vishnu's reaction during the celebration:

"Vishnu's face was a mask of hidden feelings. He disagreed with Shiva's assessment ... But Vishnu decided to keep his reservations to himself. He didn't want to create any more discord during the event than had already happened owing to Indra's unexpected behaviour." (Bhanver, १३४)

Vishnu looked at Brahma and Amartya from a distance. But his mind was not on the affectionate expression on Brahma's face as he blessed his pupil. Vishnu's entire attention was riveted on the last thing Amartya had said to Brahma - 'The thought of needing to protect myself against you never even entered my mind.' And Vishnu shuddered inwardly at the implication of that sentence. He knew in that moment what even Shiva had not guessed as yet. Amartya's blind trust in his guru would one day prove fatal for him; and what was worse, it would lead to events that

might even bring about the destruction of the three worlds. He only hoped his fears would prove unfounded. (Bhanver, १४६-४७)

To prove this point to a concrete level, the most common weapon that every superior at power use is the device of comparison. Amartya has been compared with *Brahmrishi*-s Vashishta and Vishwamitra. Comparisons are degrading yet we present as an apt formula to gauge one's position to elevate. Amartya has been gloriously elevated setting up the standard with *exotification* through comparison.

Vishnu could foresee the future that made him shudder; Mahabali too shuddered after listening to Ravana's answers to the questions regarding his education. "“What have I unleashed?!” the crazy old man kept wailing.” (Neelakantan, ४२) Mahabali, who ruled for २० years before he was defeated by the Devas, stated, "I do not know whether you are the promise of our miserable people or their curse. You could be both and many things beyond." (Neelakantan, २९)

This statement carries the weight of prediction. Mahabali's experience has calculated Ravana's potency at his young age, establishing him to be wise with proof. This statement has set an influence on the reader's mind by guiding them in the direction of the text. Predictions are not limited to Mahabali's statement; it is repeated through various characters like Ravana's brother Kumbhakaran and the servant Bhadra. This technique is similar to the epics; repetition is an aid to settle the idea into the minds of the reader, exposing the agenda to present Ravana what he was not in the mainstream; the part that has not been voiced since centuries.

This repetition was common too in *The Curse of Brahma*. Amartya's goodness was celebrated multiple times- either by adoring or by envy. Even after his fall, he was not accepted as evil by Shiva or Vishnu.

Consequently, we could see how the antagonists were controlled by the agenda of status quo and their fall is pre-destined. These creations are meant to be destroyed- destroyed as evil. To assign this evil physically, the characters are designed in such a way that they are not appreciated as beauty- Amartya was physically attractive only till he was good. As soon as he fell and turned to the dark, becoming a villain, he was unbearable. He was burned and faceless dealing

with constant feeling of burn. On the other hand, an Asura was never considered conventionally to be physically attractive. Though Ravana was not dark skinned –but even then, he was never considered to be attractive because of him being an Asura and the adjectives used repeatedly as evil. Here, the politics of racism prevails– what to consider physically attractive and what is not. Ravana's family, especially his sister Surpanakha has always been called ugly, which is assigning to evil. This binary is deeply rooted among the readers and the authors; as a result, the mind designs the idea of beauty and the beast.

With conventions that has been accepted widely against the antagonists, the new authors are attempting to break the convention of typecasting as well as using the flexibility towards a direction that has been used since ages, but received a new and independent shape in modern India with greater pliability. Ravana and Amartya are the characters who cannot measure their lives “with coffee spoons”, as T.S. Eliot quoted in his “The Love Song of J. Alfred Prufrock”, and yet they did.

WORKS CITED LIST:

1. Abrams, M.H. and Geoffrey Galt Harpham. *A Glossary of Literary Terms*. 2nd ed. Delhi: Cengage Learning India Private Limited. 2016.
2. Bakhtin, Mikhail. *Discourse in the Novel*. n.p.: n.d.
3. Bhanver, Jagmohan. *The Curse of Brahma*. New Delhi: Rupa Publications. 2014.
4. Derrida, Jacques. *Structure, Sign and Play in the Discourse of the Human Sciences*. n.p.: n.d.
5. Doniger, Wendy. *On Hinduism*. New Delhi: Aleph Book Company. 2013.
6. Frye, Northrop. *Myth, Fiction and Displacement*. n.p.: n.d.
7. Neelakantan, Anand. *Asura: Tale of the Vanquished*. Mumbai: Platinum Press. 2014.
8. Viswanath, Radha. *Ravana Leela: The One Who Forced God to Become Human*. New Delhi: Rupa Publications. 2019.

लेखक परिचय

१. प्रो० सोमदेव शतांशु, संस्कृत-विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय) हरिद्वार, दूरभाष- ९८३७६४७४२७
२. प्रो० सुधीरकुमार, संकायाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययनसंस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, Email- sarya86@gmail.com
३. प्रो० ब्रह्मदेवः, संस्कृत-विभागः, गुरुकुल-काङ्गड़ी-समविश्वविद्यालयः, हरिद्वारम् दूरभाषः - ९४१२३०७१२३, ईमेल - brahmdev@gkv.ac.in
४. प्रो. व्रजेश कुमार पाण्डेय, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययनसंस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली ११००६७ एवं डॉ. विवेक कुमार शुक्ल
५. प्रो० प्रभात कुमार, प्रोफेसर, प्रा भा. इति. सं एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड एवं कल्पना देवी शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड devikalpna09@gmail.com
६. डॉ. अभिमन्यु, एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी -२२१००५ abhimanyu.du@gmail.com
७. डॉ. कर्मवीर आर्य, प्रोफेसर संस्कृत विभाग, हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद
८. डॉ. अवनीश कुमार, सह-आचार्य, संस्कृत विभाग, हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-११०००७, E Mail : avnishkumar08@gmail.com
९. प्रो. विनय कुमार, प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार एवं डॉ.मौहरसिंह असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार। Email : drmsingh95@gmail.com
१०. डॉ. सरस्वती, एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जाकिर हुसैन दिल्ली कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, दूरभाष- ९७१७७४१७६५, ईमेल- saraswatizhdc@gmail.com
११. डॉ. सुशील कुमारी, सहायक आचार्या, संस्कृत विभाग, मैत्रेयी महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय), चाणक्यपुरी, दिल्ली-११००२१

१२. श्री प्रभात कुमार, सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, डी. ए. वी. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बुलन्दशहर
१३. डॉ. संदीप कुमार उपाध्याय, डी.ए.वी पब्लिक स्कूल राजेन्द्र नगर साहिबाबाद, गाजियाबाद उत्तर प्रदेश, E-Mail : sandeepdoc१४@gmail.com दूरभाष- ९८९९८७५१३०
१४. श्री सचिन, शोधछात्रसंस्कृतविभाग, दि. वि. दिल्ली , ईमेल - grsachinb@gmail.com
१५. डॉ. विजयलक्ष्मी:, संस्कृतविभाग: एस. डी. कालेज मुजफ्फरनगरम्। दूरभाष- ९४५६८८८१४०
१६. डॉ. रवीन्द्रकुमार: सहायकाचार्य:, व्याकरणविभाग:, श्रीभगवानदासादर्शसंस्कृतमहाविद्यालय:, हरिद्वारम्, दूरभाष-
१७. डॉ० वेदव्रत:, संस्कृत-विभाग:, गुरुकुल-काङ्गडी (समवविश्वविद्यालय:) हरिद्वारम् दूरभाष-
१८. Prof. Ambuj Sharma, Department of English, Gurukul Kangri (Deemed to be University), Haridwar, (Uttarakhand) and Dr. Parnav Kumar Vaidik Gmail- parnaveng@gmail.com
१९. Dr. Shyam Lata Juyal, Professor, Department of Psychology, K.G.C., Gurukul Kangri (Deemed to be University), Haridwar, (Uttarakhand), India. Mobile No. ७८३०२११०२२ E-Mail : shyam.latajuyal@gmail.com
२०. Dr. Usha Pathak, Associate Professor, Department of Teacher Education, D.A.V. (P.G.) College Dehradun-२४८००१, Uttarakhand and Ashmita Badoni, Content Writer, Student, M.A. Folklore and Cultural Studies, Uttarakhand
२१. Dr.Vineeta Chaudhary, Associate Professor, D.W.T. College, Dehradun; E-Mail : drvineeta१७३@gmail.com
२२. Anamika Saha and Dr.Hemalatha K. Department of English, KGC, Gurukul Kangri (Deemed to be University), Dehradun, (Uttarakhand)